चित्रकला और संस्कृत साहित्य

चित्रकला
और
संस्कृत साहित्य

डॉ० मधूलिका अग्रवाल
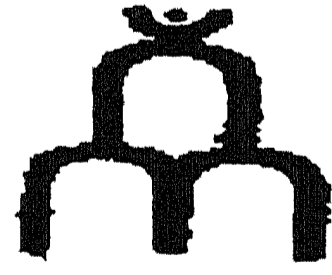
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

प्रकाशक	:	*डॉ० अनिल कुमार* [illegible]
		[illegible]
		हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
		कमला नेहरू रोड, इला[illegible]
प्रतियाँ	:	५००
मूल्य	:	तीन सौ रुपये मात्र
संस्करण	:	**प्रथम**, २००२
आवरण एवं अलंकरण	:	*श्री राधेश्याम अग्रवाल*
		इम्पैक्ट क्रियेटिव सर्विस
		सिविल लाइन्स, इलाहाबाद
मुद्रक	:	माधो प्रिण्टर्स,
		२४२, पुराना बैहराना, इलाहाबाद

संस्कृत वाङ्‌मय

के

सारस्वत - समर्चक

आचार्य प्रवर डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल

को

सादर समर्पित

डॉ० मधूलिका अग्रवाल
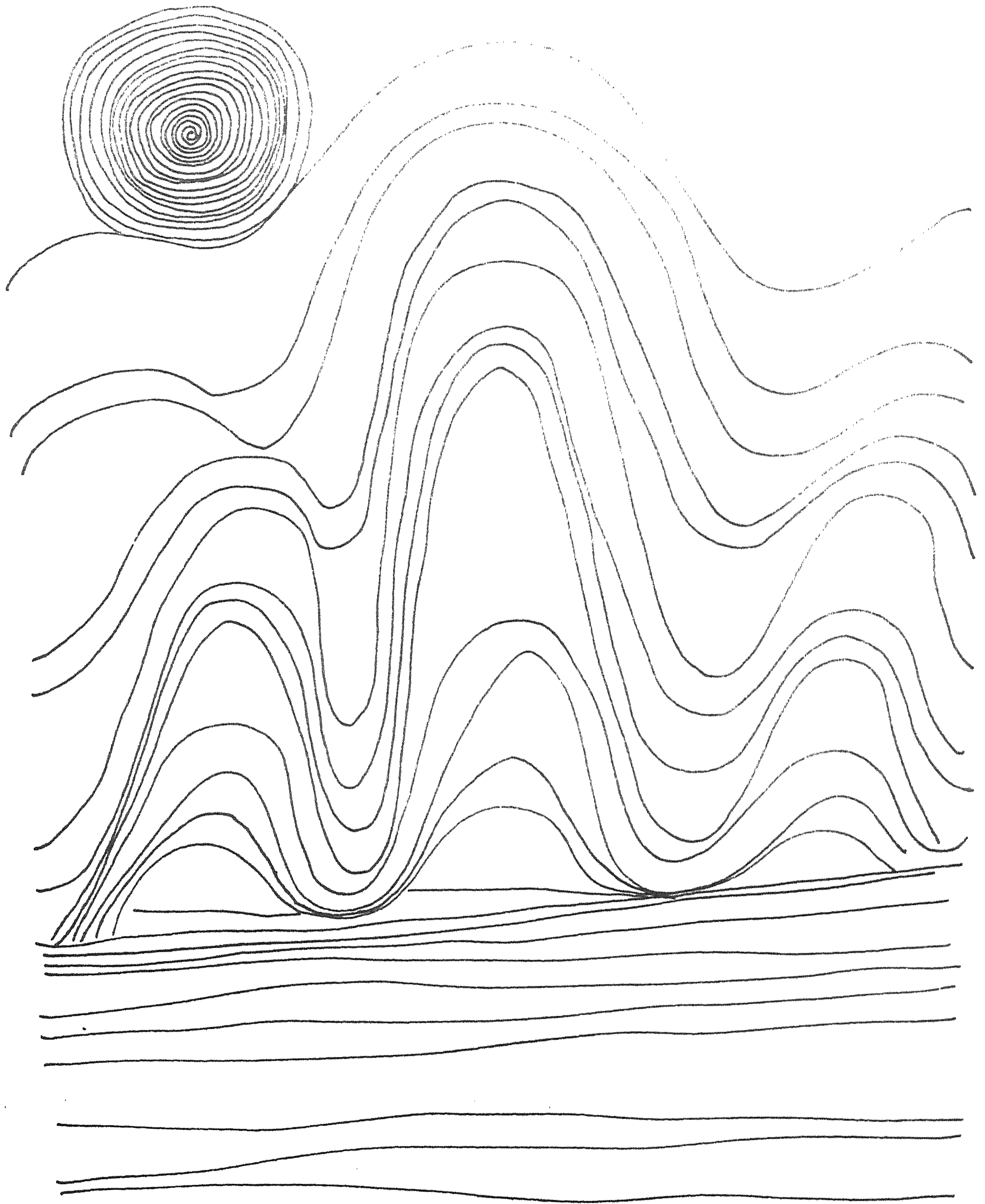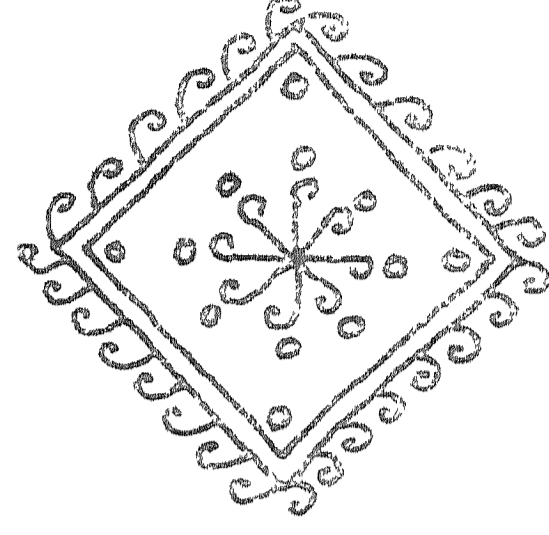
प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी साहित्य के सभी अनुशासनों के उत्कृष्ट कृतित्व के प्रकाशन की दृष्टि से विगत पचहत्तर वर्षों से संलग्न है। सन् १९३१ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने प्रख्यात कला-समीक्षक श्री नन्दलाल चमनलाल मेहता का भाषण आयोजित किया था। यह भाषण 'भारतीय चित्रकला' शीर्षक से सन् १९३३ में एकेडेमी ने प्रकाशित भी किया था। इसमें १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १९वीं शताब्दी के अन्त तक की भारतीय चित्रकला के विकास का आधिकारिक विवरण सम्मिलित है। सन् १९३६ में डॉ० गुलाम गजदावी का 'दक्खिनी आर्ट' शीर्षक ग्रंथ उर्दू में प्रकाशित हुआ था।

'भारतीय संस्कृति में ललित कला का महत्व' विषय पर एक भाषण प्रख्यात विद्वान् कला-अध्येता ठाकुर जयदेव सिंह ने ३-४ फरवरी, १९८४ को हिन्दुस्तानी एकेडेमी में दिया था जो १९८५ में प्रकाशित हो चुका है।

विगत अनेक दशकों में भारतीय कला के इतिहास और उसकी विभिन्न शैलियों पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। कला के संबंध में ललित कला अकादमी तथा अन्यान्य संस्थाएं उत्कृष्ट ग्रंथ और पत्रिकाएं प्रकाशित कर रही हैं। अनेक कलासंग्रहों ने चित्रों के चित्राधार (एलबम) भी प्रकाशित किये हैं। एक प्रकार से कलाओं के प्रति अभिरुचि बढ़ी है।

काव्य और कला के अन्तर्संबंधों के विवेचन का कार्य भी प्रचुर परिमाण में हुआ है। भारतीय कलाओं के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन संस्कृत के ग्रन्थों में इतस्वतः प्राप्त होता है। संस्कृत के लौकिक काव्यों में ऐसे अनेक स्थल और संकेत हैं जिनसे चित्र कर्म और कला की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से आह्लादकारी रूप में उद्भासित हुई है। डॉ० मधूलिका अग्रवाल ने ऐसे काव्यों का गहन परिशीलन करके 'चित्रकला और संस्कृत साहित्य' शीर्षक शोधात्मक कृति का प्रणयन किया है। इस कार्य के लिए उन्हें संस्कृत काव्य के मर्मी विद्वान् डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल का पदे-पदे साहाय्य प्राप्त हुआ है।

डॉ० शिवशंकर त्रिपाठी ने ग्रंथ के लिए गीत-गोविन्द, चौरपंचाशिका, अभिज्ञान-शाकुंतल के चित्र सुलभ कराये हैं, वे इसके लिए धन्यवाद के पात्र हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ०

कमलेशदत्त त्रिपाठी के 'अमरुशतकम्' के काव्यानुवाद में प्रयुक्त प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम से प्राप्त चित्रों की प्रतिकृतियों को भी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। अतएव इनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

ग्रंथ को सुसज्जित रूप देने में प्रयाग के प्रख्यात कलाकार इम्पैक्ट क्रियेटिव सर्विसेज के श्री राधेश्याम अग्रवाल का बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुआ है। सुन्दर आवरण और रेखांकनों के माध्यम से इस ग्रंथ को जो चारुता उन्होंने प्रदान की है, उसके लिए हम आभारी हैं। आवरण के लिए रसमंजरी का चित्र प्रयाग संग्रहालय के श्री रंजन शुक्ल तथा छायाकार श्री संजय के तथा चौरपंचाशिका का चित्र डॉ॰ शिवशंकर त्रिपाठी के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं, इनके प्रति हम आभारी हैं। माधो प्रिन्टर्स के श्री सौरभ बिसारिया ने ग्रंथ-मुद्रण की दृष्टि से जो तत्परता प्रकट की है, वह श्लाघनीय है। ग्रंथ की सुन्दर प्रस्तुति के लिए एकेडेमी की प्रकाशन अधिकारी श्रीमती ज्योतिर्मयी की तत्परता उल्लेखनीय है। श्री रमेशकुमार उपाध्याय जी ने बड़ी तत्परता और लगन से इस ग्रन्थ को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने में जो सहयोग दिया है, उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

विश्वास है, काव्य और कला के मूल उत्स और उसके विस्तार की ललित गाथा पर आधारित यह ग्रंथ काव्यास्वादकों एवं कलाप्रेमियों को रुचेगा।

अनिल कुमार सिंह
सचिव

होलिकोत्सव
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
७५वीं जयंती
२९ मार्च २००२ ईसवी
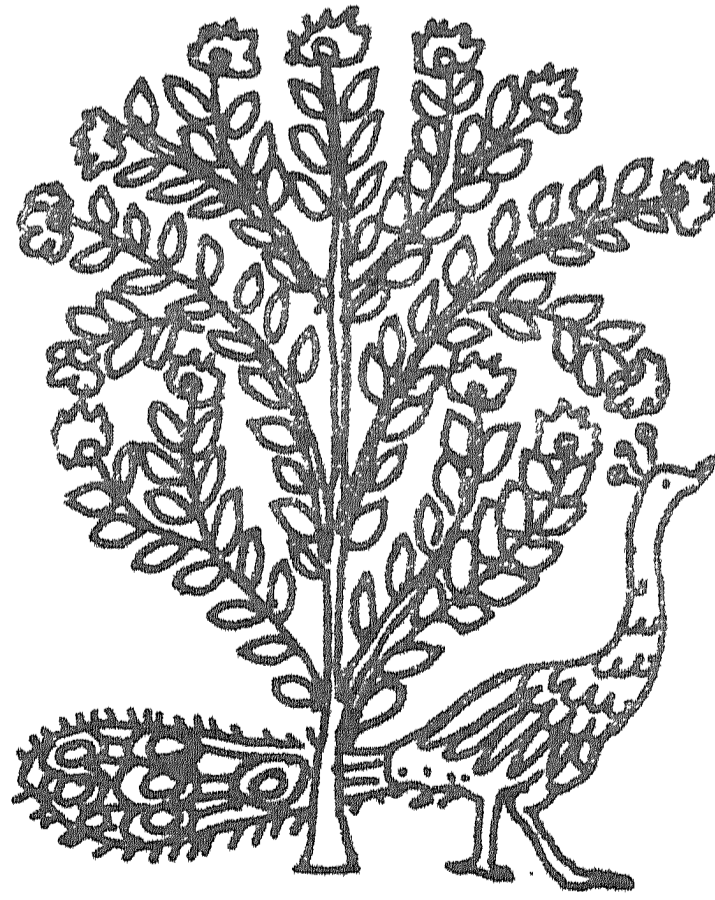
राष्ट्रपति-सम्मानित
आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल,
डी० लिट्०,
(भू० पू० प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

१२-ए, दरभंगा कैसिल कम्पाउण्ड,
इलाहाबाद-२११००२
फोन - ४६१९१२, ४६०६२८

शुभाशंसा

किसी वस्तु को देखकर चित्त की जो आनन्दमयी अनुभूति होती है, वही सौन्दर्यानुभूति कहलाती है। ऐसी अनुभूति चित्त की शुद्ध सात्त्विक अवस्था में ही होती है जब वह रजस् एवं तमस् से उन्मुक्त हो। ऐसे सत्त्वानिविष्ट मन की अभिव्यक्ति ही कला का रूप धारण करती है जो वस्तुतः उस अनुभूत आनन्द की सदृश अभिव्यक्ति मात्र है। चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, संगीत, काव्य, सभी में कलाकार अपने उसी अनुभूत आनन्द को विभिन्न साधनों से मूर्त रूप देना चाहता है। अतः सभी में रमणीयता रहती ही है। यद्यपि रमणीयार्थ प्रतिपादकता केवल काव्य में मानी गयी है, किन्तु अन्य कलाओं में इसका निषेध तो नहीं किया गया है। कला की यह श्रेष्ठता ही संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रमाण बनती है।

यद्यपि संस्कृत में काव्य को चौंसठ कलाओं में नहीं गिना गया है - उनमें चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि की ही गणना है, किन्तु काव्य में इन सभी कलाओं का भरपूर उपयोग किया गया है। संस्कृत के कवियों का हृदय कला विलास का तथा बुद्धि व्युत्पत्ति विलास का विशाल प्राङ्गण होता था। वे सभी कलाओं एवं सभी विधाओं तथा सभी प्रकार के ज्ञानों का अपनी काव्यकृति में उपयोग करते थे। कविगुरु कालिदास ने अपनी रचनाओं में विशेष रूप से मेघदूत, कुमारसंभव एवं मालविकाग्निमित्र तथा शाकुन्तल में चित्र एवं संगीत का अद्भुत उपयोग किया है। नैषध महाकाव्य की कथा-प्रसृति में चित्रकला का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अस्तु,

श्रीमती मधूलिका अग्रवाल पर अपने पारिवारिक परिवेश में ही चित्रकला का संस्कार पड़ा था। संस्कृत में परास्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उन्होंने संस्कृत साहित्य में चित्रकला पर अत्यन्त श्रम एवं विवेक के साथ अपना अध्ययन किया। उसी का यह मूर्त रूप है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह चित्रकलाप्रेमियों को एक पुण्य क्षेत्र प्रस्तुत करेगा जिससे इस कला की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जायेगी। मैं इसकी विदुषी लेखिका को इस महान् सारस्वतयाग की सफल पूर्णता के लिए साधुवाद देता हूँ एवं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

२४-१-२००२

चण्डिका प्रसाद शुक्ल
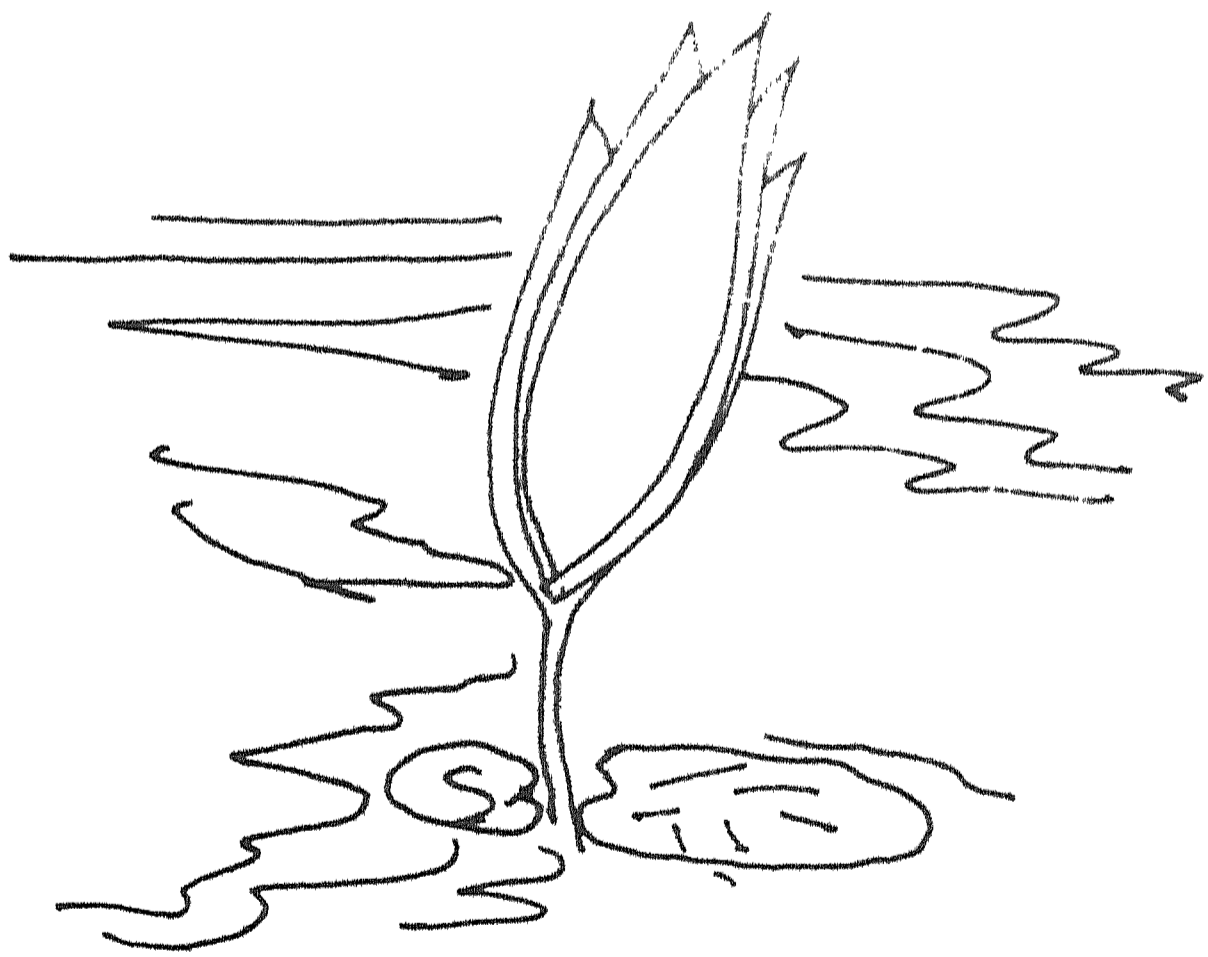
प्राक्कथन

कला के ही विविध रूप सृष्टि की सनातन आधार-भूमि हैं। सृष्टि की रचना का मूल कला ने ही जन्माया। अछोर प्रकृति के विभिन्न परिदृश्य देखकर जब हमारा हृदय आह्लाद का अनुभव करता है तो हम उसके कर्ता की निपुणता पर मुग्ध हो उठते हैं। इस मुग्धता का आधार होता है चाक्षुष-राग। यही चाक्षुष-राग सौन्दर्य-दृष्टि बनकर जब प्रकटता है तो हम प्रत्येक उपकरण में प्रकृति-नटी के अद्‌भुत लास को सौन्दर्य-सृष्टि की संज्ञा दे बैठते हैं। यह सौंदर्य-सृष्टि विधाता की आदि कला है। इसी कला के विस्तार पर विस्मयाकृष्ट होकर विधाता, उस सृष्टिकर्ता ने विचार-मन्थनोपरान्त जीवन को अवतरित किया था। उस जीवन के ही उपभोग और उपयोग-हेतु सौंदर्य-सृष्टि के अपार सम्भार इस प्रकृति को निश्चित कर दिया था। साथ ही, यह निर्देश भी दिया कि इस अपार सम्पदा का उपयोग करने के लिए तुमको अधिकारी बना रहा हूँ। कहीं इसका दुष्परिणाम न भुगतना पड़े, इसलिए तुम्हें एक 'संगिनी' भी दे रहा हूँ, वह है कला। यह कला तुम्हारी चिरसंगिनी रूप सहायिका रहेगी। एक अमोघ शक्ति है यह। यह तुम्हारे लिए प्रेरणा-स्रोत होगी। तुम इसकी रक्षा करना, कभी इसकी अवमानना न हो। अस्तु ? जीवन अपने साथ कलारूप एक संगिनी लेकर ही धरती पर अवतरित हुआ।

स्पष्ट है कि कला मानवीय गुणों के सुन्दरतम और मंगलमय सत्यस्वरूप का अभिज्ञान है। कला का विस्तार असीम है – इसकी परिधि में अनादि तथा अनन्त जीवन के विकास, ह्रास, लास, विलास, उपहास का इतिहास समाहित है। कला-निर्मिति में उत्थान-पतन, जय-अजय, शान्ति-अशान्ति के रसमय परिदृश्य अंकित होते हैं। सत्य यह है कि इसी रसमयता के कारण मानव-मन सौन्दर्योन्मुखी बना। यही सौन्दर्योन्मुखता उसकी जीवन्तता है। उस जीवन्तता के सुघर दर्शन हमें प्रातः-सायं, प्राची-प्रतीची दिग्वधू के मधु-मदिर स्मित में सनातन काल से होता आ रहा है। कला ही मानव की जीवन्तता है।

इसी जीवन्तता का चित्रण कलाकार चित्रों में, शिल्पों में, रचनाओं में, तूलिका के, छेनी के और कलम के सहयोग से शाश्वत करता आ रहा है। कला की ही एक विधा काव्य कला है। काव्य का कलाकार भी इसी जीवन्तता की अनुभूति को रसमय वाणी से मुखर करता है। उस प्रक्रिया में वह कभी-कभी अनचाहे ही चित्र, शिल्प आदि कोटि की कला को अपनी रस-प्रक्रिया को अधिकाधिक प्रभावी बनाने के लिए वाणी में आबद्ध कर बैठता है। संस्कृत-साहित्य का कवि अपनी वाणी को रसमयता रूप जीवन्तता प्रदान करने के लिए कला समग्र को किस सीमा तक ग्रहण कर सका है।

*चित्रकला विषय का विशेष रूप से ग्रहण का कारण मन में उत्पन्न होने वाले रति से है। संस्कृत साहित्य के पात्रों में चित्र के द्वारा ही रति की उत्पत्ति बतलाई गयी है। रति से ही रस की व्युत्पत्ति होती है भर्तृहरि ने अपने 'शृंगार शतक' में स्त्री को सौन्दर्य का परम प्रतीक माना है। स्त्री का सम्पूर्ण शरीर कलाओं की समष्टि है, उसमें संगीत की मधुर ध्वनि और चित्र के रंग, रेखाओं का मधुर विन्यास होता है। उसकी गति में नृत्य की गति है, वचनों में साहित्य का प्राण है जिसे हम रस कहते हैं – '*उर्वशीं सृजतः पूर्वं चित्रसूत्रं नृपात्मज।*' चित्र सूत्रकार ने सर्वप्रथम 'उर्वशी' का सृजन किया। नायिका के लिए आये विशेषण कमलनाल, मृगनयनी, गजगामिनी, कुचकलश इत्यादि चित्रकार की तूलिका को स्वरूप प्रदान करते हैं – '*यौवने सत्वजाः स्त्रीणामलंकारस्तु विंशतिः*'। सात्त्विक प्रवृत्तिवाली नायिका का यौवन ही अपने आप में शृंगार है। नव यौवन के आने पर शरीर के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य शोभा, आकर्षण और प्रत्याकर्षण ने ही संस्कृत साहित्य के रचनाकारों को विषय प्रदान किया। गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी काव्य कला का*

प्रयोजन 'कान्ता सम्मित उपदेश' ही माना है। आध्यात्मिक और शारीरिक वेदनाओं की तृप्ति करने में समर्थ स्त्री-शरीर ही शोभाकान्ति, समता, लावण्य, सुन्दरता आदि का प्रतीक है। सौन्दर्य का उद्देश्य पापवृत्ति के लिए नहीं है, वह तो जीवन में सदाचार के अभ्युदय के लिए है – **'यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये, न रूपमित्य व्यभिचारी तद्वचन।'**

महामति वात्स्यायन ने कामसूत्र में विद्या का चौथे स्थान में परिगणन किया, किन्तु विष्णु धर्मोत्तर में चित्रकला को सर्वश्रेष्ठ कला कहा गया है। चित्रकला से मनुष्य की आत्मा दिव्य हो जाती है। साहित्य ने अपनी आह्लादक वाणी से तथा चित्रकार ने वर्णिका और वर्तिका से स्त्री-स्वरूप को दिव्यता प्रदान की।

कविगुरु कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में कहा है – दिव्यांगना में मानुषी के समूचे स्वरूप की आप सम्भावना न करें। उनके चरित्र प्रभाववश रहस्य होते हैं – **'मा भवान् सर्व मानुषी धर्म दिव्यासु संभावयतु। प्रभावनि गूढ़ानि तासा चरितानि।'**

कला और प्रकृति के तादात्म्य से प्रातिभ रचनाकारों ने काव्य और कला का जो स्वरूप हमारे सम्मुख रखा है, उसका अध्ययन और अध्यापन करने के कारण एक ऐसे ग्रंथ के प्रणयन का भाव उत्पन्न हुआ है जो संस्कृत-काव्य और कला के ललित नैकट्य को उद्घाटित करे। चित्रकला मानवेतिहास का आदिम रूप है। काव्य अथवा साहित्य का इतिहास तो लेखन कला के पश्चात् का है। चित्रकला के माध्यम से ही मानव संस्कृति का आदि उत्स खोजने में सफल हुआ है। हां, इतना अवश्य है कि साहित्य ने उस चित्रकला को विवृत्ति दी जिससे जीवन के सत्य का सुन्दर के माध्यम से व्याख्यान हुआ है। वह इसलिए कि मानव की प्रवृत्ति मूलतः सौन्दर्याभिव्यक्ति परक होती है और चित्र में रेखाओं से सौन्दर्य का आभास होता है। शब्द एवं चित्र समानधर्मी हैं और दोनों का धर्म मानव-मन में सौन्दर्य की सृष्टि करना, उस सौन्दर्य-सृष्टि द्वारा उदात्त भावों की संपृक्ति द्वारा लोकमंगल को विस्तार देना है। साहित्य में आनन्दानुभूति शब्द के माध्यम से तथा चित्र में वह अनुभूति रेखाओं के सौन्दर्याभास द्वारा होती है।

प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पादक शक्तियों द्वारा कलात्मक और आध्यात्मिक प्रतीकों से मन को विश्रान्ति प्रदान करना ही इस ग्रंथ-प्रणयन का लक्ष्य है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने शब्द और चित्र के अन्तर्सबंध का विवेचन करने का प्रयास किया है। इसके लिए मुझे गहन और व्यापक अध्ययन-सारिणियों का सहारा लेना पड़ा है। गंभीर विषय की प्रस्तुति एवं व्याख्यान तथा चित्रकला विषयक ज्ञान का सहारा लेकर अनेकविध ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया है।

'चित्रकला और संस्कृत साहित्य' पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी, ऐसी धारणा है।

मेरा विश्वास है, पूज्य गुरुदेव डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल की वरद छाया तथा परिवार के आत्मीय जनों एवं सुहृद बन्धु डॉ० श्याम बिहारी अग्रवाल की सहज आत्मीयता की फलश्रुति के रूप में यह ग्रंथ तैयार हो गया है।

मैं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के अध्यक्ष श्री हरिमोहन मालवीय जी के प्रति विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होंने मेरी कृति को सुघड़ रूप में प्रस्तुत करने का श्लाघनीय कार्य किया है।

विभिन्न कला केन्द्रों, संग्रहालयों एवम् कलावीथियों से इस ग्रंथ के लेखन में विशेष सहायता मिली। हम उन सभी लोगों के प्रति हृदय से आभारी हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विषय-प्रतिस्थापना में अपना बहुमूल्य योगदान प्रदान किया। प्रकाशन अधिकारी ज्योतिर्मयी ने भी प्रकाशन कार्य में सहयोग प्रदान किया।

होलिकोत्सव,
मार्च, २००२ इलाहाबाद

मधूलिका अग्रवाल

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।

सत्काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में प्रवीणता, आनन्द व यश प्रदान करती है।

भामह (काव्यालंकार)

विषयानुक्रमणिका

कला का अर्थ एवं स्वरूप-भेद

आदिकाल से ही भारतीय मनीषियों ने कला के विषय में पर्याप्त चिन्तन किया है। ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, लक्षणग्रन्थ, कामसूत्र, शुक्रनीतिसार, समरांगण सूत्रधार, बृहत्संहिता, पुराण तथा गद्य–पद्य, चम्पू, नाटक आदि में कला को स्पष्ट करने का भरसक प्रयास किया गया है। आज १. कलाकार की प्रतिभा तथा कौशल, उसके अनुभवों का उदात्तीकरण तथा रूपांतर, उसकी सृजन–प्रक्रिया, बिम्बों की दृष्टि से उसकी चिन्तना। २. कलाकृति की प्रकृति तथा उद्गम, उसका रूपतत्त्व एवं विषयवस्तु तत्त्व, माध्यम, वर्गीकरण, सौन्दर्य की प्रकृति तथा सौन्दर्यानुभूति की विशेषता, सम्प्रेषण की क्षमता, समाज के साथ सम्बन्ध, समाज में कला–विकास के नियम, कला और विचारधारा की सामाजिक भूमिका। ३. सहृदय या प्रेक्षक की अभिरुचियाँ तथा मूल्यांकन, सौन्दर्य का प्रभाव, सौन्दर्यबोधात्मक धार्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक एवं राजनीतिक अनुभवों से सम्बद्ध विषयों पर अधिकाधिक विचार होने के कारण 'कला' एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विकसित है।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए साहित्य को चार प्रशाखाओं में विभाजित किया गया है। १. धर्मशास्त्र – इसके अन्तर्गत मनु, याज्ञवल्क्य आदि प्रणीत धर्म प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। २. अर्थशास्त्र – इसके अन्तर्गत बृहस्पति आदि के प्रणीत ग्रन्थ हैं। ३. कामशास्त्र – वात्स्यायन कृत कामसूत्र इसके अन्तर्गत है। ४. दर्शनशास्त्र – दार्शनिकों ने दार्शनिक मतों को प्रतिपादित किया है। शैवागम अथवा शैवतन्त्र में उद्धृत कलाएँ वात्स्यायन कथित चौंसठ कलाओं से मिलती–जुलती हैं।

शैव दर्शन में कला तथा कला–प्रकृति पर सार्थक निरूपण मिलता है। शैव दर्शन में शिव परमतत्त्व है; माया प्रकृति तत्त्व और कला महामाया (शक्ति) की रूपविधायिनी शक्ति। जब शिव माया के पाँच आवरणों (कंचुकों) – काल, नियति, राग, विद्या तथा कला से आवृत होते हैं तब वे अपना व्यापक चैतन्य रूप भूलकर 'पुरुष' हो जाते हैं (अहं–पुरुष रूप में, इदम्–प्रकृति रूप में)। पुरुष जीवत्वपूर्ण मानव की तरह होकर सीमित होने लगता है। वह काल के कारण नित्य से अनित्य, नियति के कारण सर्वदेशीय से नियत, राग के कारण भावयुक्त से अभावयुक्त, विद्या के कारण सर्वज्ञ से सविद्य तथा कला के कारण सर्वकर्त्ता से सीमित कर्त्ता हो जाता है। इसी सीमाबंधन में वह लोक–रचना करता है। शिव पुनः इनके द्वारा आणवों (अणु, अर्थात् लघु बनानेवाले बंधनों) को विच्छिन्न करते हुए पूर्ण अर्थात् परमशिव हो जाते हैं। परमशिवतत्त्व इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक है, पूर्णानंद स्वभाव का है तथा प्रकाशात्मा है।[1]

परमात्मा को सर्वकर्त्ता कहा गया है। कला के कारण वह परमात्मा सर्वकर्त्ता से सीमित कर्त्ता पुरुष होकर मानव के रूप में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विद्या और बुद्धि रूपी चैतन्य को संवर्द्धित कर पंचकर्मेन्द्रियों द्वारा कला का निरूपण करता है। लौकिक जडबन्धनों से मुक्त होकर अलौकिक जगत् में विचरण कर रूप विधान करना कौशल है और कला अपनी अनंत अभिव्यक्ति में ठोस जीवन की अभिपुष्टि है।

---

१. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - रमेश कुंतल मेघ, पृ. २

शाब्दिक अर्थ में कला :– 'कला' शब्द की सिद्धि संस्कृत में 'कल्' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'संख्यान' है। ख्या धातु 'कथन' (कहना) के अर्थ में न होकर यहाँ **'चक्षिड्. व्यक्तायाम् वाचि'** से संख्यान शब्द की सिद्धि होती है जिसका अर्थ 'स्पष्ट वाणी में प्रकटन' होता है। 'चक्षिड्.' के स्थान पर ख्या आदेश होकर अवधानपूर्वक देखने के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है (अयं दर्शनऽपि सि० कौ० ३७४)। सम् उपसर्गपूर्वक इस धातु का अर्थ गिनना, गणना करना अथवा संकलन करना होता है। इस आधार पर हम 'संख्यान' शब्द को मनन, चिन्तन एवं ध्यान के अर्थ में भी रख सकते हैं।

कल् धातु से (कल्यते अस्याम्) भाव अर्थ में लेने पर इसका अर्थ ध्यानपूर्ण दृष्टि, संकलन एवं स्पष्ट प्रकटन हो जाता है, जिसकी सिद्धि घ–प्रत्ययान्त कल् धातु से पाणिनि के **'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'** (३, ३, ११८) सूत्र के अनुसार हुई है। 'ला' धातु से प्राप्त करने के अर्थ में कला शब्द की सिद्धि होती है। **'कं लाति'** इस व्युत्पत्ति से 'आनन्ददायक–आनन्द देनेवाला' अर्थ भी होता है। यह व्युत्पत्ति 'कलाकृति' से सम्बन्धित है जो कला को 'सहृदय संवेद्य' बनाती है।

'कला' अर्थ की प्राचीनता - ऋग्वेद में विविध रूपों की प्रतिभा एवं कलाविषयक निपुणता के लिए **'धी'**[1] का उल्लेख मिलता है। ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व सिन्धु नदी के निकटस्थ प्रदेश के सांस्कृतिक प्राचीरों पर वास्तु, मूर्ति, चित्र, भाण्ड निर्माण, लौहवस्तु रचना आदि अनेक कलाकृतियों द्वारा कला का प्राचीन काल से अस्तित्व सिद्ध होता है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित कलाएँ – बुनाई, बढ़ईगीरी, लोहारी, मृद्भाण्डकला, सोनारी, चर्मकारी, माला बनाने की कला, केशसंस्कार कला, भैषज्यकला, संगीतकला आदि उपयोगी होने के साथ–साथ कौशल के अर्थ में भी प्रयुक्त हुई हैं। महर्षि पांचाल ने ऋग्वेद को चतुःषष्टि (६४) की संज्ञा दी है। इसमें आठ अष्टक और प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इसी के आधार पर वात्स्यायन ने चौंसठ की संख्या को धर्मपूत तथा पवित्र मानकर चौंसठ कलाओं का वर्णन किया।

कला का अर्थ -प्रतिभा - प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त है। कलाकार उसी प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा के सहारे सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण तथा अनुभूति करता है और कला के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करता है। उस अभिव्यक्ति एवं सौंदर्य में वह अपनी अनुभूति एवं कल्पना का रंग चढ़ा देता है तथा अन्तर्जगत् के संस्पर्श से एक तीसरा ही जगत् बन जाता है जिसमें हमारे भाव, कल्पना तथा अनुभूति के समावेश से वह सजीव–सा हो जाता है और अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। कलाकार मनुष्य की बाह्य आकृति में भीतर के उस आदमी को भी चित्रित कर देता है, जिसे देखना असम्भव है। उदाहरणार्थ–बुद्ध की मूर्तियाँ, जो कला की संपूर्णता की आदर्शभूत हैं।

कला का अर्थ - बिम्ब - दार्शनिक रूप में सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का विवर्त्तात्मक बिम्ब माना गया है। बिम्ब भाषा या रेखा द्वारा मस्तिष्क में बनाया गया एक चित्र है जो सहृदय की अनुभूति तथा संस्कार से चित्र रूप में स्पष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में मानवात्मा आनन्दविभोर हो अपने को छन्दोमय और अन्तर्लीन कर लेती है 'छन्दोमयमात्मानं कुरुते'[2] उस भाव के प्रकाशन से ही कला की उत्पत्ति होती है।

काव्य में कला - आचार्य भरत ने **'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला'**[3] कहा है। 'भर्तृहरि' ने **'साहित्य संगीत कला विहीनः'** कला को साहित्य और संगीत से अलग माना है। भामह ने काव्यालंकार १.२ में **'वैचक्षण्यं कलासु च'** कलाओं में निपुणता का उल्लेख किया है। दण्डी ने

---

१. ऋग्वेद ६,११२, १। २. एतरेय ब्राह्मण। ३. आचार्य भरत-नाट्यशास्त्र (१.११३) बटुकनाथ शर्मा, बनारस।

काव्यादर्श में **'नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थ संश्रयाः'** (३.१६२) साहित्य को कला से अलग माना है तथा कामार्थों और नृत्य–गीत आदि में उपयोग आनेवाले कौशल को कला कहा है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्र, संगीत और काव्य को कला के अन्तर्गत रखा गया है।

मंगलास्पद अर्थ में कला - कला का अर्थ है शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति। ''सर्जन प्रक्रिया शाश्वत, सुन्दर और सुखात्मक होती है। प्राकृतिक और लौकिक सृष्टि में यह अन्तर है कि वह शाश्वत, सनातन नहीं हो सकती। जो सुख कभी दुःख में न बदले, निष्पाप, मंगलास्पद हो वह शिव रूप माना जाता है। सत्यं वही है जो शाश्वत और सनातन हो अतः सत्यं शिवं और सुन्दरम् का अविनाभावी सम्बन्ध है।''[१] और कला में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की इसी रूप में स्थापना है। मम्मट ने काव्य प्रकाश में काव्य के प्रयोजन को इसी रूप में स्पष्ट किया है।[२] प्रकृति में सुन्दरता का होना यह सत्य तो है ही लेकिन इस सत्य को सुन्दर बनाकर जीवन के लिए मंगलास्पद बनाना ही कला–दर्शन है।

कला का नूतन संसार - कला जिस रूप में प्रकाश पा लेती है वह उस रूप से किसी भी तरह से अलग नहीं हो सकती। उसका एक नया संसार हो जाता है। अजंता–चित्रों में सुन्दर प्रतिकृतियों के निर्माण में किसी–न–किसी भावगम्य आदर्शलोक की रचना की गयी है। भौतिकसौंदर्य शब्द के सौंदर्य की भाँति है और मानससौंदर्य अर्थगत सौंदर्य की भाँति है। शब्द और अर्थ दोनों ही कला एवं रसानुभव के लिए आवश्यक है।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थः प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।१।। - रघुवंश

शब्द और अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं, वह एक–दूसरे से अलग नहीं हो सकते। शब्द और अर्थ का पार्वती और महादेव के सदृश पारस्परिक सम्बन्ध बताया गया है। भारतीय दार्शनिकों ने भाषा की उत्पत्ति, वृद्धि, गति सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर, शब्द व्यापार, शब्द–अर्थ–सम्बन्ध, शब्द–शक्ति इत्यादि पर विचार व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि शब्द का पार्थिव रूप वर्णात्मक है किन्तु उसका वास्तविक रूप चैतन्यमय है। शब्द जीवन और चेतना के ज्वलन्त कण हैं। उनका स्वरूप आध्यात्मिक है, क्योंकि उनका बैखरी रूप मनोगुहा में निहित अखण्ड ज्योति से उत्पन्न हुआ है। कला के मूल तत्त्वों – लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि, चमत्कार आदि का स्पष्टीकरण इन्हीं दार्शनिक विचारों से हुआ।

कला के द्वारा भावनात्मक तृप्ति :- सौंदर्य सृजन के आधार पर कला द्वारा भावनात्मक तृप्ति होती है। सृजनात्मक आनन्दानुभव के कारण भावनाओं की जागृति, व्यक्तित्व का उदात्त और उच्चस्तर पर संगठन, हृदय को जड़ता देनेवाली कुवासना–ग्रन्थियों का निवारण आदि फल होते हैं। सीमित व्यक्तित्व, समय और सीमा के बन्धन टूट जाने पर (उपासना द्वारा) अखण्ड चेतना के दर्शन से जिस प्रकार आनन्दानुभूति होती है उसी प्रकार कलाकार भी अपने सृजन में सौंदर्य दर्शन कर तृप्ति महसूस करता है। यह तृप्ति समाधि अवस्था में 'ईश्वर' का साक्षात् करनेवाले ऋषियों की भाँति ही महसूस होती है। जीव को ब्रह्म का मायिक स्वरूप मानकर हमारे देश में मानवता का आदर किया गया है।

आध्यात्मिक उपादानों में कला - मानव ने धरती पर अपनी अनुकूल सुख–

---

१. संस्कृत साहित्य और सौंदर्य चेतना, डॉ. शंकरदेव तिवारी पृष्ठ ५, प्रथम संस्करण।
२. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

सुविधाओं के अनुसार जीवन–यापन प्रारम्भ किया। जीवन–यापन के दौरान मानव ने आकाश, ग्रह, नक्षत्र, नदी, पर्वत, सर्दी और गर्मी आदि के रहस्यों को समझा, प्राकृतिक भय और विपदाओं का अनुभव किया तथा उन विपदाओं पर विजय पाने के लिए एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की। प्रकृति के विविध रूपों को देवत्व की संज्ञा प्रदान कर धर्मप्राण मानव ने कला के विराट् स्वरूप का निर्माण किया। इस अन्तःप्रेरणा तथा अन्तः प्रसुप्त दैवी विश्वासों ने ही विचारों को रंग, रूप, वाणी और आकृति प्रदान किया। परमतत्त्व की ओर उन्मुख होना ही कला है। अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न अनुराग, अनुराग से उत्पन्न आसक्ति और आसक्ति को चित्र रूप (परमतत्त्व) में परिणत करना या फिर योग और साधना से अन्तर्मन में किसी चित्र को बैठाना और फिर उसको रेखाओं में अंकित करना। भारतीय कलाकारों, कवियों और सहृदय नागरिकों के कृतित्व और विचारों में कला का यही आदर्श बराबर काम करता रहा है।

प्राचीन शास्त्रों के अनुशीलन से भारतीय कला के अत्युन्नत होने के प्रमाण मिलते हैं, जैसे – महायंत्रों के निर्माण की विधियाँ आज के राकेट, अणुबम आदि से अधिक प्रशस्त थीं। परमात्मज्ञान हो जाने पर संसार के समस्त सूक्ष्म पदार्थ और नियम ज्ञात हो जाते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में 'सम्भूति को जानना अवश्य चाहिए किन्तु उसकी उपासना न करनी चाहिए' कहा गया है। भरद्वाज मुनि कृत यंत्रार्णव के वैज्ञानिक प्रकरण में मंत्र, यंत्र और तंत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि जल और वायु के स्तम्भन से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे मंत्र कहते हैं। दण्ड, चक्र, दंत योजना, सरणि और भ्रामक आदि के द्वारा जिस शक्ति का वर्द्धन होता है उसे यंत्र कहते हैं। मनुष्यों और पशुओं की शक्ति से जो कार्य किया जाता है उसे तंत्र कहते हैं। भारतीय शास्त्रों ने मंत्र, यंत्र और तंत्र विज्ञान को कला मानकर उसकी उपासना की व्यवस्था सर्वसाधारण के लिए लिख दी है।[१]

वेदों में कला का स्वरूप - वेदों में परमात्मा को कला का उद्गम माना गया है – 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'[२] हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्ड रूप हिरण्य में गर्भरूप से स्थित प्रजापति नामरूपात्मक जागतिक प्रपञ्च के उद्भव के पूर्व उत्पन्न हुआ (शरीर धारण किया)। फलतः परमात्मा के सौंदर्य को जानना ही कला है।

उपनिषदों में कला का स्वरूप - नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला अर्थात् कला का आधार निश्चयपूर्वक आकाश ही है। वे दोनों जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है। **'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'**[३] बुद्धिप्रेरक परमेश्वर सब रूपों की रचना करके उनके नाम रखकर उन नामों के द्वारा स्वयं ही व्यवहार करता हुआ स्थित है। **'नामरूपे व्याकरवाणि सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नाभानिकृत्वाभिवदन् यदास्ते।'**[४]

इसी तरह ऐतरेय उपनिषद् में भी **'ॐ, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन-भिषत। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।'** अर्थात् 'जगत् पहले एकमात्र परमात्मा ही था। परमात्मा के सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था। परमात्मा ने लोक–रचना का विचार किया।' भगवान् व्यास ने भी **'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'**[५] सगुण सृष्टि की उत्पत्ति उस प्रधान (परमात्मा) से माना है। सगुण कलाकार–परमात्मा की सृष्टि केवल लीलामात्र है और यह सृष्टि उनकी निर्गुण कलाभूमि में उन्हीं की इच्छा से तल्लीन हो जाती है। ब्रह्म परमात्मा मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों है। अमूर्त्त ब्रह्म के मूर्त्त रूप की अनुभूति

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, कला अंक, सम्पादकीय, पृ० ब।
२. ऋग्वेद १०/१२१/१।
३. छान्दोग्य उपनिषद् ८/१४/१।
४. वही, ६/३/२१।
५. ब्रह्मसूत्र ३/२/१४१।

ही कला है।[1] आनन्दमय ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही तदनुकृति कला है **'आनन्दमयोऽभ्यासात्।'**[2] छान्दोग्य–उपनिषद् ६/७ में कलापुरुष परमात्मा की सत्ता सोलह कलाओं से प्रकाशित है **'षोडशकलः सौम्यपुरुषः पञ्चदशाहानिमाशीः काममयः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति'** – अर्थात् एक दिन भोजन किये हुए अन्न का जो सूक्ष्म अंश है वही मन की एक कलाशक्ति है। जब यह पुरुष सोलह दिन भोजन करता है तब सोलह अंश से युक्त हुआ मन षोडश कला वाला कहलाता है। उस मन से युक्त हुआ पुरुष सब काम करने में समर्थ होता है। **'एवं-सौम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाति शिष्टाभूत सोऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वलीत्तयैतर्हि वेदानुभवस्यन्नमय हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयि वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विज्ञाविति।'** (छान्दोग्य ६/८) अर्थात् तेरे मन की सोलह कलाओं में से जो एक कला शेष रह गयी है उसे करके तू सब वेदों को अब अनुभव करता है अर्थात् उनको पढ़ता और समझता है। मन अन्न का सूक्ष्म अंश है, प्राण जल का सूक्ष्म अंश है और वाणी अग्नि का सूक्ष्म अंश है। इस प्रकार श्वेतकेतु अपने पिता उद्दालक से कहता–जैसे कृष्णपक्ष में एक–एक कला प्रतिदिन घटने से चन्द्रमा पन्द्रहवें दिन एक कला वाला रह जाता है अर्थात् प्रकाश करने में असमर्थ हो जाता है परन्तु जब शुक्लपक्ष आता है तब उसकी प्रतिदिन एक–एक कला बढ़ती है और पूर्णिमा की रात्रि को वह षोडश कला युक्त होकर सब पदार्थों को भली प्रकार प्रकाश देने में समर्थ होता है वैसे ही तेरा मन सोलह कलाओं से युक्त होकर वेदादिकों को पढ़ने और समझने में समर्थ हो गया।

पुराणों में कला - स्कन्दपुराण में सभी कलाएँ विश्वकर्मा में निहित हैं (४/८६ अ०)। विश्वकर्मा को **'शिल्पानां वरः'** तथा **'कलाविदां वरः'** कहा गया है। स्कन्दपुराण में विश्वकर्मा निर्मित एक सूची प्राप्त है (४/८६/७४–८६)। वामनपुराण में **'कलासु मुख्या गणितज्ञता च विज्ञानमुख्यं च यथेन्द्रजालाम्'** (१२–५३)। यहाँ गणित ज्ञान को श्रेष्ठकला और इन्द्रजाल को विज्ञानमुख्य कहा गया है। ब्रह्मखण्ड में १८ प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है (३/३/१० अ०)। कला के प्रत्येक रूपों –'गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, क्रीड़ा, कामकला, द्यूतविनोद, वाक्य–विलास, कूट शब्द प्रयोग, रत्नपरीक्षा, भोजन विद्या, लेखन, आख्यायिक, दर्शन, चित्रकर्म, प्रतिमा निर्माण' आदि का अधिकाधिक उल्लेख आया है।

जैन ग्रन्थ कालिकापुराण (१०वीं–११वीं शताब्दी) में कला की उत्पत्ति का विवेचन है। ब्रह्मा ने पहले प्रजापति तथा ऋषियों को उत्पन्न किया। फिर संध्या नामक कन्या को जन्म दिया और तदन्तर मदन देवता (मन्मथ) को पैदा किया। मदन देवता को ब्रह्मा ने यह वरदान दिया कि उसके बाणों के लक्ष्य से कोई न बच सकेगा। इसलिए वह सृष्टि–रचना में ब्रह्मा की मदद करे। अपने बाणों का प्रथम प्रयोग मदन ने ब्रह्मा और संध्या पर किया। फलतः वे कामक्रीड़ा से पीड़ित हो गये और अपने प्रथम समागम में ब्रह्मा–संध्या ने जिन वस्तुओं को जन्म दिया उनमें ६४ कलाएँ भी थीं।

कला में आत्मानुभूति - कला में अपनी अनुभूतियों और भावनाओं का साक्षात्कार करने के कारण आनन्द मिलता है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि – 'हम पुत्र को चाहते हैं, इसलिए कि वह मुझे प्यारा नहीं है, वरन् हम अपने को चाहते हैं, इसलिए पुत्र हमें प्यारा लगता है। धन को हम चाहते हैं इसलिए धन हमें प्रिय नहीं, अपितु हम अपने को चाहते हैं इसलिए धन हमारा प्रिय है।[3]

---

१. द्वेवाव ब्रह्मणे रूपे मूर्त चैवामूर्तं च
मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च तच्च। बृहदारण्ये २/३/१

२. ब्रह्मसूत्र १/१/१२।

३. न वारे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति
न वारे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति - शतपथ ब्राह्मण।

कला की रचना शिल्प नैपुण्य मात्र न होकर मानसिक बिम्ब की सृष्टि से है और ऐसी ही सृष्टि है भगवान् की। वाल्मीकि रामायण में **'मनसैव कृतां लंकौ निर्मिता 'विश्वकर्मणा'** अर्थात् विश्वकर्मा ने लंका के निर्माण में अपने मन को ही प्रतिबिम्बित किया। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं –

यद् यद् विभूतिमतत्सर्वंश्रीमदूर्जितमेव।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजो हंससम्भवम्।।

अर्थात् सौन्दर्य का जो भी रूप है वह मेरे द्वारा ही उत्पन्न है। मेरे ही तेज से जो–जो देवता जाने जाते हैं वे सभी मेरे ही कारण विराजमान हैं।

कला प्रकृति के नियमों से मुक्त होती है। उस पर बाहरी संसार के नियमों तथा देश–काल आदि का कोई प्रभाव नहीं होता **'नियतिकृत नियमरहितामहालादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।'** मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसको स्पष्ट किया है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक में माध्यम–विशेष के द्वारा किसी निश्चित अर्थ की ओर ले जाने को कला कहा है जहाँ कोई अस्पष्टता न दिखायी दे। **'व्यड्.क्तः काव्य विशेषः स ध्वनिः।'** यहाँ व्यञ्जना तथा ध्वनि को रसानुभूति का स्वरूप और कला का लक्ष्य माना गया है।

कालिदास ने **'रूपोत्त्चयेन विधिना मनसा कृतानुः'** मानसिक सृष्टि को भगवान् की सृष्टि माना है।

रसानुभूति ही कला - कला का प्राण रस है और रस का प्रत्यक्ष रूप दिखाया ही नहीं जा सकता। उपनिषद् कहती है **रसौ वै सः। रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति** - अर्थात् वे रसस्वरूप हैं इसी रस की उपलब्धि कर मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है।[1] मृच्छकटिक नाटक में 'संवाहन कला'[2] का प्रसंग आया है। इस नाटक के नायक चारूदत्त का एक पुराना संवाहक या भृत्य था जिसने संवाहन कला अर्थात् शरीर दबाने और सजाने की विद्या सीखी थी। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक अपने मालिक चारूदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोड़कर जुआ खेलने का अभ्यासी हो गया। एक बार चारूदत्त की प्रेमिका गणिका बसन्तसेना ने उसकी विद्या की प्रशंसा करते हुए कहा कि भद्र, तुमने बहुत सुकुमार कला सीखी है, तो उसने प्रतिवाद करके कहा –'नहीं आर्ये, कला समझकर सीखी जरूर थी, पर अब तो वह जीविका हो गयी है।' इस कथन का अर्थ यह हुआ कि जीविका उपार्जन के काम में लगायी हुई विद्या कला के सुवर्ण–सिंहासन से विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरिकगण सर्वकला–पारंगत होने पर नागरक के ऊँचे आसन से उतरकर विट होने को बाध्य होते थे। संवाहन का कार्य भी, जो एक कला है, अन्तःपुर में ही प्रकट होती थी। अन्तःपुरिकाओं के वेश–विन्यास में इस कला का पूर्ण उपयोग होता था। संभ्रान्त परिवारों में अनेक संवाहिकाएँ होती थीं जो गृहस्वामिनी का चरण संवाहन भी करती थीं और नाना आभरणों से उस छवि–गृह को दीपशिखा से जगमग करने का कार्य भी करती थीं। नागरकों को भी संवाहन आदि कर्म सीखने पड़ते थे। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भी राजा दुष्यन्त ने वियोगिनी शकुन्तला से इसी प्रकार की सेवा की अनुज्ञा माँगी थी। 'वियोगिनी प्रियतमा से हठात् मिलन होने पर शीतल कलम–विनोदन व्यजन की, पंखे की मीठी–मीठी हवा जिस प्रकार आवश्यक होती थी उसी प्रकार कभी–कभी यह भी आवश्यक हो जाता था कि प्रिया के लाल–लाल कमल जैसे कोमल चरणों को गोद में रखकर इस प्रकार दबाया जाय कि उसे अधिक दबाव

---

१. हंसकुमार तिवारी, 'कला', पृ० ५४।
२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६।

का क्लेश भी न हो और उसके विरह विधुर मज्जा तंतुओं को प्रिय के करतल स्पर्श का अमृत रस भी प्राप्त हो जाय। इसीलिए नागरक को ये कलाएँ जाननी पड़ती थीं।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः संचारयामि नलिनी दल ताल-वृन्तम्।
अंकेनिधाय चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते।। अभिज्ञान शाकुन्तलम् तृ० अं०

कला विद्या या उपविद्या - विद्या और उपविद्या ज्ञान के दो अलग क्षेत्र हैं। इनमें काव्य का स्थान विद्या में और कला का उपविद्या में है। ब्रह्म–विद्या का अध्ययन–अध्यापन 'विद्या' या ज्ञान के रूप में था और लिखना–पढ़ना, हिसाब लगाना, जीवन–यात्रा में उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहले से ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांग का नाम हो गया था और इसीलिए, लिखना–पढ़ना, हिसाब–किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलों की जानकारी 'कला' नाम से चलने लगी थी। विद्या का क्षेत्र बहुत पहले से ब्राह्मणों के हाथ में रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रिय–राजकुमारों और राजकुमारियों तथा वैश्यों के लिए नियत था। शतपथ ब्राह्मण (११–६–२१–५) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य ने जनक से विद्या सीखी थी। पाटलिपुत्र तथा काशी के राजा अजातशत्रु से बालाकि गार्ग्य ने विद्या सीखी थी। यह बात बृहदारण्यक और कौशीतिकी उपनिषदों से मालूम होती है। छान्दोग्य उपनिषद् से जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि से ब्रह्म विद्या सीखी थी। द्रौपदी और उत्तरा की कथाओं से ज्ञात होता है कि द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे अध्यापक घर पर 'कला' सिखाने के लिए नियुक्त किये जाते थे।[१]

कला में देश-काल और वातावरण का प्रभाव - कलाकार अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को कलाकृति में रूप देता है जिसका अनुभव वह इसी दुनिया से करता है। यह अक्सर देखा गया है कि देश–काल और वातावरण का प्रभाव संसार के प्रत्येक कोनों को प्रभावित करता है। यही कारण है कि किसी एक देश में गौतम बुद्ध पैदा होते हैं तो दूसरे देश में ईसा मसीह। कला का भी जन्म इन्हीं परिस्थितियों में होता है। कलाकृतियों में तत्कालीन देश–कालादि को भी समझा जा सकता है। अनुभूतियों से जन्म लेनेवाली कलाकृतियों में प्रबुद्ध चेतना के साथ–साथ देश–कालादि का अनुभव भी आवश्यक है। पत्थरों में कलाकार की प्रबुद्ध चेतना की अनुभूति के साथ–साथ उसका समवायी देश–कालादि भी पत्थर में देखा जाता है।

कला अभिव्यक्ति है - मध्यकाल में कल्पना के सहयोग से नवीन सृष्टि और आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति को कला कहा गया। सामाजिक मूल्यों और महत्त्वों को आधार माना गया। प्लेटो ने श्रेष्ठ कला को दैवी प्रेरणा का परिणाम बताया। अरस्तू ने औचित्य, तर्क, सम्भाव्यता आदि के द्वारा कला–अनुकरण में कल्पना को माना। इसी आधार पर पन्द्रहवीं शताब्दी में कला को दैवी प्रेरणा न मानकर मानवीय सृष्टि माना गया। चित्रकार लियोनार्डो दा विंची का नाम इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। यूरोपीय विद्वानों ने कहा 'नवीन आकृतियों का सृजन कर कलाकार उसमें अपनी कल्पना का साक्षात्कार करता है। वह देवताओं तथा राक्षसों की भी कल्पना करता है। लियोनार्डो के विचार में कलाकार ईश्वरीय सृष्टि से स्पर्द्धा न करके सांसारिक अनुभवों के आधार पर पुनर्सृष्टि (अथवा पुनर्संयोजन) मात्र करता है क्योंकि ईश्वर निर्मित सामग्री को ही वह इस संसार से लेकर अपनी कृति में रूप देता है। कलाकार को लियोनार्डो ने 'लगभग ईश्वर के समान' माना है। कलाकार की मौलिक दृष्टि ही नवीनता का कारण है। प्लेटो और अरस्तू की कल्पनाओं को तर्करहित मानते हुए मध्यकाल में कला को स्वप्न के समान स्वच्छन्द बताया गया।

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद पृष्ठ ३१।

फ्रांसिस, वेकन, लीबनित्ज तथा एडीसन आदि संसार के अभावों से ग्रस्त मानव कल्पनाओं द्वारा अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए आदर्श लोक की संरचना करते हैं। कल्पना–लोक का अंकन ही कला है। लियोनार्डो ने कहा कि कलाकार अभिव्यक्त माध्यमों द्वारा अपने विचारों को दूसरे तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। सत्रहवीं शताब्दी में कला को भाव सम्प्रेषण का प्रधान माध्यम कहा गया। "Art is the will creative in the terms of a material. The Artist considers his material and solves, not the technical problem of representation, but the formal problem of expression."[१] अभिव्यक्ति–माध्यमों के लोचपूर्ण होने से माध्यम–अवयव भी अनेकार्थक होते हैं। कलाकार इनका संयोजन निश्चित अर्थ में ढलने के लिए करता है, जिसमें कोई अस्पष्टता न दिखायी दे। 'कला अभिव्यक्ति है किन्तु प्रत्येक अभिव्यक्ति कला नहीं है।'[२] जिस अभिव्यञ्जना में आन्तरिक भावों का प्रकाशन तथा कल्पना का योग रहता है वही कला है।[३] 'डेमोक्रेट्स' ने कहा कि हर्षोन्मत्त आत्मा परात्पर सत्ता के प्रभाव से प्रेरित होकर काव्य–स्वप्नों के प्रणयन की ओर उन्मुख होती है।

कला क्रीड़ा है - काण्ट, शिलर, स्पेन्सर और कोनार्ड लैञ्ज आदि ने इस प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है। कविता और कला का प्रमुख उपजीव्य आप्लुत (Over flowing) शक्ति है। क्रीड़ा में अतिरिक्त शक्ति का प्रयोग होने के कारण कला को भी क्रीड़ा के समकक्ष रखा गया है। अन्तर केवल इतना है कि 'कला' के खेल में अनुभूति की दशा में अभिरुचि के माध्यम से बिम्बों का स्वतः स्फुरित स्वरूप प्रवाहित हो उठता है। विकास–क्रम के साथ यह बिम्बवादी क्रिया कला का आकार ग्रहण करने लगती है।

शिलर ने क्रीड़ा की प्रवृत्ति का सम्बन्ध सौंदर्य और कला से माना है। उसने दो प्रकार की प्ररोचनाओं का वर्णन किया है। १. ऐन्द्रिय सहज वृत्ति और २. औपचारिक सहज वृत्ति। पदार्थ और चेतना का स्वरूप होने के कारण इन प्ररोचनाओं में व्यक्ति का देश–काल की ससीमता में मूल्यांकन करती है तथा उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व से उद्भूत होकर ऐन्द्रिय सहज वृत्ति द्वारा उपलब्ध संवेदन एवं प्रभाव की विविधता का सन्नियमन करती है। स्पेन्सर ने क्रीड़ा कला को 'बालकों की अतिरिक्त ऊर्जा की निकासी' माना है। क्रीड़ा द्वारा सृष्टि से लयात्मक एकसूत्रता में हम बँध जाते हैं। यह लयात्मक एकसूत्रता जीवन के हर पहलुओं पर आधारित होती है।

कोनार्ड लेञ्ज ने कला को क्रीड़ामय सम्मोहन कहा है। उसने बचपन की क्रीड़ा–प्रवृत्ति से भिन्न परिपक्व बुद्धि की क्रीड़ा को कला कहा। विपरीत परिस्थितियों में व्यक्ति मनबहलाव के लिए क्रीड़ा की ही भाँति कला निर्माण में भी लिप्त रहना चाहता है।

क्रीड़ा में खिलाड़ियों के मध्य स्पर्द्धा की ही तरह कलाकार में भी अपनी सामग्री से स्पर्द्धा करने की प्रवृत्ति होती है। सफलता प्राप्त कर लेने पर वह जीते हुए खिलाड़ी की तरह आनन्द की अनुभूति करता है। कला और क्रीड़ा में आवेगों की व्यवस्था पूर्ण न हो पाने के कारण यह अपूर्ण होता है। इस अपूर्णता का बहुत बड़ा कारण कलाओं में यथार्थ की अनुकृति होना माना गया है।[४] चीनी कलाकारों ने कला में पूर्णता के लिए कहा है कि पूर्णता ही अंत है, पूर्णता ही मृत्यु है। वे किसी भी सत्ता को ससीम नहीं स्वीकार करते। उनके चित्रों में ऐसी रिक्तता पायी जाती है जहाँ कल्पना को विचरण करने का बहुत बड़ा अवसर मिल जाता है। इसीलिए आजकल कला के नाम पर बड़ा–सा शून्य छोड़ दिया जाता है।[५] कला में पूर्णता न होने के कारण उसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती रहती है।

---

1. Alois Riegl, quoted by Herbert Read in 'Art now' page 31. 2. H. Read : The meaning of Art, P. 225.
३. साहित्यलोचन, ले० श्यामसुन्दरदास, पृ० ३ का सारांश। ४. आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपल ऑफ लिट्रेरी क्रिटीसिज्म, पृ० २३३। ५. हंसकुमार तिवारी, 'कला', पृ० १७

आनन्दानुभूति और कला - 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के एकादश भाग में उल्लेख है कि 'ललित कला मानव की सृजन की प्रवृत्ति से उद्‌बुद्ध होती है। इसमें कलाकार निश्चित विधा से किसी सुनिश्चित कला की रचना चाहता है। इसका प्रथम उद्देश्य कलाकार को उपयोगिता-रहित आनन्द प्रदान करना है। पर यहीं उसके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। यह दर्शक को भी एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्रदान करती है।'

लैवेटर ने कहा है कि 'कलाकृति की सफलता इस बात में निहित है कि उसके माध्यम से अदृश्य दृश्य बन जाय, अश्रुत श्रुत हो जाय और आनन्दातिरेक की ऐसी अनुपम अवस्था आ जाय कि व्यक्ति का रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठे।' अरस्तू ने कला में तल्लीन होने का प्रमुख कारण अनुकरणजनित आनन्द माना है। सिसरो ने भी इसे स्वीकार किया। उन्होंने शिक्षा देना, आनन्द प्रदान करना और प्रभावित करने को ही कला का उद्देश्य माना है। लांजिनस ने 'आत्मा को औदात्य प्रदान करना ही कला का ध्येय है' ऐसा समझा तथा ड्राइडेन ने आनन्द को ही कविता का सर्वस्व माना है। सैमुएल अलेक्जेंडर ने सामान्य जीवों में प्रस्तुत निर्माणक प्रवृत्ति के उदात्तीकृत स्वरूप को कला के सृजन का मूल समझा।

इस तरह पारम्परिक रूप में सोलहवीं शती तक कला और शिल्प को एक ही अर्थ में रखा जाता रहा। सत्रहवीं शती में सौंदर्यात्मक कृति को तकनीकी कुशलता से भिन्न माना गया। अठारहवीं शताब्दी में सौंदर्यात्मक कृति को ललित कला और कारीगरीपूर्ण कृति को उपयोगी कला समझा गया। उन्नीसवीं शताब्दी में कला को 'अखण्ड' समझा गया तथा उपयोगी और ललित का भेद समाप्त कर केवल 'कला' शब्द का प्रचलन हुआ। कला के मूल में ही सौन्दर्य होने के कारण माध्यम और सामग्री-भेद का अन्तर समाप्त कर दिया गया।

डॉ० डी० जी० मूर ने 'प्रिंसपिआएथिका' में कला को अखण्ड को खण्ड के आधार पर निर्धारित किया। अखण्ड कलानुभूति त्रिकोणात्मक होती है जिसके एक कोने पर सुन्दरता का उपादान, दूसरे पर सौंदर्य चेतना और तीसरे पर कलात्मक मनोभाव स्थित है। सुन्दरता उतनी ही वस्तुगत है जितना प्रकाश। इसकी कलात्मक अनुभूति अभीप्सित उपादान की मुखापेक्षी है। इसी उपादान की उपस्थिति में कलाकार अपनी विषयीगत अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है।

शिल्प और कला के प्राचीन ग्रंथ - पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' (५०० ई०पू०) में शिल्प चारु (ललित) और कारु (उद्योग) इन दोनों के लिए आया है। कौटिल्य (४०० ई०पू०) के 'अर्थशास्त्र' में 'धर्मस्थीय' नामक अधिकरण में कारुक शिल्पियों की नामावली और उनके कार्यों की तालिका है। ज्योतिषशास्त्र के आचार्य वराहमिहिर (५०० ई०) की 'बृहत्संहिता' के ५३, ५६, ५७, ५८ और ७६ अध्यायों में वास्तु, शिल्प और कला का विवेचन है। इस ग्रंथ में वास्तुशिल्प के पुरातन सात आचार्यों का उल्लेख है : - (१) गर्ग (२) मनु (३) वशिष्ठ (४) पराशर (५) विश्वकर्मा (६) नग्नजित और (७) मय। महामहोपाध्याय पंडित गणपतिशास्त्री ने पुराने हस्तलेख संग्रहों से निम्नलिखित ग्रंथों को सम्पादित किया। (१) वास्तुविद्या (२) मयमतम् (३) मनुष्यालयचन्द्रिका (४) शिल्परत्नम् और (५) समरांगण सूत्रधार। प्रो० फणीन्द्रनाथ वसु ने उड़िया लिपि में लिखा हुआ 'शिल्पशास्त्र' और 'प्रतिमा लक्षण' नामक ग्रन्थ पंजाब संस्कृत सीरीज से प्रकाशित कराया था। गन्नमाचार्यकृत 'मयमत शिल्पशास्त्र', कश्यपकृत 'अंशुमद्‌भेद', 'विश्वकर्मीय शिल्प', अगस्त्यकृत 'अगस्त्य सकलाधिकार', सनत्कुमारकृत 'सनत्कुमार वास्तुशास्त्र', मंडनकृत 'शिल्पशाला' आदि शिल्पशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र विषयक ग्रन्थ हैं। इस विषय पर संग्रह ग्रन्थों में मानसार, मयमत, कश्यप, विश्वकर्मा, अगस्त्य, भृगु, पौलस्त्य, नारद, नारायण, मौषल्य, शेषभाष्य, चित्रसार, सारस्वत, विश्वसार, चित्रज्ञान, कपिंजल-संहिता, कौमुदी, ब्रह्मशिल्प, ब्रह्मयामल, दीप्तितंत्र और

दीप्तिसार आदि २१ ग्रंथकारों एवं ग्रंथों के मतों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें प्रथम पाँच ग्रन्थ प्राप्य हैं। डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने 'समरांगण सूत्रधार' तथा डॉ० पी० के० आचार्य ने 'मानसार' ग्रन्थों में कला के उल्लेख का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार शिल्प विषयक लक्षण–ग्रन्थों की रचना विश्वकर्मा से लेकर १६वीं शताब्दी तक निरन्तर होती रही। श्री कुमार का 'शिल्परत्न' १६वीं शताब्दी की प्रौढ रचना है। बौद्धयुगीन कलाओं का ज्ञान 'ललित विस्तर' में विस्तार में प्राप्य है। यह ग्रन्थ २७ अध्यायों (परिवर्तों) में विभाजित है। इसमें दो प्रकार की कलाओं का उल्लेख है।

प्रथम जो कुमार सिद्धार्थ को सिखायी गयी थी और द्वितीय कामशास्त्र से सम्बन्धित है। आचार्य कामन्दक ने 'नीतिसार' (४०० ई०पू०) नामक ग्रन्थ लिखा जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर है। जैनग्रन्थ 'कालिका पुराण' (१०वीं–११वीं शताब्दी) में ६४ कलाओं का उल्लेख है। क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) के 'कला विलास' में भी ६४ कलाओं का उल्लेख है। राजशेखरकृत 'प्रबन्धकोश' (१४वीं शताब्दी) में कलाओं की संख्या ७२ है। कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर ने ११३१ ई० में 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' (मानसोल्लास) नामक एक विश्वकोशात्मक ग्रन्थ की रचना की। इसमें कला से सम्बन्धित अनेक विषयों का उल्लेख है, जैसे – राज्य व्यवस्था, गणित, फलित ज्योतिष, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, संगीत, आयुर्वेद, वास्तुकला, चित्रकला आदि। वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र' (२००–३०० ई०) कलाविषयक एक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। आचार्य वात्स्यायन ने अपने समय तक कलाविषयक प्रचुर साहित्य के उपलब्ध होने की बात कही है। उन्होंने कहा है कि प्रजापति का एक लाख अध्यायों वाला कोई अज्ञातनामा ग्रन्थ इस विषय का प्रथम ग्रन्थ था। उसको मनु, बृहस्पति, नन्दी आदि आचार्यों ने अपने–अपने ढंग से उपनिबद्ध किया। उसमें नन्दी का ग्रंथ एक सहस्त्र अध्यायों का था। उसको औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में और बाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। बाभ्रव्य के ग्रंथ में सात अधिकरण थे। इन्हीं पूर्ववर्ती ग्रन्थों का सार–संकलन यह ग्रन्थ है। इसमें कला के प्रमुख दो भाग हैं–ललित और उपयोगी कलाओं की संख्या ६४ है।

ऐतिहासिक क्रम के आधार पर कलाकृतियों की सूची तैयार कर कला की बाह्य विशेषताओं का वर्णन वैज्ञानिक तरीके से होता है। बाह्य अथवा सांस्कृतिक प्रभावों के कारण निरन्तर परिवर्तनीय कला विषय पर पाश्चात्य देशों तथा ब्रिटिश शासन युग के भारत में भी सराहनीय कार्य हुए हैं और आज भी हो रहे हैं।

'कला जिस विचार की अभिव्यक्ति करती है उसके तर्कसंगत एवं तत्त्वगत स्वरूप का चिन्तन दार्शनिक दृष्टि से होता है।[१] दार्शनिक दृष्टिकोण से कला–दर्शन के स्थापक प्लेटो से लेकर क्रोचे तक ने कला की समस्याओं का समाधान किया है। भारतवर्ष में दार्शनिक दृष्टिकोण का आरम्भ तैत्तिरीय उपनिषद् के समय में आरम्भ हुआ था जिसमें रसानुभूति को परतत्त्वानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति के समान स्वीकार किया गया था। काव्य तथा नाटक के अन्तर्गत भाववस्तु को परब्रह्म अथवा परतत्त्व माना गया था। (रसो वै सः तै० ३० अनु० ६)।[२] परवर्ती समय में कला की दार्शनिक व्याख्या भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट आदि ने किया।

कलाओं का वर्गीकरण

कला के अर्थ एवं स्वरूप पर्यवेक्षण विषयक दृष्टिकोण भारतीय साहित्य तथा यूरोपीय कला–इतिहास में अलग–अलग सामने आते हैं। वैदिक काल से ही मानवोपयोगी वस्तुओं की रचना होने

१. स्वतन्त्र कलाशास्त्र : डॉ० कांतिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० २८। २. वही, पृ० २८ और आगे।

के कारण कला को उपयोगी तथा अन्तर्मुखी आनन्द प्राप्ति–साधन के कारण ललित माना गया क्योंकि 'वैदिक कवि ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) उन मन्त्रों की रचना करते थे जिनसे देवताओं को बुलाना तथा उनके अनुग्रह को प्राप्त करना सहज हो जाता था।'[1] कलाओं का विभाजन बभ्रुपुत्र पांचाल ने 'मूल' तथा 'अन्तर' दो भागों में किया। इन्होंने मूल कलाओं की संख्या चौंसठ एवं अन्तर कलाओं की संख्या पाँच सौ अठारह निर्धारित की। कामसूत्र के टीकाकार (टीका जयमंगला) ने कलाओं के कामशास्त्रांगभूता तथा तंत्रावापौपायिकी दो भेद किये। कामशास्त्रांगभूता के अन्तर्गत २४ कर्माश्रया, २० द्यूताश्रया, २६ शयनोपचारिका तथा ४ उत्तर कलाएँ हैं। बौद्धयुगीन कलाओं का वर्गीकरण सर्वप्रथम 'ललित विस्तर' में (दूसरी शताब्दी या इससे भी पूर्व) मिलता है। ६वीं शताब्दी में इसका चीनी भाषा में अनुवाद प्राप्त है। १. लङि्घते २. प्राग्वाल्लिपिमुद्रागणनासंख्यसालम्भ धनुर्वेदे ३. जविते ४. प्लविते ५. तरणे ६. इष्वस्त्रे ७. हस्तिग्रीवायामश्वपृष्ठे ८. रथे ६. धनुष्कलापे १०.स्थैर्यस्थाम्नि ११. सुशौर्ये १२. बाहुव्यायामे १३. अंकुशग्रहे १४. पाशग्रहे १५. उद्याने १६. निर्याणे १७. अवयाने १८. मुष्टिबन्धे १६. पदबन्धे २०. शिकाबन्धे २१. छेद्य २२. भेद्य २३. दालने २४. स्फालने २५. अक्षुण्णवेधित्वे २६. मर्मवेधित्वे २७. शब्दवेधित्वे २८. प्रहारित्वे २६. अक्षक्रीडायां ३०. काव्यकरणे ३१. ग्रन्थे ३२. चित्रे ३३. रूपे ३४. रूपकर्मणि ३५. धीते ३६. अग्निकर्मणि ३७. वीणायां ३८. वाद्ये ३६. नृत्ये ४०. गीते ४१. पठिते ४२. आख्याने ४३. हास्ये ४४. लास्ये ४५. नाट्ये ४६. विडम्बिते ४७. माल्यग्रथने ४८. संवाहिते ४६. मणिरागे ५०. वस्त्ररागे ५१. मायाकृते ५२. स्वप्नाध्याये ५३. शकुनिरुते ५४. स्त्रीलक्षणे ५५. पुरुषलक्षणे ५६. अश्वलक्षणे ५७. हस्तिलक्षणे ५८. गोलक्षणे ५६. अजलक्षणे ६०. मिश्रलक्षणे ६१.कौटुभेश्वरलक्षणे ६२. निर्घण्टे ६३. निगमे ६४. पुराणे ६५. इतिहासे ६६. वेदे ६७. व्याकरणे ६८. निरुक्ते ६६. शिक्षायां ७०. छन्दस्विन्यां ७१. यज्ञकल्पे ७२. ज्योतिषे ७३. सांख्ये ७४. योगे ७५. क्रियाकल्पे ७६. वैशिके ७७. वैशेषिके ७८. अर्थविद्यायां ७६. बार्हस्पत्ये ८०. आम्भिर्ये ८१. आसुर्ये ८२. मृगपक्षिरुते ८३. हेतुविद्यायां ८४. जलयंत्रे ८५. मधूच्छिष्टकृते ८६. सूचिकर्मणि ८७. विदलकर्मणि ८८. पत्रछेदे ८६. गन्धयुक्तौ – इत्येवमाद्यासु सर्वकर्मकलासु, लौकिकादिषु दिव्यमानुष्यकातिक्रान्तासु सर्वत्र बोधिसत्व एव विशिष्यते स्म[2], अर्थात् सभी कलाओं में सब जगह बोधिसत्त्व ही हैं। 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं की गणना की गयी है। इसमें उपयोगी तथा बृहद् एवं लघुललित कलाओं में संतुलन का भाव है।[3] 'शुक्रनीति सार' में उपयोगी कला, औद्योगिक कला तथा कुटीर कला प्रमुख हैं। 'वराहमिहिर संहिता' में कला के अन्तर्गत तकनीक एवं विज्ञान की जानकारी दी गयी है। जैसे – वृक्षायुर्वेद, वज्रलेप। 'प्रबन्धकोष' में मंत्रवादः, रसवादः, यंत्रवादः, सिद्धान्तः, विषवादः, प्रासादलक्षणम्, सामुद्रिकमः, गंधवादः, कृत्रिम, मणिकर्म, पणकर्म, काष्ठघटनम्, यंत्रकरसवती आदि विज्ञान तकनीक तथा विद्याक्षेत्र में वृद्धि को स्पष्ट करते हैं। 'काव्यमीमांसा' में 'विद्या' तथा 'उपविद्या' भेदों का संकेत है।' 'अष्टाध्यायी' में चारु (ललित) तथा कारु (उपयोगी) दो भेद प्राप्त हैं। 'कौषीतिकी ब्राह्मण' में नृत्य और गीत को शिल्प (कला) माना गया है।[4] जैन ग्रन्थों में ६४ या कहीं–कहीं ७२ कलाओं के नाम दिये गये हैं। क्षेमेन्द्र ने 'कला–विलास' में ६४ जनोपयोगी, ३२ धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष पुरुषार्थों की प्राप्ति सम्बन्धी, ३२ मात्सर्य–शील–प्रभावमान की, ६४ कलाएँ सोनारों की सोना चुराने की, ६४ कलाएँ वेश्या की मोहित कर पैसा ऐंठने की, १० भेषज कलाएँ, १६ कायस्थों की कलाएँ, गणकों की कलाएँ तथा सौ सारकलाओं की चर्चा है।[5]

---

१. स्वतन्त्र कलाशास्त्र : पृ० २६।
२. वाचस्पति गैरोला 'भारतीय चित्रकला', पृ० ४२, मित्र प्रकाशन।
३. 'रमेश कुंतल मेघ', अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११६।
४. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, बनारस, संवत्-२०१२ वि०, पृ० २२३।
५. सम्मेलन-पत्रिका, 'कला अंक', पृ० १६।

आचार्य भरत ने नाट्यकला को प्रधान माना तथा अन्य कलाओं तथा शिल्पों को गौणरूप में नाट्य में सहायक कहा। आचार्य वामन ने भी इस मत की पुष्टि की। **'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेष साकल्यात्'**[१] अर्थात् कलाओं के सन्दर्भ में दशरूपक (नाटक) श्रेष्ठ हैं तथा चित्रपट के समान विचित्र। भामह ने काव्य में अन्य कलाओं के समावेश हो जाने की चर्चा की है। **'न स शब्दो, न तद् वाच्यं, न स न्यायो, न सा कला। जायते यन्न काव्यांगम्।'**[२] भरत, भट्टनायक, शारंगदेव तथा भोज आदि ने नाट्य तथा संगीत के तीनों रूपों (गीत, नृत्य एवं वाद्य) को सर्वश्रेष्ठ माना।[३] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्र को सर्वोत्तम माना गया **'बिना तु नृत्तशास्त्रे चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।'** ऐतिहासिक परिवेशों पर दृष्टिपात करने से भारत की कलाओं में 'ललित' (लघु और बडी) और उपयोगी (कौशल) कलाएँ ही प्रमुख हैं। यहाँ कला का अर्थ परमशिव को घेरे हुए माया के पंचकंचुकों में से एक सीमित पुरुष कर्त्तव्य है, तो दूसरी ओर 'निर्माण', 'शिक्षा', 'प्रक्रिया', 'कौशल', 'विद्या', 'अभ्यास', 'पेशा' इत्यादि भी हैं।[४]

यूरोपीय कला–इतिहास में कलाओं के वर्गीकरण की प्रथा बहुत प्राचीन है। चीन तथा जापान में भी कलाओं का विभाजन किया गया है।

चीनी एवं जापानी विभाजन - चीनी लिपि को चित्र लिपि (Pictographic) कहा जाता है क्योंकि उसके अक्षर रेखात्मक चित्रों के समान होते हैं। कविता, मूर्ति तथा चित्र अनुकृतिमूलक हैं। आध्यात्मिक तथा धार्मिक धरातल पर भवन, कविता, मूर्ति तथा चित्र को अन्य कलाओं की अपेक्षा श्रेयस्कर माना गया है।[५] माध्यम की दृष्टि से भवन–कला को सर्वोच्च तथा चित्र और मूर्ति को सहायक कला माना गया है। प्रथम श्रेणी में कवि को तथा द्वितीय श्रेणी में कलाकार को रखा गया। चित्र, कविता के भावों तथा अन्तर्वस्तु के आधार पर होने के कारण कविता को प्रमुख तथा चित्र को गौण माना गया। रेखाओं के आधार पर बने चित्रों को प्रमुख माना गया है। चीनी लिपि के तूलिका–संचालन की उपमा खड्ग नृत्य (Sword-dance) से दी गयी है।[६]

सूक्ष्म और स्थूल सामग्री के आधार पर काव्य का सर्वोच्च स्थान है। तदनन्तर क्रमशः चित्रकला, लिपि, संगीत, मूर्तिकला, भवन निर्माण को रखा गया है। जापान में भवन को प्राकृतिक सृष्टि में मानवीय कृति का समन्वय अथवा विलीनीकरण (Fusion) समझा जाता है।[७]

फारसी विभाजन - चीन तथा जापान की ही भाँति यहाँ भी विभिन्न प्रकार से लिखी गयी लिपि का सौंदर्य ही महत्त्वपूर्ण माना गया। यहाँ काव्यकला की अपेक्षा मूर्ति, चित्र तथा भवन को गौण माना गया। भवन की नक्काशी में ही मूर्ति और चित्र समाविष्ट हैं। धार्मिक विधि–निषेध के आधार पर उपयोगी तथा सहायक कला (भवन, पुस्तक–सज्जा) को कला माना गया है।

यूरोपीय विभाजन - अरस्तू ने वास्तुकला के अतिरिक्त अन्य सभी अनुकरणीय कलाओं को ललित माना। अरस्तू ने कलाओं का निम्नलिखित विभाजन किया है –

१. अनुकृति के आधार पर [८] - अनुकृतिमूलक काव्य (नाटक सहित), नृत्य एवं संगीत, चित्र एवं मूर्ति।

---

१. वामन, काव्यालंकार सूत्र, १/३/३०-३१। २. भामह, काव्यालंकार, ५/४। ३. गीतं, नृत्यं तथा वाद्यं त्रयम् संगीतमुच्यते। शारंगदेव-संगीत रत्नाकर। ४. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११७। ५. माइकेल सलीवान : अ शार्ट हिस्ट्री ऑफ चाइनीज, पृ० १७३-७४। ६. माइकेल सलीवान : अ शार्ट हिस्ट्री ऑफ चाइनीज, पृ० २०६-२१२। ७. लारेंस बिनयान : पेंटिंग इन द फार ईस्ट, पृ० २३।
८. बचर, रलाफ एण्ड थामस : एरिस्टाटिल्स थ्योरी ऑफ पोएटिक्स एण्ड फाइन आर्ट्स, पृ० ७-१७।

अनुकृतिविहीन – वास्तु एवं अन्य उपयोगी कलाएँ।

२. **गति के आधार पर** [१] - **गतिशील** - काव्य एवं नाटक, नृत्य एवं संगीत। **स्थिर** - चित्र तथा मूर्ति कला।

अरस्तू ने कलाओं में लय की व्यञ्जना में गति को अधिक महत्त्व दिया। श्रवणेन्द्रिय को प्रधान तथा दृष्टि को लयानुभूति में सहायक समझा।

इन्द्रियों के आधार पर हीगेल, बोसांके, बोल्केल्ट, कूल्पे, डिलाक्रोए तथा एडलर ने कलाओं का श्रव्य तथा दृश्य वर्गीकरण किया।

श्रव्य कलाएँ - काव्य तथा संगीत।

दृश्य कलाएँ - मूर्ति तथा चित्र।

श्रव्य-दृश्य कलाएँ - नाटक तथा नृत्य।

काण्ट ने विश्व में क्रिया के चार आयाम माने – प्रकृति, विज्ञान, कला तथा पेशेवर हस्तकौशल। कला के दो भेद हैं : – सौंदर्यबोधात्मक कला और यांत्रिक कला। सौंदर्यबोधात्मक कला के दो भेद हैं : ललित या सुंदर कला तथा सुखमूलक (प्लेजेंट कला)। ललित या सुंदर कला को वाक् कला, गठनीय कला, संवेदनाओं के सुखद विलासवाली कला के अन्तर्गत बाँटा जा सकता है। वाक् कला के अन्तर्गत अलंकार शास्त्र, भाषण कला एक ओर तथा दूसरी ओर काव्य है, गठनीय या नर्मिल (शेपिंग) कला के अन्तर्गत शिल्प तथा वास्तु (भवन एवं फर्नीचर या बर्तन आदि) एक ओर तथा चित्रकला (सज्जात्मक, वेशभूषा) आदि दूसरी ओर हैं; संवेदनाओं के सुखद विलासवाली कला के अन्तर्गत संगीत प्रधान है।[२] बोसांके ने इस विभाजन को नया रूप दिया।

भाषा की कला - काव्य।

स्वरों की कला - संगीत (गायन–वादन)।

रूप की कला - चित्र, मूर्ति तथा भवन।

गति की कला - नृत्य।

हीगेल ने मानव मस्तिष्क की प्रगति के अनुरूप कलाओं के तीन भेद किये। १. प्रतीकात्मक, २. क्लासिकल, ३. रोमांटिक। प्रतीकात्मक कला में 'विचार' पर 'पदार्थ' हावी रहता है। जैसे मिस्र की वास्तुकला, चीन तथा भारत की वास्तु। क्लासिकल कला में पदार्थ और विचार का संतुलन स्थापित हो जाता है : जैसे यूनान की शिल्पकला। रोमांटिक कला में विचार पदार्थ पर हावी हो जाता है, जैसे चित्रकला, संगीत, काव्य आदि। यही नहीं, उन्होंने प्रत्येक युग के लिए तद्नुरूप प्रधान कलारूप तो माना ही, प्रत्येक कला की भी प्रतीकात्मक, रोमांटिक और क्लासिकल दशाएँ मानीं। इस प्रकार उनके वर्गीकरण का दुहरा आधार है – ऐतिहासिक अवस्था का और सामान्य कलारूपों का।[३]

चार्ल्स होम ने सृजन–वृत्ति के आधार पर कलारूपों का विभाजन किया है[४] –

(१) पुनः प्रस्तुतिमूलक। (२) आलंकारिक। (३) निर्माणात्मक।

जार्ज शान्तयाना तथा दीवे ने इन्हें स्वयंचालित (शारीरिक अवयवों द्वारा अभिव्यक्ति तथा रूप रचना) बाह्य सामग्री द्वारा अभिव्यक्ति को दो भागों में विभाजित किया गया है। इसे 'आवयविक क्रियाशीलता' के नाम से अभिहित किया गया है।

---

१. जे० एल० जैरेट। **२. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११४।**

३. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११४-११५। **४. सर चार्ल्स होमं, अ ग्रामर आफ द आर्ट्स, पृ० ५-६।**

देश तथा काल के आधार पर कलाकृतियों का विभाजन निम्न है

स्थानाश्रित कलाएँ - चित्र, मूर्ति, वास्तुकला।

काल अथवा समयाश्रित कलाएँ - काव्य, नृत्य, संगीत।[1]

ओजेनफान्त ने दृश्य कलाओं को भ्रम उत्पन्न करनेवाली कला माना है तथा वास्तु के कुछ रूपों को वे कला मानते हैं जिसका उन्होंने 'मुक्तवास्तु' नाम दिया है। चित्र में आकृतियों के आकार विस्तार का भ्रम होता है। मूर्ति और वास्तु में रूप का भ्रम होता है। मुक्त वास्तु बड़े आकार में बनायी जाती है।[2]

हर्बर्ट रीड ने कहा है कि तीन आवरणों में मनुष्य के विचार प्रकट होते हैं

१. **गति** - अभिनय तथा नृत्य।
२. **रेखात्मक चिह्न तथा प्रतीक** - चित्रकला।
३. **मौखिक संकेत या भाषा प्रतीक** - काव्य।

मध्ययुग में अभिव्यञ्जना शक्ति के आधार पर ईसाई तथा मुस्लिम विचारकों ने कला के दो भेद किये थे –

१. उदार कलाएँ।   २. यांत्रिक कलाएँ।

थियोडोर मायर ग्रीन[4] ने कलाओं के तीन भेद किये –
१. पुनर्प्रस्तुतिमूलक (शिल्प, चित्र)।
२. सूक्ष्म अर्थात् अपुनर्प्रस्तुतिमूलक (वास्तु, नृत्य, संगीत)।
३. प्रतीकात्मक (साहित्य)।

नीत्शे नामक जर्मन दार्शनिक ने कलाकृतियों के प्रभाव को दो प्रकार का बताया है –
१. आदर्शवादी २. यथार्थवादी।

लीव तथा श्री मैरेट ने नृत्य को सर्वोपरि माना है।

ओस्वाल्ड कूल्पे कृत वर्गीकरण अधिक प्रचलित है। यह वर्गीकरण 'कूल्पे–पाइपर–व्यवस्था' कहलाता है जो निम्न है –

१. **दृश्य कलाएँ** - (नेत्रेन्द्रिय को आकुल करनेवाली)।
(क) सतही कलाएँ, सतहों पर कृति रचनेवाली।
  (१) रंगहीन या एक श्वेत रंगी : ड्राइंग (ग्राफिक कलाएँ, फोटोग्राफी)।
  (२) अनेक रंगी : चित्रकला, बुनाई (स्टेंड काँच, फर्शसज्जा)।
  (३) गति सहित : (खामोश सिनेमा, प्रकाश चक्र)।
(ख) ठोस (या तीन आयामों वाली) कलाएँ, ढलने योग्य कृतियाँ रचनेवाली :
  (१) अर्द्ध ठोस : रिलीफ तथा इंटाग्लिओ।
  (२) पूर्णतः ठोस : शिल्प (चीनी मिट्टी कलाएँ)।
  (३) गति सहित : (मूक अभिनय, आतिशबाजी आदि)।
(ग) औसत कलाएँ : सही और ठोस प्रभावों का संयोग करनेवाली।

---

१. जे० एल० जैरेट : द क्वेस्ट फार ब्युटी, पृ० १२।
२. ओजेनफान्त, फाउण्डेशन आफ माडर्न आर्ट, पृ० ३०५।
३. हर्बर्ट रीड, एजुकेशन थ्रो आर्ट, पृ० १७६।
४. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११५।

(१) निर्माणात्मक (टेक्टानिक) कलाएँ।

(२) वास्तुकला (स्मारक, भूचित्र डिजाइन, अंतर्गृहसज्जा, पुष्पकला)।

२. **श्रव्य कलाएँ** (श्रवणेन्द्रियों को आकुल करनेवाली)।

(१) स्वरमान (टोन) सम्बन्धी : संगीत।

(२) शब्द सम्बन्धी : काव्य (सभी साहित्य, भाषणमूलक कलाएँ)।

(३) औसत कलाएँ : स्वरमान तथा शब्द सम्बन्धी : गीत, मेलो ड्रामा (संगीत के संग पाठ)।

३. **दृश्य-श्रव्य कलाएँ** - दोनों उच्चतर इन्दिय्रबोधों को आकुल करनेवाली : (बहुधा वेशभूषा तथा वास्तुकलात्मक पृष्ठभूमि के साथ)।

(१) मुद्राओं (जेस्चर्स) तथा स्वरों से सम्बन्धित : स्वरलिपिमूलक कलाएँ (संगीत के संग नृत्य)।

(२) मुद्राओं, शब्दों तथा दृश्यविधान से संबद्ध : नाटक (कठपुतली)।

(३) मुद्राओं, शब्दों, स्वरों तथा दृश्यविधान से सम्बद्ध : (विशाल उत्सव आयोजन), आपेरा।[१]

आधुनिक युग में कलाओं का विभाजन इस प्रकार किया गया है –

१. **दृश्य कलाएँ :** चित्र, मूर्ति, वास्तु।

२. **मंचीय कलाएँ :** नृत्य, संगीत, नाटक।

३. **उपयोगी कलाएँ :** विज्ञापन, वस्त्रालंकरण, आन्तरिक सज्जा तथा विविध शिल्प।

४. **औद्योगिक कलाएँ :** यन्त्रों से सुन्दर निर्माण।

इन कलाओं में पाँच कला रूपों को प्रमुख माना गया है। इन कलाओं के भी भेदोपभेद हैं। जैसे – वास्तु में रेखाचित्र और प्लानिंग, पुरनिवेश (द्वार–रचना, अट्टालिका–रचना), प्रासाद (मंदिर निर्माण), ध्वजोच्छिति, राजवेश्मभवन (अश्वशाला, गजशाला), यज्ञवेदी, जनभवन (जाति तथा वर्ण के अनुकूल), राजशिविर विनिवेश (दुर्ग–रचना) आदि; चित्रकला में सैकत चित्र, लेप्य चित्र, कारुज चित्र, जलरंगचित्र, तैलचित्र, रेखाचित्र, तिंडुक चित्र, फोटोग्राफी आदि; काव्य में गद्य एवं पद्य; पद्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, चंपूकाव्य, गीतिकाव्य, गीतकाव्य (संबोधनगीत, वीरगति, शोकगीत), मुक्तछंद, अतुकांत काव्य आदि; गद्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, लेख, गद्यगीत, रिपोर्ताज आदि; नाटक में दशरूपक, पठनीय नाटक, रंगमंचीय नाटक, पद्यनाटक, भावनाटक, रेडियो नाटक, दूरदर्शन नाटक, बैले, मूकाभिनय आदि। इस प्रकार माध्यम भेद, विषयवस्तु भेद, रूपभेद आदि के कारण नयी–नयी कलाविधाएँ विकसित होती रहती हैं।

चित्रकला

'चीयते' इति चित्रम्। चित्रकार चयन करता है। वह अपने चित्र में अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् दोनों के भावों का चयन कर स्पष्ट करने का यत्न करता है। चित्र में वात्स्यायन कथित षडंगों का सम्यक् निरूपण आवश्यक है वरना वह चित्र, चित्र कहलाने योग्य नहीं है।[२] ललित कलाओं में चित्रकला में सर्वाधिक विषय–विस्तार और विषय–विवृत्ति है। भारत में चित्रकर्म को ऐहिक लोकयात्रा का साधन और पारलौकिक निःश्रेयस् का कारण माना गया है। चित्रकार की स्थिति योगी तथा तत्त्वविद् की है। तत्त्वविद् तो सर्वसामान्य की पहुँच से बाहर के लोक का ही निर्माण करता है किन्तु चित्रकार भौतिक जीवन में

---

१. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ११६।

२. रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्य योजनम्।
सादृश्य वर्णिकाभंगं इति चित्रं षडंगकम्।। - कामसूत्र १ अधिकरण, ३ अध्याय।

आनन्द–लाभ तथा यश का अर्जन कर परम आनन्द तथा परम यश अर्जित करता है। लौकिक आनन्द में ही पारलौकिक आनन्द का अनुभव करना यही मनुष्य जन्म की पूर्णता की अद्‌भुत क्षमता है जिसके लिए अनवरत अभ्यास और अध्ययन की आवश्यकता है।

चित्रकला का इतिहास मानव–जीवन के प्रारम्भ से ही शुरू होता है। मानव प्रारम्भ से ही प्रकृति के रहस्यों को समझकर अपनी वृत्तियों को किसी–न–किसी माध्यम से अभिव्यक्त करता रहा। गुफाओं में प्राप्त आड़ी–तिरछी रेखाएँ इसका उदाहरण हैं। स्पेन, फ्रांस, दक्षिण रोडेशिया, पेरू, अलास्का, लौसेक्स और भारत आदि में आदिम युग की ये चित्रांकित गुफाएँ प्राप्त हैं। इसका समय ५०,०००–१०,००० ई० पू० आँका गया है। ये अवशेष नव पाषाणकाल के हैं।

प्रागैतिहासिक आलेखनों एवं चित्रों का अनुशीलन करनेवाले विद्वानों में एलन हाटन बाड्रिक, स्टुअर्ट पिगाड, डी० यच० गार्डेन, प्रो० जुनेर, लियोनार्ड अदम, श्री यफ० आर० अल्चिन तथा श्रीमती आल्चिन, सी० ए० सिल्वे लाड, पंचानन मित्र और मनोरंजन घोष आदि का नाम प्रमुख है।[१] बाड्रिक की पुस्तक 'प्रि–हिस्टोरिक पेंटिंग' और पिगाट की पुस्तक 'प्रि–हिस्टोरिक इंडिया' में प्रामाणिक सामग्री प्राप्त है। डी० यच० गार्डेन ने १६३६ में 'The Rock of Mahadev hills.' नामक लेख में २० फलक पर ५१ रेखाचित्र, ५० छायाचित्र और ३०० रेखाचित्र तैयार कराये थे। इसका विस्तृत विवरण अध्याय ४ में उल्लिखित है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में चित्रकला के प्रमाण मृद्‌भाण्डों, खिलौनों आदि में प्रचुर रूप में प्राप्त है। पाणिनि ने पशुओं को चिह्नित करने के लिए कुछ लक्षणों की चर्चा की है। रेखांकन बिना इन लक्षणों को समझना असम्भव है। बौद्ध काल में चित्रों की प्रचुरता से प्रचार–प्रसार के कारण उन्होंने अपने अनुयायियों को इसमें न प्रवृत्त होने की आज्ञा दी।[२] 'मानसार' ग्रन्थ में मूर्तियों की सफल रचना के लिए चित्रकला के रचना–विधान का ज्ञान होना आवश्यक माना गया। मानसार में देवों, देवियों के शरीरों तथा उनके वस्त्रों के रंगों का वर्णन है। राजा भोजदेव कृत 'समरांगण सूत्रधार' में मूर्तिरचना विधि के बीच–बीच में चित्ररचना विधि की व्याख्या है तथा चित्रकला को सब कलाओं में प्रमुख माना गया है।[३] 'हयशीर्ष पंचरात्र' में चित्रजा प्रतिमा की प्रशंसा है। चित्रकला समस्त शिल्पों में प्रधान ही नहीं है वरन् वह भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक भावना तथा सत्यं, शिवं और सुंदरम् की समन्वित भावना की अभिव्यक्ति करती है।[४] स्कन्दपुराण ३ के ४०वें अध्याय में भित्तिचित्र रचना की विधियों एवं उनके उपायों एवं साधनों का वर्णन है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नृत्यकला की भाँति चित्रकला का भी उद्देश्य तीनों लोको में प्राप्त अनुभवगम्य वस्तुओं की अनुकृति करते हुए उनके आदर्श रूपों को प्रदर्शित करना है। नृत्यकला में भावानुरूप वस्त्रभूषा पहनकर आँखों तथा शरीर के अन्य अंगों के क्रमबद्ध परिचालन से एक मानसिक दशा को नृत्य कला में प्रदर्शित किया जाता है, परन्तु चित्रकला में इस प्रकार के क्रमरूप कार्य का केवल एक अंश अर्थात् पूरी क्रम–श्रृंखला की केवल एक कड़ी को प्रदर्शित करते हैं।[५] 'शिल्पशास्त्र' में चित्र के षडंग का वर्णन है। यशोधर पंडित के आलेख्य के छह अंग को ही शिल्पशास्त्र में षडंग के नाम से अभिहित किया गया है।

१. **रूपभेद** - रूप शब्द आकृति के लिए आया है। प्रत्येक आकृतियों में विभिन्नता। प्रत्येक आकृतियों में सौन्दर्य का दिग्दर्शन होना चाहिए जिसके लिए मन के प्रकाश की आवश्यकता है।

---

१. वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, पृ० ३३।
२. आचारांग सूत्र - २/२/३/१३।
३. चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्। समरांगण सूत्रधार।
४. 'भारतीय वास्तुशास्त्र' (प्रतिमा विज्ञान), पृ० २१३-२१४।
५. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३३१।

२. **प्रमाण** - प्रमाण का अर्थ है मान–परिमाण। वस्तु–रूप के बारे में भ्रमरहित ज्ञान होना, अर्थात् मूलवस्तु की यथार्थता का ज्ञान होना चाहिए। निकटता, दूरी, लम्बाई–चौड़ाई इत्यादि का ज्ञान ही प्रमाण है।

३. **भाव** - विभावजनित चित्तवृत्ति को भाव कहा जाता है। शरीर और इन्द्रिय सभी में विकार पैदा करना भाव का कार्य है। भाव–भंगिमाओं से रसों को उद्घाटित किया जाता है।

४. **लावण्य योजना** - लावण्य भाव को प्रकाशित करता है। भाव आभ्यन्तर सौन्दर्य का बोधक है और लावण्य बाह्य सौंदर्य का अभिव्यञ्जक। आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान (व्यंग्य) को लावण्य कहा है।[1]

५. **सादृश्य** - वस्तु की प्रतिकृति की समानता को सादृश्य कहते हैं। एक का भाव जब दूसरे का उद्रेक करे अर्थात् किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से जानना सादृश्य है उदाहरणार्थ वेणी से सर्प का सादृश्य दिखलाना। बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव को सादृश्य कहते हैं।

६. **वर्णिका भंग** - नाना वर्णों की सम्मिलित भंगिमा को वर्णिका भंग कहा गया है। रंगों के भेद तथा उसके भाव से ही वस्तु की विभिन्नता को व्यक्त करने में हम समर्थ हो सकते हैं।

इन षडंगों का विस्तार से वर्णन हमने तृतीय अध्याय में किया है।

'चित्रसूत्र' में चित्र में पाँच प्रकार के पुरुष का वर्णन है : हंस, भद्र, मालव्य, रुचक और शशक। स्त्रियों के भी वही प्रकार होते हैं। 'चित्रसूत्र' में पुरुषों के अंग–प्रत्यंग के प्रमाण, आकार आदि का वर्णन है। चित्रों में नौ प्रकार के स्थान हैं : ऋज्वागत, अनृजु, साचीकृत, अर्द्धविलोचन, पार्श्वागत, परावृत्त, पृष्ठागत, पुरावृत्त और समानत।[2] इन स्थानों का वर्णन 'शिल्परत्न' के चित्रलक्षण में भी आया है। वहाँ पक्षसूत्र, ब्रह्मसूत्र, बहिःसूत्र तीन रेखाओं के द्वारा आकृतियों के अंकन का विधान बताया गया है तथा अलग–अलग मुद्राओं के चित्रण की रेखाओं का अलग–अलग नाम दिया गया है। 'चित्रसूत्र' में पाँच प्रधान रंग वर्णित हैं। श्वेत, पीत, पीलापन लिये श्वेत, कृष्ण और नील। उनके सैकड़ों अवांतर भेद हैं।[3] चित्र चार प्रकार के होते हैं – सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र। 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है। **१. विद्धचित्र** - दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति सादृश्य को विद्धचित्र कहते हैं। **२. अविद्धचित्र** - काल्पनिक या भावोपपन्न चित्र को अविद्धचित्र कहते हैं। **३. रसचित्र** - रसों से तादात्म्य स्थापित करनेवाले चित्र को रसचित्र कहते हैं। **४. धूलिचित्र** - विभिन्न रंगों को जमीन पर भुरककर आकृतियों का चित्रण धूलिचित्र है। उदाहरणार्थ – अल्पना, चौक पूरना इत्यादि। तीन प्रकार के चित्रों का विवरण इतिहास में प्राप्त है। १. भित्तिचित्र २. चित्रपट ३. चित्रफलक। चित्र की रेखाएँ या वर्तना तीन प्रकार की होती थीं : पत्रवर्तना, आहैरिक वर्तना तथा बिंदुवर्तना। इन वर्तनाओं का उल्लेख साहित्य में कामिनियों के मुखमण्डल की सजावट के लिए आया है। रेखाओं का दुर्बल होना, परस्पर सटे होना तथा कई रेखाओं का दिखना आदि चित्र दोष हैं तथा स्थान, मान, आधार, कोमलता, विभक्तता, समानता, क्षय और वृद्धि (आवश्यकतानुसार) ये आठ चित्र के गुण हैं। उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन कोटि के चित्र बताये गये हैं। चित्र में नौ रसों का भी भावानुसार वर्णन किया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्रदान करने वाली चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ है। इन सभी का विस्तृत वर्णन 'चित्रकला का ललित कलाओं में विशिष्ट स्थान' शीर्षक में किया गया है।

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। - ध्वन्यालोक, १/४।

२. चित्रसूत्र ३६/१-३।

३. चित्रसूत्र ४०/१६।

'समरांगण सूत्रधार' में कलाकार के गुण भी बताये गये हैं। (१) प्रज्ञा, (२) निरीक्षण शक्ति, (३) अभ्यास के द्वारा प्राप्त हस्तकौशल, (४) छंद और संतुलन के विज्ञान की शिक्षा, (५) मानव और पशु के विभिन्न शरीरों की रचना की गति, स्थिरता एवं विभिन्न आवेगों के प्रभाव में ज्ञान, (६) प्रत्युत्पन्नमतित्व (७) आत्मसंयम और चरित्र।[1]

'मानसार' शिल्पियों को चार वर्गों में रखता है : स्थपित, सूत्रग्रही, वर्द्धकी और तक्षक। प्रत्येक शास्त्र तथा वेद का ज्ञान स्थपित शिल्पी के लिए आवश्यक था। सूत्रग्रही शिल्पी को भी वेदों तथा शास्त्रों का पंडित होना तथा रचना और अलंकरण में दक्ष होना चाहिए। वर्द्धकी शिल्पी वेद और शास्त्रों के ज्ञान के साथ-साथ अलंकरण में भी दक्ष होता था। वर्द्धकी शिल्पी में वेदों और शास्त्रों के ज्ञान के साथ प्रमाणशास्त्र में दक्ष होना आवश्यक था। निपुण गुणग्राहिता तथा कुशल चित्रकार के भी गुण इनमें होते थे। तक्षक में भी वेदों, शास्त्रों का ज्ञान तथा स्वकार्य कुशलता के अतिरिक्त उसका सामाजिक, विश्वासी, दयालु, शारीरिक तथा मानसिक कार्यों में दक्ष होना आवश्यक था। वह काष्ठकला, वास्तुकला, लौहकला तथा चित्रकला में कुशल होता था।[2] इस प्रकार चित्रकार के लिए प्रतिभा, साधना और निष्ठा परमावश्यक है।

भारतीय चित्रकला के उदाहरण प्रस्तर-काल से मिलते हैं। शास्त्रीय आधार पर चित्र ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से बनने लगे थे। पारम्परिक रूप में प्रत्येक युग के चित्र प्राप्य हैं। कुछ युगों में चित्र का अवशेष न मिलने का कारण चित्र-विहीन होना नहीं है बल्कि किसी कारणवश ठीक से रखा जाना असम्भव रहा होगा। चित्रकला की प्रधान शैलियाँ छह हैं : – १. अजंता शैली, २. गुजरात शैली, ३. मुगल शैली, ४. राजपूत शैली, ५. दकनी शैली और ६. वर्तमान शैली।

आधुनिक भारतीय कलाशास्त्रकार देखने की ज्ञानेन्द्रिय आँख और सुनने की ज्ञानेन्द्रिय कान को ही कलानुभावक इन्द्रियाँ प्रतिपादित करते हैं। ये दो ही ज्ञानेन्द्रियाँ ऐसी हैं जो अपनी ज्ञेय वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता को यथापूर्व बनी रहने देती हैं। ज्ञेय वस्तु एक ही प्रमाता के लिए न होकर एक ही समय में अनेक प्रमाताओं के लिए होती है।[3] प्रमाता दर्शक और प्रमेय कलाकृतियों में भाव्य-भावक सम्बन्ध के द्वारा साधारणीकरण होता है। कलाबोधक इन्द्रियों के आधार पर कलाकृतियों एवं कलाओं को तीन वर्गों में रखा गया है। **१. दृश्य २. श्रव्य ३. दृश्य-श्रव्य।** प्रथम वर्ग में वास्तु तथा उसके अधीनस्थ चित्रकला, मूर्तिकला हैं। दूसरे वर्ग में काव्य और संगीत तथा तीसरे में नाट्यकला है। नाट्य में चित्र का अनुक्रम होता है तथा चित्र में नाट्य के एक दृश्य का अंकन। दोनों कलाएँ अनुकरणीय हैं, दृश्य हैं तथा अन्योन्याश्रित भी। चित्र और काव्य दोनों में रसदृष्टि की विभावना हुई है। चित्रकला के षडंगों में रूपभेद शब्द है, प्रमाणरीति, भाव, स्थायीभाव, लावण्ययोजन रसध्वनि, सादृश्य अलंकार तथा वर्णिका भंग औचित्य है। 'मानसार' में चित्र को चित्रभाषा कहा गया है। चित्र की रसदृष्टि से सर्वांगीण व्याख्या की जा सकती है।[4] 'समरांगण सूत्रधार' में चित्रकला के अन्तर्गत रस अनुकूल भाव एवं तद्रूप रसदृष्टि का निरूपण हुआ है। श्रृंगार रस में भाव के लिए चंचल लोचन, प्रियदर्शी मुखाकृति तथा ललिता या विभ्रमा या संकुचिता नामक रसदृष्टि का विधान है। हास्य में भाव के रूप में अपांगों में प्रसन्नता, दीप्त अधर तथा विकसिता नामक रसदृष्टि की परिकल्पना है। करुण में भाव के रूप में आँसू भरे कपोल, बंद नेत्र तथा दीना या विह्वला नामक रसदृष्टि का प्रयोजन है।[5] ये भयानक में भावरूप में उलझे नेत्र, झुका शरीर तथा विकृता

---

१. समरांगण सूत्रधार, पृ० ३५१।
२. रामचन्द्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, पृ० ६५।
३. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्र कलाशास्त्र, पृ० ६१६।
४. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ७६।
५. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ८२।

या विह्वला या कुंचिता रसदृष्टि वांछनीय हैं। प्रेम में सारे शरीर में पुलक तथा द्रष्टा रसदृष्टि की योजना है। रौद्र में भावरूप में लाल आँखें, फैला मस्तक, दाँतों के नीचे दबा हुआ निचला अधर स्वीकृत है। इसी तरह वीर की रसदृष्टि द्रष्टा तथा शांत की योगिनी है। भरत ने भी रसों को रंगों से व्यञ्जित करने की कल्पना की; जैसे शृंगार के लिए श्याम, हास्य के लिए श्वेत, करुण के लिए धूसर, श्वेत, रौद्र के लिए रक्त, वीर के लिए पीत, श्वेत या गौर, भयानक के लिए कृष्ण, वीभत्स के लिए नील तथा अद्भुत के लिए पीत रंग का विधान है।

ललित कलाओं में चित्रकला अपने षडंगों के कारण सर्वदृष्टि से प्रधान परिलक्षित होती है क्योंकि कलाओं का सूक्ष्म ज्ञान स्थूल माध्यमों के द्वारा ही अनुभवगम्य है। वह सभी माध्यम चित्रकला में ही प्रकाश्य हैं। वास्तु, मूर्ति, काव्य में तो चित्र की आवश्यकता है ही, संगीत में भी राग–रागिनियों के चित्र बनाये गये हैं। आत्मतत्त्व को प्रकट न करने के कारण चित्रकला को आत्महीन कहकर 'अवर'[१] कहा गया है वह नितान्त असंगत है। कला की आत्मा रस है और चित्रकला का स्वरूप सभी रसों से ओत–प्रोत है।

संगीत कला

श्रव्य रूपों की पहली इकाई ध्वनि या वर्ण (साउण्ड या सिलेबल) है। भाषा और संगीत दोनों का उद्भव भावव्यञ्जक ध्वनि से हुआ है। मानव के कण्ठ में भिन्न–भिन्न परिमाण और अनेक प्रकार की तन्त्रियाँ हैं जिनसे वह बहुत–से स्वर व्यक्त कर सकता है। भाषा और संगीत दोनों का उद्भव भावव्यञ्जक ध्वनि से ही हुआ है। भावव्यञ्जक ध्वनि दो कारणों से संगीतमय नाद या स्वर की अवस्था को धारण कर लेती है – एक कण्ठ की बनावट और दूसरे ध्वनि की स्थिरता और नियमितता। भारतीय शास्त्रों के अनुसार नाद ब्रह्म है। पाणिनि के अनुसार शंकर के डमरू से पहली बार वर्णों का समायोजन उत्पन्न हुआ जिसे 'माहेश्वर सूत्र' के रूप में उल्लिखित किया गया। डमरू एक वाद्य यंत्र है और इससे सर्वप्रथम सूत्रों का आविर्भाव हुआ जिस पर सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय आधृत है।

संगीत का शब्दार्थ - 'सम' (सम्यक्) और गीत दो शब्दों के संयोग से संगीत शब्द बनता है। मौखिक गाना ही गीत है तथा 'सम' का अर्थ है 'अच्छा'। वाद्य और नृत्य इन दोनों के मिलने से गीत का पूर्ण स्वरूप बन जाता है अर्थात् अच्छा बन जाता है। आजकल गीत, वाद्य एवं नृत्य के अलग–अलग रूपों को अथवा गीत और वाद्य को भी संगीत कहते हैं।

प्राचीन महर्षियों का संगीत अध्यात्मवाद पर आधारित था। महर्षि भरत ने राग में एक ही स्वर को ग्रह, अंश तथा न्यास माना है। 'नाद' स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। छान्दोग्य उपनिषद् में आकाश को ब्रह्म माना गया है। बृहदारण्यक में आकाश को ब्रह्म का शरीर माना है। आकाश अनन्त है तथा महाप्रलय के उपरान्त भी आकाश रहता है। आकाश का धर्म है शब्द, नाद, स्वर अथवा ध्वनि। आकाश के, वेदों में सप्त आवरण वर्णित हैं जिन्हें वैज्ञानिक 'आकर्षण शक्ति' मानते हैं। इन्हीं सप्त आवरणों से सात ध्वनियाँ उत्पन्न हुईं जो **सा, रे, ग, म, प, ध, नी** कहलायीं। पहला आवरण आकाश के सफेद रंग का है, इसलिए उसकी ध्वनि को **स** की संज्ञा दी। दूसरे आवरण का रंग रेतीले रंग का है, इसलिए उसकी ध्वनि को **रे** की संज्ञा दी। तीसरे आवरण का रंग गेहुँआ है इसलिए उसकी ध्वनि को **ग** की संज्ञा दी। चौथा आवरण मध्य का भी है तथा रंग महावरी है इसलिए उसकी ध्वनि का नाम **म** हुआ। पाँचवें आवरण की ध्वनि को पंचम की

---

१. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यंत्ववरं स्मृतं -काव्यप्रकाश -मम्मट। तीन शब्द शक्तियों के रूप में चित्रकला में विद्धचित्र, मानचित्र और रेखाचित्र की कल्पना है।

संज्ञा दी तथा इसका रंग बसन्ती (पीला) हुआ। माघ शुक्ल पंचमी को आकाश के पंचम आवर्ण का पृथ्वी पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उस पंचमी को वसन्त पंचमी कहते हैं। माघ में वसन्त ऋतु नहीं होती। वसन्त ऋतु का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। उस दिन पीले कपड़े पहनकर धूप में बैठने से अनेक रोगों का निवारण होता है। इसकी ध्वनि का **प** की संज्ञा दी। छठे आवरण का रंग धानी है तथा इसकी ध्वनि को **ध** की संज्ञा दी। अन्तिम सप्त आवरण का रंग नीला है, इसलिए उसकी ध्वनि को **नी** की संज्ञा दी। सूर्य एक आग का गोला है। उसमें कोई रंग नहीं होता। वर्षाकाल में आकाश के सप्त आवरणों के प्रतिबिम्ब को इन्द्रधनुष कहते हैं जिसमें सात रंग होते हैं। यह रंग सूर्य अथवा उसकी किरणों में नहीं होते। यह आकाश के सप्त आवरणों के ही रंग होते हैं। शरीर में भी तीन आकाश होते हैं – हृदयाकाश, चित्ताकाश तथा चिदाकाश। इन्हीं तीनों आकाशों द्वारा उत्पन्न ध्वनियों को मंद्र, मध्य तथा तारसप्तक की ध्वनियाँ कहते हैं।[1] स्वर से ही संगीत जगत् की उत्पत्ति होती है तथा संगीत की सृष्टि में राग–रागिनी विचरते हैं। इस प्रकार गृह का शाब्दिक अर्थ है घर यानी राग का स्वर में निवास रहता है। जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्म अथवा ईश्वर का ही अंश है, उसी प्रकार राग–रूपी शरीर में उसी स्वर को अंश माना है और उसी स्वर पर राग समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और महाप्रलय उपरान्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है उसी प्रकार राग उसी स्वर में निवास करता है। उसी से उत्पत्ति होती है तथा उसी में विलीन हो जाता है। हमारे संगीतशास्त्र में विविध परम्पराएँ हैं। जिनमें तीन मुख्य हैं –

१. वैदिक परम्परा।
२. आगमों और पुराणों की परम्परा।
३. ऋषि प्रोक्त संहिता परम्परा।

वेद–परम्परा में हमारे संगीत की उत्पत्ति सामवेद से मानी जाती है **'सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः'** मीमांसा सूत्र ७.२.७ पर शाबर भाष्य द्रष्टव्य है **'स्वरः सामशब्देन लोकेऽभिधीयते' 'सुसामा देवदत्तः सुस्वरो देवदत्त इति।'** अर्थात् प्रयोग में स्वर का पर्यवसान शब्द है। मीमांसा सूत्र २.१.३६ में **'गीतिषु सामाख्या'** गीत के लिए साम शब्द का प्रयोग होता है जो ऋक् मन्त्र यज्ञानुष्ठान में गान के काम आते हैं। उनके संग्रह को सामसंहिता कहते हैं। ऋग्वेद में स्वर के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद पाये जाते हैं। संगीत में स्वर शब्द 'नाद' अर्थात् संगीतोपयोगी ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए शारंगदेव ने 'संगीतरत्नाकर' में स्वर की व्याख्या इस प्रकार की है – **'स्वतो रञ्जयति' श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।'**[2] ऋग्वेद के दसवें मण्डल में निम्नलिखित मन्त्र आता है –

तदित्सधस्थ'मभि चारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः।
माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभिवाणस्य सप्तधातुरिज्जनः।। (१०. ३२. ४)

इसमें **'वाणस्य सप्तधातुः'** पर सायण भाष्य इस प्रकार है – **'वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुर्निषादादि सप्तस्वरोपेतो।'** सायण ने वाण का अर्थ वाद्य लिया है और 'सप्त धातुः' का अर्थ निषादादि सात स्वर माना है। सामवेद में तो धीरे–धीरे सातों स्वरों का प्रयोग हो ही गया था। ऋग्वेद में दुन्दुभि, कर्करी का नाम मिलता है। ऋग्वेद में आघाटि घनवाद्य का विशेष प्रयोग था। ऋग्वेद में दो सुषिर वाद्य का उल्लेख आया है। बाकुर और नाळी (नाड़ी) **'बाकुरं दृतिम्'** बाँकुरी कोई फूँककर बजानेवाला यन्त्र था। ऋग्वेद के ६.६७.८ मन्त्र में वीणा के अर्थ में 'वाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में **'को बाणं को नृतो दधौ'** यहाँ बाण का लाक्षणिक अर्थ शब्द–गान–वाद्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. डॉ० टी० आर० शुक्ल, भारतीय संगीत की वास्तविक रूपरेखा - पृष्ठ १६-१७।
२. अड्यार संस्करण, भाग १, प्रथम अध्याय, पृ० ८२, श्लोक २४।

वेदों में साम संगीत का पर्यायवाची बन गया। सामवेद ने मातु (बोल) ऋग्वेद से लिया है और धातु (स्वर) स्वयं दिया है। नारदीय शिक्षा में नारद ने स्पष्ट रूप से कहा है –

एकान्तरस्वरोहयृक्षु गाथासु द्वयन्तरं स्वरः।
सामसु त्र्यन्तरे विद्यादेवतावत्स्वरतोऽन्तरम्।। १.१.३

ऋक् एक स्वर का गान है, गाथा दो स्वर का। और साम तीन स्वर का। समागान आदि में ग रे स इन तीन स्वरों का गुंजन था। आज भी जो सामगान प्रचलित है उसका विश्लेषण करने से ३–४ स्वर ही अधिकतर मिलते हैं और वे हैं ग् रे स नि। मध्यम, धैवत और पंचम का प्रयोग बहुत अल्प है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १०वें सूक्त के प्रथम ऋक् में नृत्य का उल्लेख है।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येभिरे।।१।।

सायण भाष्य के अनुसार अर्थ इस प्रकार है – उद्गाता लोग तुम्हारा गान करते हैं। होता लोग अर्चनीय इन्द्र की प्रशंसा करते हैं। अन्य ब्राह्मण तुम्हें उन्नति को प्राप्त कराते हैं। इसमें नृत्य का उल्लेख 'उद्वंशमिव' दृष्टान्त में आया है।

अथर्ववेद में भी गान के साथ नृत्य का उल्लेख है। संहिता काल में स्त्रियाँ यज्ञकुण्ड के चारों ओर सिर पर घड़ा रखकर, नाचती हुई प्रदक्षिणा करती थीं। देव–सम्बन्धी कार्य के अतिरिक्त यज्ञ एक उत्सव भी माना जाता था जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य तीनों के लिए पर्याप्त स्थान था।

सामविधान ब्राह्मण, तैत्तिरीय, ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में संगीत सम्बन्धी चर्चा है।

ऐतरेयारण्यक ने शरीर को दैवी वीणा माना है और मानुषी वीणा–जो काष्ठ वीणा मनुष्य द्वारा बनायी और बजायी जाती है – को दैवी वीणा की अनुकृति मात्र माना है। एकतन्त्री, त्रितन्त्री, वीणा, पञ्चतन्त्री, सप्ततन्त्री, शततन्त्री इत्यादि अथवा विपञ्ची, मत्तकोकिला वीणा इत्यादि आधुनिक सरोद के रूप हैं।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक में दुन्दुभि, शंख और वीणा का उल्लेख है। शां श्रौत सूत्र १७. १.३ में शततन्त्री वीणा का विस्तृत वर्णन है।

ऋक् प्रातिशाख्य में संगीत विषयक सामग्री तेरहवें पटल के ४२ से ५०वें सूत्र तक है। याज्ञवल्क्य शिक्षा, माण्डूकीय शिक्षा, नारदीय शिक्षा में संगीत गान की और गायक के गुण–दोष इत्यादि की भी चर्चा है।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में बाँसुरी, तंत्रीयुक्त वीणा, चमड़े के कई प्रकार के वाद्य यन्त्र, दो नर्तकियों की काँसे की मूर्तियाँ और एक नर्तक की पत्थर की भग्न मूर्ति इत्यादि संगीत सम्बन्धी सामग्रियाँ मिली हैं। ईसा से लगभग ५००० वर्ष पूर्व भारतीय संगीत की उन्नति हो चुकी थी। अहमदाबाद जिले में लोथल की खुदाई में नृत्य मुद्रा में काँसे की मूर्ति मिली है। रामायण का कुशीलवों ने चारों ओर गान करके प्रचार किया। रामायण काल में तत्, अवनद्ध, सुषिर और घन सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था **'आतोद्यानि विचित्राणि'**........(सु० १०/४६)। आतोद्य वाद्यों के लिए आया है। सु० २०/१० में गीत **'नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मैथिलि'** आया है। बालकाण्ड के चौथे सर्ग के आठवें श्लोक में संगीत के

बहुत–से शब्द आये हैं।

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलय समन्वितम्।।८।।
रसैः श्रृंगार करुण हास्य रौद्र भयानकैः।
वीरादिभिर्रसैर्युक्तं काव्यमेतद् गायताम्।।९।।

अर्थात् कुश और लव ने रामायण काव्य को गाया। वह पाठ्य और गेय दोनों में मधुर था, तीनों प्रमाणों और सात जातियों से युक्त था, वीणा और लय के साथ उसका गान उन दोनों राजपुत्रों ने किया। वह काव्य श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर इत्यादि रसों से युक्त था। वीणा, वेणु, वंश, शंख, दुन्दुभि, भेरी, मृदंग, पणव इत्यादि वाद्य यन्त्र का नाम आया है। पटह, ढोल से मिलता–जुलता वाद्ययन्त्र है। डिण्डिम = डमरू, आडम्बर = डम्ब डम्ब की ध्वनि, भड्डुक = हुडुक्क, मुरज, मृदंग, चेलिका = चमड़े से मढ़ा हुआ वाद्य, कोण = बजाने का डण्डा या उपकरण, आदि वाद्ययन्त्र था। स्वर और जाति का प्रयोग तो उन्नत दशा में था। कला और मात्रा के विशेषज्ञ के बारे में उत्तर काण्ड ९४/७ में आया है। रामायण काल में राजा लोग कलाकारों को प्रचुर धन देते थे (उ० का० ९४।१७।१८)। राज–दरबार में उनका विशेष सम्मान था। राज्याश्रय में ही भारत की समस्त कलाओं का पल्लवन हुआ है। सभी राजाओं के यहाँ कलाकार रहा करते थे।

महाभारत में संगीत के स्थान पर गान्धर्व का प्रयोग मिलता है। अतिवाहु, हाहा, हूहू और तुम्बरु गन्धर्वों में श्रेष्ठ समझे जाते थे। महाभारत काल में गान्धर्व शास्त्र उन्नत दशा में था। उसमें गीत, वाद्य और नृत्य तीनों सम्मिलित थे। सभ्य समाज में संगीत का समादर था। संस्कृति और शिक्षा का यह एक आवश्यक अंग समझा जाता था। शान्तिपर्व में सप्तस्वरों का उल्लेख है।

षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पंचमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्।। (शान्ति पर्व १८४, ३९)

महाभारत काल में वेदगान यथेष्ट रूप में होता था। यज्ञ के समय सामगान के अतिरिक्त स्तुति, स्तोत्र, गाथा इत्यादि का भी गान होता था। आश्वमेधिक पर्व ८८, ३९–४० में यज्ञ कर्म के समय नारद, तुम्बरु, विश्वावसु, चित्रसेन इत्यादि गन्धर्वों ने, जो गाने में कुशल थे और अन्य गन्धर्व जो नृत्य में कुशल थे, इन लोगों ने यज्ञ के समय एकत्र हुए ब्राह्मणों का मनोरंजन किया। उद्योगपर्व ९४.२१ में श्रीकृष्ण के प्रयाण के समय मृदंग इत्यादि अनवद्ध बाजे बजाये गये, शंख बजाये गये तथा और भी भिन्न–भिन्न प्रकार के वाद्य बजाये गये।

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैक पुष्कराः।
शंखाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च। (उ० ९४, २१)

समाज में गन्धर्व अभिजात संगीत के गायक थे। इनके अतिरिक्त स्तुति, मंगल, वीरगाथा इत्यादि के व्यवसायी गायक भी थे जो नट, सूत, बन्दी, मागध, वैतालिक इत्यादि कहलाते थे।

भेरी, तूर्य, वारिज, पणव, कांस्य = झाँझ और मँजीरा आदि वाद्ययन्त्र प्रयुक्त होते थे। द्रोणपर्व में वाद्यों का नाम आया है।

संगीत का षड्ज, मध्यम और गान्धार तीनों ग्रामों में प्रयोग होता था। यज्ञ के समय, विवाह, पुत्र–जन्म इत्यादि विभिन्न संस्कारों और उत्सवों के समय नृत्य, गान, वादन होते थे। रणभूमि में रणवाद्यों

का प्रयोग होता था। अर्जुन, उत्तरा, कच, देवयानी इत्यादि ने संगीत में उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त की थी। बड़े–बड़े नगरों में नर्तनागार और संगीतशालाएँ थीं।

वायुपुराण में सूत पहले स्वर मण्डल के विषय में बतलाते हैं।

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छना चैकविंशतिः।
तानाश्चैकोनपंचाशत् इत्येतत् स्वरमण्डलम्।।

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना और उञ्चास तान की सामुदायिक संज्ञा स्वरमण्डल है। नारदीय शिक्षा में भी बहुत थोड़े अन्तर के साथ स्वरमण्डल के विषय में यही श्लोक मिलता है। ग्रामों में ४६ तानें बतायी गयी हैं।

विंशतिर्मध्यग्रामं षड्जग्रामं चतुर्दशः।
तानाः पंचदशप्रोक्ता गान्धार ग्राममाश्रिताः।। (८६–३०)

गुरु, लघु अक्षरों और भिन्न तालों के आधार पर भिन्न प्रकार के रचित गीत गीतक कहलाते थे। मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, रोविन्द अथवा रोविन्दक और औवेणक तथा उत्तर इन सात प्रकार के गीतकों का उल्लेख हुआ है।

मार्कण्डेय पुराण के २३वें अध्याय में सरस्वती और नागराज अश्वतर के बीच संवाद के रूप में संगीत विषयक बातें हुई हैं। ये संगीत के आचार्य थे। सरस्वती कहती है कि सात स्पष्ट हैं, सात ग्रामराग हैं, सात गीतक हैं। ४६ तानें हैं और ग्राम हैं। चार प्रकार के पद और ताल हैं, तीन प्रकार के लय हैं, चार प्रकार के आतोद्य (वाद्य) हैं।

विष्णुधर्मोत्तर के १८वें अध्याय में गीत का वर्णन है और १६वें अध्याय में वाद्य का। पद, स्वर, ताल और प्रयोग की दृष्टि से विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गीत को चतुर्विध बतलाया है। वादी, संवादी और अनुवादी को वृत्ति कहा है। सात स्वरों को नौ रसों का व्यञ्जक बतलाया है। हास्य और शृंगार में मध्यम और पंचम। वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज और ऋषभ। करुण रस में निषाद और गान्धार। वीभत्स और भयानक रस में धैवत। हास्य और शृंगार में मध्यलय, वीभत्स और भयानक में विलम्बित, वीर, रौद्र और अद्भुत में द्रुत। चोक्षाप्रयोग रूपक के अर्थ में आया है। ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाड़व आदि जातियों के लक्षण मिलते हैं। तत्, सुषिर, घन, अनवद्ध आदि वाद्य यन्त्रों के नाम आये हैं। चच्चतपुट, चाचपुट, पंचपाणि, षट्पितापुत्र तालों के नाम आये हैं। अनवद्ध वाद्यों के बजाने के चार मार्ग बतलाये गये हैं – १. अंकित २. वितस्त ३. आलिप्त और ४. गोमुखी।

अष्टाध्यायी के (२.४.२) सूत्र में 'तूर्याड्ग' का उल्लेख मिलता है जो ताड़ित किया जाये। यह शब्द 'तूर्य' (वाद्य) है। 'मार्दग्कि–पाणविकम्' मृदंग के बजानेवाले को मार्दग्कि और प्रणव को बजानेवालों को पाणविक कहते थे। दूसरा उदाहरण – 'वीणावादक–परिवादकम्' काशिका में है। 'परिवादक' उसको कहते थे जो वीणा को परिवाद से बजाता था। ३.१.२५ में वीणा तथा ३.३.६५ में **'क्वणो वीणायां च'** आया है। अनवद्ध वाद्यों में विशेष रूप से मृदंग, मड्डुक, झर्झर और दर्दुर का उल्लेख मिलता है। इसके बजानेवाले मार्दग्कि, माड्डुकिक, झार्झरिक और दार्दुरिक कहलाते थे। हाथ से ताली देनेवाले पाणिघ (३.२.५५) कहलाते थे। **'प्रमद सम्मदौ हर्ष'** (३.३.६८) में उत्सव में प्रमद और सम्मद शब्द का प्रयोग होता था। 'ललित विस्तर' में भेरी, तूर्य, वीणा, वल्लकी, संगीति इत्यादि का उल्लेख मिलता है। उत्तरी भारत में कई बौद्ध स्तूप, चैत्य इत्यादि पर उद्भृत (उभरे हुए) दृश्य और जावा के बोरोबुदुर के मन्दिरों में चित्रित

दृश्य 'ललित विस्तर' के आधार पर बनाये गये हैं। लंकावतार सूत्र में सहर्स्य, ऋषभ, गान्धार, धैवत, निषाद, मध्यम, कैशिक स्वर और उपयुक्त ग्राम, मूर्च्छना इत्यादि में मिलायी हुई वीणा के साथ वीणा के स्वरों में गायन किया गया है।

बौद्ध वाड्.मय और भरहुत, साँची, अमरावती और नागार्जुन कोंडा के स्तूपों द्वारा मौर्यकाल से गुप्तकाल तक के संगीत का दिग्दर्शन हमें मिलता है। कण्ठ संगीत के लिए 'गीत' शब्द मिलता है और वाद्य के लिए प्रायः 'वादित' (वादित्र) शब्द मिलता है। गानेवालों के लिए प्रायः 'गन्धब्बा' शब्द और नाचनेवालों के लिए 'नरनच्चका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वाद्यों के लिए 'तुरीयानि' शब्द मिलता है। वीणा को 'दोणि' कहा है। आचार्य सूत्र ११–११, २ में निम्नलिखित वाद्यों का उल्लेख हुआ है। वीणा, वेपमेइ, वद–वीसक, तुणक, पानक, तुम्बवीणक। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित वाद्यों का भी यत्र–तत्र उल्लेख हुआ है – पाणिस्सर, सम्मताल, कुम्भथुण, भेरी, मूर्तिगा, आलम्बर, आनका, संखा, पणवदेण्डिम, खरमुखम्, गोधापरिवादेन्तिका, कुटुम्बतिण्डानि। भरहुत और साँची के स्तूपों पर एक साथ दो वेणु (बाँसुरी) बजानेवालों के चित्र उद्भृत हैं। नृत्य जातक में नृत्य का वर्णन है। भेरिवादजातक में **'धमे धमे नातिधमे अतिधन्तं हि पापकं। धन्तेन सतं लद्धं अतिधन्तेन नासितं।।'** अर्थात् (भेरी) बजाये, किन्तु बहुत न बजाये। लगातार (भेरी) बजाना बुरा है। (भेरी) बजाने से सौ (मुद्राएँ) मिलीं, बहुत बजाने से वे नष्ट हो गयीं। गुत्तिल जातक में संगीत विषयक सामग्री है जिससे उस काल के संगीत पर प्रकाश पड़ता है। गुत्तिल और मूसिल को गन्धर्व कहा है। भेरी, मृदंग, शंख, पणव, देण्डिम सभी वाद्य पुण्णक नामक यक्ष ने मणि में दिखलाया, ऐसा विधुर पण्डित जातक में उल्लेख है।

चौथी शती के जैन धर्मावलम्बियों के स्थानांग सूत्र (थानांग सुत्त) में गायक के गुण–दोष दिये हुए हैं। गीत को स्वरसम, लयसम और तालसम होना चाहिए।

सज्जे रिसहे गन्धारे मज्झिमे पंचमे सरे।
धेवते चेव णिसाते सरा सत्त विआहिया।।

सात स्वर व्याखात (विआहिय) हैं। भिन्न–भिन्न वाद्यों में भिन्न–भिन्न स्वरों का प्राधान्य है। जैन ग्रन्थों – **आयाह, वि[illegible], तत्त्वर्थधिगमसूत्र, निसीह, अंगविज्जा, स्थानांगसूत्र, रायप्पसेणिज्ज इत्यादि** में अनेक वाद्यों का उल्लेख है। 'आयार' (द्वि० १, ३६१) में १६ वाद्यों का उल्लेख है। 'किरकिरिया' नामक वाद्य का संकेत है। 'शिलांक सूरि' में इसे सुषिर वाद्य कहा है। निजुत्ति नामक जैनग्रन्थ के ३५६वें श्लोक में वासुदेव श्रीकृष्ण के पास चार प्रकार की भेरी थी –

१. कौमुदिकी २. संग्रामिकी ३. दुर्भूतिका ४. अशिवोपशमनी।

भरत का अर्थ है भाव राग और ताल। भरत के नाट्यशास्त्र में संगीत विषयक जानकारी २८वें अध्याय से दी गयी है – वाद्य चार प्रकार के हैं – तत्, अनवद्ध, घन और सुषिर। तन्त्री के वाद्यों को 'तत्' कहते हैं। (चमड़े से) मढ़े हुए वाद्यों को 'अनवद्ध' या आनद्ध कहते हैं। काँस्य इत्यादि नेस वाद्यों को घन कहते हैं। अभिनवगुप्त नाटक, नृत्य और संगीत के उतने ही बड़े मार्मिक ज्ञाता थे जितने कि साहित्य, दर्शन, तन्त्र–मन्त्र और योग के। इनकी 'अभिनव भारती' नाम की एक विवृति मिली है। भरत ने मुख्यतः गान्धर्व संगीत का प्रतिपादन किया है। गान्धर्व त्रिविध हैं स्वर, ताल और पद (२८, ११)। स्वर, पद और ताल का विस्तृत विस्तार भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्य है।[1]

संगीतरत्नाकर में पं० शारंगदेव ने चष्टिक, दुर्गा तथा आंजनेय परम्पराओं के आधार पर

---

१. भारतीय संगीत का इतिहास, लेखक स्व० ठा० जयदेव सिंह - सम्पादिका प्रेमलता शर्मा - प्रकाशक संगीत रिसर्च एकेडेमी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

रागोत्पत्ति और राग–विवरण दिये हैं। सन् १२०० ई० में पं० शारंगदेव ने सब पद्धतियों का गहन अध्ययन करके 'संगीतरत्नाकर' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसके बाद के लिखे गये सब ग्रन्थ हिन्दुस्तानी और कर्नाटक पद्धति के उत्पत्ति के बाद के ही हैं। रत्नाकर के बाद के ग्रन्थों में–१. 'रागार्णव', २. गन्धर्वराजकृत 'राग रत्नाकर', ३. पुण्डरीकबिट्ठलकृत 'नर्तन निर्णय', ४. सोमेशकृत 'मानसोल्लास', ५. कुम्भकरणकृत 'संगीतराज', ६. भावभट्टकृत 'ह्रदय प्रकाश' ७. जयदेवकृत 'षड्राग चन्द्रोदय', ८. 'रागमाला', ६. चतुरदामोदरकृत 'संगीत दर्पण' आदि मुख्य हैं। उत्तर भारत में थाट और दक्षिण में मेल का उदय हुआ।

कर्नाटक सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ विद्यारण्य का 'संगीत सार', रामामात्य का 'स्वरमेलकलानिधि', रघुनाथ नायका और गोविन्द दीक्षित का 'संगीत सुधा', सोमनाथ का 'राग विबोध', वेंकटमुखीकृत 'चतुर्दण्डिप्रकाशिका', शाह जी और उनके सभी पंडितों द्वारा लिखे हुए 'राग लक्षण' और 'चतुर्दण्डिलक्ष्य' और तुलराजकृत 'सारामृत' आदि हैं। मेसोपोटैमिया (ईराक प्रदेश) की सभ्यता अति प्राचीन है। इन प्रदेशों में असुर **(Assyria)**, सुर **(Syria)**, यरुशलेम, ईरान, अरब और मिस्र का पर्याप्त सम्पर्क था और भारत का भी इन सब देशों से पर्याप्त सम्पर्क था।

सुमेर में 'अरसम्म' शब्द का प्रयोग होता था जिसका अर्थ था वह समअ या साम (धार्मिक संगीत) जो बाँसुरी के साथ गाया जाता है। लेगडन, कमिंग, गाल्पिन इत्यादि संगीतज्ञों ने साम के 'निधन' भाग को प्रस्तोता, उद्‌गाता और प्रतिहर्ता तीनों मिलकर गाते हैं। कुछ उसी प्रकार अक्कड़, सुमेर बवेरु, सुर, असुर प्रदेशों में भी धार्मिक गीत गाये जाते थे। लैटिन का 'कैण्टस' संस्कृत के 'छन्दस' से और अंग्रेजी का 'चैण्ट' संस्कृत के छन्द शब्द से मिलता–जुलता है। यूनान में भी धार्मिक गान को साम (Psalm) कहते हैं।

नारद ने अपनी 'नारदीय शिक्षा' में वेणु से ही सामग्राम की समता बतलायी है। अन्य देशों में उनके साम के साथ भी कोई–न–कोई वाद्य बजता था। सुमेर में उसके साथ वेणु, यरुशलेम ;श्रमतनेंसंउद्ध में किन्नर और यूनान में हार्प (वीणा) बजता था। हस्तप्रयोग का यूनानी नाम किरोनामी (Cheironomy) है। यहूदियों के मन्त्रगान में हस्तवीणा का प्रचुर प्रचार था। वैदिक शब्द 'वाण' (वीणा) के लिए पहलवी में 'वान' और अरबी में 'वन्न' कहलाता था। सुमेर का 'सीम' संस्कृत के शृंग से मिलता है जिसका अर्थ है डमरू या ढक्का।

संगीतोपयोगी आवाज को भारत में स्वर कहते हैं मिस्र में इसका रूपान्तर हुआ 'हर्व'। उपासनात्मक गीत के गानेवाले को प्राचीन मिस्र में 'समा' कहते थे जो कि हमारे साम शब्द से मिलता है। मिस्र में एक धनुषाकार वाद्य यन्त्र को वीण, बीन या विव्त कहते थे। मिस्र के बीन में सात खूँटियाँ होती थीं जो सात तारों के लिए लगी होती थीं। मिस्र के बीन की तंत्रियाँ भिन्न–भिन्न लम्बाई की थीं। भारत में भी वीणा की तंत्रियाँ भिन्न–भिन्न लम्बाई की होती थीं। इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। क्लिष्ट भाषा के काव्य का विद्वान् ही रसास्वादन कर सकता है, लेकिन स्वर का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। नाद के प्रभाव से तिर्यक् योनियों में उत्पन्न प्राणी भी अपने प्राण तक दे देते हैं। महाकवि कालिदास ने कहा है कि रम्य दृश्यों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर प्राणी के मन में जन्म–जन्मान्तर से स्थित भावनाएँ जागृत हो जाती हैं। जहाँ तक नाद माधुरी का सम्बन्ध है, वह तिर्यक् योनि के प्राणियों तक को प्रभावित करती है। श्रीमद्भागवत के अनुसार जड़ प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है।

संगीत की साधना मात्र से अर्थ, धर्म, काम; मोक्ष चारों की प्राप्ति होती है। भगवद्भजन से धर्म, राजाओं से मिले हुए सम्मान के रूप में अर्थ, अर्थ से काम और ईश्वर–प्रसाद के फलस्वरूप मोक्ष

की भी प्राप्ति होती है।

संगीतं वैदिकैर्वाक्यैर्बोधितं ब्राह्मणः सदा।
कृत्वैहिकं तथा मोक्षं प्राप्नुवन्ति त्वरान्विताः।।

वेद वाक्यों से समझाये हुए इस संगीत को उपयोग में लाते हुए ब्राह्मण अर्थात् मुमुक्ष जन इस लोक के तथा परलोक के मोक्ष सुख को अतिशीघ्र प्राप्त होते हैं।

नारद संहिता में कहा गया है –

खगाः भृङ्गाः पतंगश्च कुरंगाद्योऽपिजन्तवः।
सर्व एव प्रगीयन्ते गीतव्याप्तिर्दिगन्तरे।।

चिड़ियाँ, भौंरे, पतंगे, हिरण आदि प्रत्येक जानवर गाता है। अतः संगीत सर्वदिशाओं में व्याप्त है, यह सिद्ध होता है –

ऐहिकामुष्मिके त्यक्त्वा देवर्षि नारदः सदा।
ब्रह्मानन्दोऽपति वीणायां वादने नियतोऽभवत्।।

'इस लोक के तथा परलोक के, दोनों प्रकार के सुखों की चिन्ता व्यक्त कर ब्रह्मानन्द में निरत रहनेवाले देवर्षि नारद अपनी वीणा बजाते हुए संगीत–रूपी आनन्द में संलग्न हो गये।'

तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः।
तालज्ञश्चऽप्रयासेन मोक्षमार्गं सगच्छति।।

अर्थात् वीणा बजाने के तत्त्व को समझनेवाला, श्रुतियों और स्वरों के जाति–भेद–ज्ञान में निपुण तथा ताल के मात्र काल को जाननेवाला पुरुष बिना ही योगादि साधन परिश्रम के मोक्ष मार्ग को जाता है।

सारे ब्रह्माण्ड में संगीत का नाद व्याप्त है। समस्त संसार की अणु–रेणु में रेडियो एक्टिव लहरों के समान वह सक्रिय है। नाद की वैज्ञानिक विवेचना विज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग हैं वाङ्.मूलक सभी व्यवहार नादाश्रित हैं। सप्तक के प्रत्येक स्वरों का सम्बन्ध अलग–अलग रसों से जोड़ा गया है –

सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे च वीभत्से भयानके।
कार्यो गनी तु करुणे हास्य श्रृंगारयार्मयौ।।

अर्थात् वीर और रौद्र में सा, रे तथा भयानक और वीभत्स में ध, करुण में ग और नी, हास्य और श्रृंगार में म, प स्वरों का सम्बन्ध सभी रसों के साथ है।

वास्तुकला

वास्तु शब्द का अर्थ है वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं। प्रागैलिहासिक काल में बनौक्स मानव धूप–ताप, शीत से बचने के लिए शिलाओं का आश्रय लिया करता था लेकिन उस में वह अपनी सौन्दर्य भावना से प्रेरणा पाकर विकास के चरणों में भवनों, प्रासादों, सभा–भवनों, पथिक–शालाओं, दर्शक–भवनों आदि का निर्माण करने लगा। सर जॉन मार्शल के 'इंडस वैली सिविलाइजेशन' नामक पुस्तक में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जमीन से निकले आवासों का पूरा विवरण मिलता है। इन पुरावशेष स्रोतों से निवास गृहों, भवनों, मन्दिरों, स्कूलों, औषधालयों और दूसरी जनोपयोगी इमारतों

जैसे मंदिर, कब्रिस्तान, स्तूप आदि के विद्यमान होने के प्रमाण मिलते हैं।[1]

अत्रि के सम्बन्ध में ऋग्वेद (१। ११२। ७) में कहा गया है कि उन्हें एक १०० द्वार वाले यंत्रकोष्ठ में फेंक दिया गया और जहाँ वे भून डाले गये। वशिष्ठ ने एक 'तृस्तरीय आवास' की इच्छा प्रकट की थी। मित्र और वरुण के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन लोगों के महल में हजारों खंभे और प्रवेश–द्वार थे।[2] 'सुल्व सूत्र' में चिति (वेदी) के आकार के सम्बन्ध में पूरा विवरण मिलता है जिनके नाम हैं – चतुरस्र श्येनचित्, ककचित्र अजलचित्, प्रौगचित्, उभयतः प्रौगचित्, रथ चक्रचित्, द्रोणचित्, परिय्यचित्, समूहयचित्, कूर्मचित्। रामायण और महाभारत–काल के भवन चिति (वेदी) के सिद्धान्तों पर आधारित थे। महाभारत में द्वारावती और इन्द्रप्रस्थ तथा रामायण में अयोध्या का अत्यन्त विशद वर्णन मिलता है। प्राचीन ग्रंथों में इस कला के लिए नगरमापन शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ – महाउम्मग्ग जातक[3] महाभारत[4] दीघनिकाय[5] तथा मिलिन्दपञ्हो[6]। रामायण में (अयोध्याकांड तथा लंकाकांड) में अयोध्या शहर और उसमें बने भवनों की बनावट तथा नक्शे का वर्णन मिलता है। महाभारत में द्वारका के नगर (३।५), इन्द्रप्रस्थ (१।२०७), मिथिला (३।२०७।७) और दूसरे नगरों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वप्र, आकार, अट्टालक, गोपुर तथा परिखा प्राचीन नगर के अभिन्न अंग थे। अर्थशास्त्र तथा समरांगण सूत्रधार में कहा गया है कि वप्र का निर्माण परिखा की मिट्टी से किया जाय। वप्र की मिट्टी को हाथियों एवं बैलों द्वारा अच्छी तरह कुचलवा दिया जाता था।[7] 'वप्रस्योपरिप्राकारम्' वप्र के ऊपर प्राकार का निर्माण किया जाता था।[8] प्रत्येक नगर का आकार होता था। नगर के सात प्रामाणिक आकार माने जाते थे १. चौकोर, २. आयताकार, ३. वृत्ताकार, ४. समानान्तर चतुर्भुज का आकार, ५. अर्द्धचन्द्राकार, ६. भुजंगाकार ७. त्रिभुजाकार। अट्टालक (बुर्ज) प्राकार में बुर्ज का निर्माण किया जाता था। परिखा तीन प्रकार की होती थी। १. जल परिखा, २. पंक परिखा तथा ३. रिक्त परिखा। जल परिखा दोनों ओर नदी से मिली होती थी। पंक परिखा को कीचड़ से भरी खाई तथा रिक्त परिखा को सूखी परिखा कहा गया है। 'पुरद्वारं तु गोपुरम्'[9] नगर–द्वार को गोपुर कहा जाता था।

अशोककालीन खम्भे आज भी निम्नलिखित स्थानों पर विद्यमान हैं। १. साँची २. नेपाल राज्य ३. परमपुखा गाँव ४. लौरिया और रदिया ग्राम ५. मुजफ्फरपुर का बखीरा ग्राम ६. सारनाथ ७. इलाहाबाद ८. कौशाम्बी ९. दिल्ली १०. संकरिया जिला फर्रुखाबाद ११. काशी (लाटभैरो) १२. पटना की पुरानी बस्ती १३ गया तथा १४. जयपुर। इन लाटों के परगहे जो एक पत्थर के बने हुए हैं उनके पाँच भाग हैं – १. पतली पेखला २. दोहरी पतली लौटी हुंई कमल पंखुड़ियों की आलंकारिक आकृतिवाली बैठकी ३.कंठा ४. गोल व चौखूँटी चौकी ५. सिरे पर पशु की मूर्ति।

विनय ग्रंथ में (महावग्ग १/३०/४, चुलवग्ग ६/१/२) किसी विशिष्ट अवसर पर धार्मिक, उपदेश देने के बाद आवासों के संबंध में भिक्षुआं से बुद्ध यह कहते हैं – 'भिक्षुओ ! मैं तुम लोगों के लिए पाँच तरह के निवास विहार, अर्द्धयोग, प्रासाद, हर्म्य और गुहाओं की आज्ञा देता हूँ।'

शैली शिल्प का निर्माण करती है और शिल्प रूप का आयोजन करता है। कला का सौन्दर्य स्थूल रूप से वह रूप में अर्थात् शिल्प में रहता है और सूक्ष्म रूप से शैली में रहता है। प्राचीन काल से निम्नलिखित कला–शैलियों का बोल–बाला रहा है।

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, कला-अंक - वास्तुशिल्प का क्रमिक विकास, पृ० २६१।
२. ऋग्वेद २/४१/५; ५/६२/६; ७/८८/५।
३. महाउम्मग्गजातक, ६, ४४८ (नगरं.........सुमापितम्)
४. महाभारत (आदिपर्व, अध्याय ११६ नगरं मापयामासुः)।
५. 'पाटलिगामे नगरं मापोन्ति', दीघनिकाय, २, १६, १, २६।
६. 'नगरं मापेतुकामोप्तु' मिलिन्द-पञ्हो, पृ० ३२३।
७. 'परिखोत्वातया मृदा' स० सु० पृ० ४०।
८. अर्थ०, पृ० ५२ (शास्त्री)।
९. अमरकोष, पृ० ७७।

१. द्रविड़ स्थापत्य कला शैली, २. हिन्दू स्थापत्य कला शैली, ३. जैन स्थापत्य कला शैली, ४. बौद्ध स्थापत्य कला शैली, ५. राजपूती स्थापत्य कला शैली, ६. कश्मीर स्थापत्य कला शैली, ७. पहाड़ी स्थापत्य कला शैलियाँ, ८. बगदादी, ईरानी स्थापत्य कला शैलियाँ, ६. अरबी स्थापत्य कला शैली।

डॉ० बुचनान हैमिल्टन (Buchanan Hamilton) ने सर्वप्रथम दक्षिणी भारत की गुफा अजन्ता, एलीफैण्टा और कन्हेरी का खोज किया। प्राचीन काल के पत्थर और स्तम्भ में जो अभिलेख (Inscription) है उसे कोई नहीं पढ़ सकता था लेकिन सन् १८३७ ई० में बंगाल के एशियाटिक सोसाइटी के सेक्रेटरी जेम्स प्रिंसेप ने साँची का स्तूप खोज निकाला जो कि प्राचीन वंशजों को जानने की कुंजी है। बौद्धकालीन सिक्के तथा अशोक की लाट, दिल्ली और इलाहाबाद के स्तम्भ आदि से प्राचीन ब्राह्मी लिपि का ज्ञान होता है।

भाषा के आविष्कार से पहले मकान ही सर्वप्रथम एक प्रतीक सर्जन रहा है – युद्ध, विवाह, उत्सव, हथियार और देव प्रतिमा बनाने की भाँति। इस प्रकार यह एक 'आदिम भाषा' भी है, वास्तु में उपयोगितावादी धर्म ही 'विषयवस्तु छाया' है।

१८६२ में जनरल एलेक्जेंडर कनिंघम ने भारतीय वास्तुशास्त्र पर सर्वेक्षण किया। उसने सर्वप्रथम ग्रीक इतिहास तथा चीनी यात्रियों का विवरण प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् बोधगया, भरहुत, साँची, सारनाथ और तक्षशिला आदि स्थानों में खुदाई करायी। १६०३–१/२ में डॉ० मार्शल ने बौद्ध स्थानों साँची, सारनाथ, कशिया (कुशीनगर) और सहेट–महेट (श्रावस्ती) तथा नगरीय स्थान चारसद्दा (पुष्कलवती) जो मर्दान के निकट है, इलाहाबाद के समीप भीटा, मुजफ्फरपुर के समीप बसाढ़ (वैशाली) और मगध की प्राचीन राजधानी राजगिर आदि पर काफी प्रकाश डाला है। १६१७ में डॉ० स्पूनर ने स्तूप, मन्दिर और मिशनरियों पर प्रकाश डाला। बिहार में नालन्दा वास्तुशास्त्र–विज्ञानियों का मुख्य केन्द्र था जिस पर ३० साल पहले काम किया गया। राजगिर (राजगृह) में कुछ अवशेष मिले हैं जैसे मनियर मठ। लेकिन इस शहर में परीक्षण के लिए ज्यादा कुछ नहीं मिला।

वास्तुकला तो रूप प्रधान होती है – नगर, प्रासाद, भवन, स्तम्भ, लिंग, पीठिका, सभामंडप, उद्यान–भवन, वापी, कूप, शैलमंदिर आदि के निर्माण इसमें शामिल हैं (मानसार, अग्निपुराण, समरांगण सूत्रधार आदि)। वास्तु में चित्रकला तथा प्रतिमा लक्षण भी शामिल है। इसकी रचना–विच्छितियाँ भी 'रूपभेद' और 'प्रमाण' पर आश्रित हैं। कालिदास, हर्ष, माघ, दंडी और भास आदि साहित्यकारों ने गगनचुम्बी विशाल भवनों तथा रम्य प्रतिमाओं पर यत्र–तत्र प्रकाश डाला है। माघ ने शिशुपालवध में द्वारकापुरी की विशालता का वर्णन किया है **'बृहत्[illegible]लेवितान'**। वास्तुकला के सम्बन्ध में १६६ ग्रन्थ प्राप्य हैं।

वास्तु एक स्थानिक, नितांत अचल, जड़ और तीन आयामों वाली कला है जिसमें पदार्थ (मैटर) के प्रति अभिव्यक्ति की अहमियत होती है। इसमें सौंदर्य और उपयोगिता का मेल है। यह ललित ही नहीं बल्कि एक मिश्रित कला है क्योंकि शिल्प, गृहसज्जा, भित्ति–चित्रण आदि अनेक कलाएँ इसमें शामिल हो जाती हैं। अतः एक ओर तो यह पूर्णतया स्थानिक और दृश्यकला है, दूसरी ओर उपयोगितावादी, मिश्रित और तीसरी वैज्ञानिक तकनीक भी।[१]

---

१. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - डॉ० रमेशकुंतल मेघ, पृ० ८३।

वास्तुरूपों का वर्गीकरण

१. नागरिकता बोध : सार्वजनिक स्नानागार, स्मारक, प्रशासनिक भवन, दफ्तर, कारागार आदि आते हैं।

२. सांस्कृतिक बोध : इसके अन्तर्गत थियेटर, सिनेमा भवन, कला संग्रहालय, उपासना स्थान, स्कूल, प्रयोगशालाएँ, पुस्तकालय आदि आते हैं।

३. पारिवारिक बोध : इसके अन्तर्गत महल से लेकर छोटे–छोटे निजी मकान और समाधि आदि आते हैं।

४. स्वास्थ्य और कार्य सुविधाएँ : इसके अन्तर्गत अस्पताल, एफीथियेटर, उद्यान, रेलवे स्टेशन (मास्को का मैट्रो भी), आकाशदीप गृह, पुल, बाँध, सड़कें आदि आते हैं।

५. व्यापारिक तथा औद्योगिक सुविधाएँ : इसके अन्तर्गत फैक्टरियाँ, दुकानें, बैंक आदि आते हैं।

आविष्कार तथा उत्खनन से प्राप्त शिल्प स्थापत्य, प्रतिमा शास्त्र, उत्कीर्ण शिलालेख, मुद्राशास्त्र तथा इनके सम्बन्धित अन्य उपादानों पर अध्ययन करने से तत्काल मनुष्य पर पड़नेवाले प्रभाव से वास्तु की अद्वितीयता सिद्ध होती है। ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक आधारों पर प्राचीन भारत का अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध समझने के लिए प्राचीन मंदिर, गृह, प्रतिमाएँ, यूप, स्तम्भ आदि बहुत ही सहायक सिद्ध हुए हैं।

वास्तुशास्त्र के पुरातन अठारह आचार्यों की नामावली 'मत्स्यपुराण' में इस प्रकार दी गयी है : (१) भृगु (२) अत्रि (३) वशिष्ठ (४) विश्वकर्मा (५) मय (६) नारद (७) नरनजित् (८) विशालाक्ष (६) पुरन्दर (१०) ब्रह्मा (११) कुमार (१२) नन्दीश (१३) शौनक (१४) गर्ग (१५) वासुदेव (१६) अनिरुद्ध (१७) शुक्र और (१८) बृहस्पति। 'मानसार' नामक शिल्पविषयक ग्रंथ में विश्वकर्मा को ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने चार मुखों से जिन चार स्थपतियों को जन्म दिया उनमें विश्वकर्मा का प्रथम स्थान था। वह देवताओं का शिल्पी था। पुराणों में उसके पिता का नाम प्रभास मिलता है। राजप्रासादों, उद्यान–उपवनों, मूर्तियों, आभूषणों, सरोवरों तथा कूपों आदि के निर्माता के रूप में उसकी बड़ी प्रशस्ति गायी गयी है। पुराणों, अर्थशास्त्र और शिल्पशास्त्र विषयक ग्रन्थों में विश्वकर्मा को बड़ी निष्ठा से स्मरण किया गया है। शिल्पशास्त्र का प्रथम प्रतिनिधि होने के कारण विश्वकर्मा की आज भी प्रतिवर्ष पूजा होती है।

आचार्य भरत के 'नाट्यसूत्र' से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के आदेश से विश्वकर्मा ने एक सुन्दर नाट्यशाला का निर्माण कर अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया था। रावण की अनुपम लंकापुरी का निर्माता भी विश्वकर्मा को ही बताया गया है। ब्रह्मा के 'दैवीरथ पुष्पक' का निर्माण भी उसी ने किया था। गिरिराज हिमालय के आग्रह पर उसने ऐसा सभा–भवन बनाया जो स्थान-स्थान पर घोड़ों, मयूरों तथा हरिणों की दिव्य आकृतियों से चित्रित और अनेक देवमूर्तियों से सज्जित था। ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में सुरक्षित 'विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र' नामक कृति भी विश्वकर्मा की ही रचना मानी जाती है। ज्योतिषशास्त्र के आचार्य वराहमिहिर (५०० ई०) की बृहत्संहिता में 'प्रासाद लक्षण' नामक ५६वें अध्याय में बीस प्रकार के प्रासादों का वर्णन और मंदिर की भूमि, द्वार, गर्भद्वार, चित्रण, प्रतिमा प्रमाण तथा भूमि का उच्छ्रय आदि विषयों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।

जेम्स फर्ग्युसन का कथन है कि मूर्ति में मानवाकृति की अनुकृति का बन्धन रहता है जबकि वास्तुकला में विविधता की अगणित सम्भावनाएँ रहती हैं और इसमें मानव मन की उच्च आकांक्षाओं का

लक्ष्य रहता है।[1] कुछ विद्वानों ने इसे यांत्रिक कला (Mechanical art) कहा है। क्योंकि कुछ निश्चित नियमों के आधार पर यांत्रिक विधि से इसके नियम निरन्तर चलते रहते हैं। साधारण भवन यांत्रिक कला की कोटि में गिने जा सकते हैं किन्तु पूजागृह, स्मारक आदि यांत्रिकता की परिधि लाँघकर स्वतंत्र कलारूप धारण कर लेते हैं। वास्तुकला में भवनों की विशालता का जो आभास होता है वह उस उदात्त अनुभव की ओर ले जाने में सहायक होता है जो केवल प्रकृति के विशाल और खुले प्रांगण में पहुँचने पर ही सम्भव है।

वास्तु में भवन ब्रह्माण्ड के बिम्ब को पुनरुत्पादित करते हैं। स्तूप, स्तंभ, मंदिर और प्रासाद ये चारों ब्रह्माण्ड या स्वप्न या देवताओं के कल्पित आवास पर आधृत हैं। अशोक का स्तंभ 'प्रतीकवाद' की शुरुआत का उदाहरण है जिस पर अंकित सिंह (शाक्यमुनि की राशि, लिच्छवियों की जाति, उत्तर दिशा, राज्यशासन की शक्ति आदि) की व्यञ्जना करते हैं। 'लाट' तथा 'स्तंभ' धर्मविजय और दिग्विजय के सूचक हैं। उदाहरणार्थ – सारनाथ की सिंहमुद्रा धर्मविजय की तथा बेसनगर का गरुड़ध्वज तथा नंदनगढ़ का सिंहस्तम्भ दिग्विजय की। मंदिरों में शिखर की कल्पना कैलाश पर्वत, सुमेरु पर्वत तथा कम्बोडिया एवं जावा के शेषनाग के फणों के सादृश्य पर है। स्तूपों का विधान अर्धअंड रूप में है। प्रासाद हर्म्य भी मंदिरों की तरह मेरु शिखर जैसे हैं। स्तंभों में स्वर्ग और पृथ्वी की योजना पाप और पुण्य लोक की योजना है। इस तरह प्राचीन वास्तुकला में अतिप्राकृतिक या आधिभौतिक और आधिदैविक प्रतीक रूपों की कल्पना की गयी जिसका सादृश्य केन्द्र 'महापुरुष' था।

आधुनिक वास्तुकला में 'फंक्शनलिज्म' के आधार पर तल (फ्लोर), द्वार, खिड़कियाँ, विभिन्न कार्यवाहक कमरे बनाये जाते हैं जिसका ध्येय प्रकाश, हवा और रहने का स्थान है। यहाँ 'आर्गेनिक' रूप में 'मानव शरीर' सादृश्य केन्द्र है।[2] अर्थात् मानव शरीर की जीवंत रचना, उसके अंगों के विभिन्न धर्म तथा उसकी आवश्यकताएँ आदि। फि.ल्मकला की भाँति यह कला भी 'मेकेनिक्स' की ओर अग्रसर है।

वास्तुकला में अद्भुत रस की अनुभूति होती है। भरत मुनि का मत है कि 'देवालय और सभाभवन[3] ऐसी वस्तुएँ हैं जिनमें अद्भुत रस का अनुभव होता है। 'समरांगण सूत्रधार' में भोज भी यह मत प्रतिपादित करते हैं कि वास्तुकृति विस्मय[4] को उत्पन्न करती है तथा (रतेरावासभवनम्) रति का राजप्रासाद में वासस्थान बताया है। इसी प्रकार दुर्ग का स्थायी भाव उत्साह है। ध्यान मुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्ति से प्रतिष्ठित मन्दिर में मानसिक शान्ति का भाव उद्भूत होता है। वास्तुकृति से वास्तुब्रह्म का अनुभव दर्शक को भावानुभाव तल एवं साधारणी भाव तल का अतिक्रमण करके होता है। वास्तुकृति की भव्यता का अनुभव आश्चर्य रूप में अन्तःकरण में व्याप्त हो जाने पर अन्य रूपों (भावों) की परिकल्पना का अवसर ही नहीं मिलता।

मूर्तिकला

भारतीय शिल्प और कला–शैली (वैदिक काल) ऋग्वेद से ही मिलने लगती है।

'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद।' चौथे मण्डल में इन्द्र प्रतिमा के क्रय का प्रश्न उठाया गया है। (क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ४/२४१०)। ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों के अनुसार देवी–देवता, मानव, पशु–पक्षी की मूर्तियाँ बनायी गयीं।

---

1. James Fergusson : History of Indian and Eastern Architecture, P. 32.
२. दे० ममफोर्ड, फ्रैंक लायड राइट, ल काबूजिए आदि वास्तुकारों के दर्शन।
३. अभिनव भारती भाग १-१३०। ४. समरांगण सूत्रधार भाग १-१७१।

तेषां पुरूष रूपकमिव कृता (ऐत० ब्रा० ७/२/२) ऋग्वेद के मण्डल ६ में **'श्रीरंचित कृणुत सुप्रतिकम्'** का भावार्थ है कुरूप की सुन्दर मूर्ति बनाओ। ईसा पूर्व दूसरी शती में पतञ्जलि ने पाणिनि सूत्र की (जीविकार्थे चापण्ये ५, ३, ६६) व्याख्या करते समय वासुदेव, शिव, स्कन्द, विष्णु, आदित्य के नामों का उल्लेख किया है जिसका भाव प्रतिमा (अर्चा) से है। प्रतिमा का अर्थ तुल्यता, रूप या प्रतिबिम्ब है। ये शब्द सम्मिलित रूप से प्रतिमा में निहित विचारों के द्योतक हैं। प्रतिमा सर्वशक्तिमान् परमात्मा की छाया या रूप है। परमात्मा का सगुण मानकर उसे संसार का सर्गस्थिति संहारकारी बतलाया गया है। इसीलिए उस सर्वशक्तिमान् सत्ता को मूर्ति में निवास करने के लिए मन्त्रों द्वारा उसका आवाहन किया जाता है, जिसे प्राणप्रतिष्ठा कहते हैं। निर्गुण ईश्वर की उपासना सर्वसाधारण को बोधगम्य न होने से **'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'** (पा०यो० १/२८) चित्त को एकाग्र करने का साधन प्रतिमा पर सतत दृष्टि रखकर जप करना है।

अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्धयति शिवः स्कन्दः विशाख इति। अर्चा प्रकल्पिताः। भवेत्तासु नस्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थः तासु भविष्यति।

पाणिनि ने **'इवे प्रतिकृतौ'** (अष्टाध्यायी ५/३/६६) लिखकर यह पुष्ट किया कि लकड़ी या मिट्टी के माध्यम से आकृति का अनुकरण किया जाता था।

महाभारत(३/८४, १६४–३५) में बदरिकाश्रम में नर–नारायण की पूजा का उल्लेख है। रामायण में भी **'देवतागार देवतायतनानि'** शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।

ईसा पूर्व चौथी शती, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अपराजित, वैश्रवा, शिव आदि देवगृह का उल्लेख प्राप्त हुआ है। मनु ने ब्रह्मचारी के दैनिक कर्त्तव्यों में देवपूजन के कार्य को सम्मिलित किया है।

देवताभ्यर्चनञ्चैव समिदाधानामेव च (मनुस्मृति २/१७६) धर्मसूत्रों में भी देवपूजा का विवरण किसी–न–किसी रूप में उपलब्ध है।

देवगृहम् गत्वा
गृहदेवताभ्यः प्रविश्य (गौतम धर्मसूत्र)
पूजायां बलिविशेषः (आपस्तम्भ)

सूत्रग्रन्थों में प्रतिमा–पूजन के सम्बन्ध में विष्णु, महापुरुष, विनायक गणेश या यम के नाम मिलते हैं।

भागवत में विग्रह, बेर, तनु या रूप शब्दों को वासुदेव के रूप में प्रयुक्त पाते हैं।

साहित्यिक प्रमाणों को पुष्ट करने के लिए पुरातत्त्व विषयक सामग्रियों का अवलोकन करना होगा। सिन्धु घाटी की खुदाई में गहने, अस्त्र, शस्त्र, बर्तन तथा कलात्मक मिट्टी के बर्तन, मुहर, ताबीज तथा अन्य छोटे–छोटे सामान मिले हैं। मिट्टी के सामान अच्छी तरह आग में पके तथा लाल रंग से रँगे हुए हैं। मिट्टी के बने जानवर के आकार जैसे कि – गिलहरी, बन्दर, कछुआ Shell युक्त, छोटे सींग वाले साँड़ मुहरों पर अंकित हैं। तीन बन्दर जो एक–दूसरे को कमर और भुजा से पकड़े हुए हैं तथा काँसे की नर्तकी जिसका हाथ नितम्ब पर है उसके हाथ और पैर कुछ अधिक लम्बे हैं तथा दाहिने हाथ पर ब्रैसलेट है। पैर संगीत नाद पर आगे की ओर पंजे पर है। यह आकृति प्राचीन काल की अकेली अनुपम उपहार है।[1] हड़प्पा में दो मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें गले के स्थान पर छेद है और कन्धे से सिर और भुजा

१. **R.C. Majumdar, Vedic Age, Page-180.**

जुड़ी हुई है। यह मास्टर पीस (Hellas) युग का है तथा दूसरी मूर्ति में दाहिना पैर बायें पैर पर सामने की ओर है। छाती के ऊपर का शरीर तथा दोनों भुजाएँ बायीं ओर मुड़ी हुई हैं। यह दृश्य पूर्ण रूप से चलायमान है। गला साधारण से थोड़ा अधिक मोटा है। इस मूर्ति में नटराज शिव का रूप सम्भव है या इसका सिर किसी जानवर का हो सकता है।[१] यक्ष, यक्षिणी (भरहुत तथा साँची) तथा नाग की आकृतियाँ शुंगकालीन कला में उपलब्ध हैं। मूर्ति–पूजा का आरम्भ ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष से सिद्ध होता है।

मूर्तिकला के उदाहरण मौर्यकाल से दिखलाये जा सकते हैं। दक्षिण भारत में गौडी मल्लम में लिंग प्राप्त हुआ है जो प्राचीनतम माना जाता है। आधी आकृति पर अंकित शिवमूर्ति के लक्षण, आभूषण, वस्त्रों के क्रम, कन्धे के फरसे तथा अन्यान्य लक्षणों से भरहुत मूर्तिकला के समय का अर्थात् ईसा से दो शताब्दी पूर्व का मालूम पड़ता है। इससे तत्कालीन लिंग–पूजा की वास्तविक विधि का पता लगता है तथा यह प्रमाणित होता है कि कम–से–कम ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में लिंग–पूजा का प्रचार था। हाल में ही विसनगर में गरुड़स्तम्भ पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें लिखा है कि हिलियोगेरस ने, जो एक भागवत था, राजा अन्तलकीदास (Antalkidas) के राजत्वकाल में तक्षशिला से आकर वासुदेव के प्रतिष्ठार्थ गरुड़ध्वज की स्थापना की। इस राजा का समय विद्वानों ने ईसा से पूर्व १७५ से १३५ ई० तक निर्धारित किया है। शायद यह पहला शिलालेख है जिसमें विष्णु को वासुदेव कहा गया है। कुबेर और मणिभद्र की मूर्तियाँ मौर्यकाल की सिद्ध की गयी हैं। साँची के तोरणों पर प्रदर्शित श्री या गजलक्ष्मी की मूर्ति कुषाणों के पहले की मालूम होती है। कुषाणों के समय की सूर्यमूर्ति मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित है। उससे भी पहले सूर्य की मूर्ति बोधगया के अशोक के कटघरे पर देखी जा सकती है।[२]

आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। वात्स्यायन तथा उस युग के अन्य लेखकों ने कामिनी के जिन हाव–भावों का शब्दों में चित्रण किया उन्हें मूर्तिकार, शिल्पियों ने पत्थर में अंकित किया। मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति के प्रतीक खजुराहो और पुरी आदि के मन्दिरों पर विलसित मूर्तिकला पर वात्स्यायन की कामकला का पूरा प्रभाव है।

कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति आदि के ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति–चित्रण भी अजंता के चित्रों से मिलते–जुलते हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में कमलवन का वर्णन है जो सित्तनवासल गुफा में बने कमलवन सरोवर से साम्य रखता है। घरों में शोभा एवं समृद्धि के लिए बनाये गये लतावल्लरी प्रधान संतानकमाला का वर्णन आता है जिसके अनेक प्रकार के लता–वितान, शालभंजिका, दोहद आदि के दृश्य अजन्ता के भित्तिचित्रों, साँची, भरहुत आदि के तोरण, वेदिकाओं, स्तंभों पर बनाये गये हैं। इसी प्रकार वनदेवता तथा निधियों का वर्णन कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में किया है, जिनका अंकन बोधगया तथा भरहुत के शिलापट्टों पर मिलता है। आलंकारिक और परम्परागत होते हुए भी इनका लक्ष्य सूक्ष्म मानव संवेदनाओं को प्रकट करना है।

भारतीय शिल्प के षडंग–रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजन, सादृश्य, वर्णिकाभंग को अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने शिल्प (मूर्ति) के Scale और Proportion को बखूबी चित्रित किया है।[३] नरमूर्ति = १० ताल, क्रूर मूर्ति = १२ ताल, असुरमूर्ति = १६ ताल, बालमूर्ति = ५ ताल, कुमारमूर्ति = ६ ताल। १२ अंगुल की चौड़ाई को एक ताल कहते हैं। 'शुक्रनीति सार' के चौथे अध्याय में तथा 'बृहत्संहिता' के प्रतिमा लक्षण में ताल के अनुसार प्रतिमा लक्षण निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार 'विष्णुधर्मोत्तर' एवं

1. **R.C. Majumdar, Vedic Age, Page-181.**
2. **श्री विष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला, पृ० 23।**
3. **Avanindra Nath Tagore - Indian Artistic Anatomy.**

'मानसोल्लास' में संपूर्ण शरीर का एक ढाँचा प्रस्तुत करने के लिए उसका 'नवताल प्रमाण' निर्धारित किया गया है। अजन्ता में इन सभी प्रमाणों की मूर्तियों के दिग्दर्शन होते हैं। जैसे – अजन्ता, गुफा १७ में वासगृह में मधुपान करते पति–पत्नि के निकट मधु पात्र लिये हुए परिचारक वामन (बौना)।

मूर्तियाँ तीन प्रकार की मिलती हैं – सपाट आधार पर उभरी हुई (रिलीफ), आधार मात्र गोलाकार मूर्ति को सहारा देते हुए (हाई–रिलीफ) और गोलाकार पूर्ण मूर्ति (राउण्ड)। लक्षण ग्रन्थों में सम्पूर्ण मूर्तन (फुल्ली स्कल्पचर्ड), अर्द्ध मूर्तन (हाफ स्कल्पचर्ड) और चित्राभास (पेंटिंग) का अर्थ भी यही है।

१. फुल्ली स्कल्पचर्ड आशय गोलाकार मूर्ति
२. हाफ स्कल्पचर्ड आशय गोलाकार मूर्ति आधार–सहित
३. चित्राभास आशय उद्भूत–चित्र

उद्भूत–चित्रों में आलेपन के लिए आधार लेप्य मृत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मार्तिक और ताण्डूल आदि का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

सूर्य प्रकृति देवता है और स्वास्थ्य प्रदान करता है। सूर्यपूजा वैदिक काल से लेकर आज तक वर्तमान है। इसी भाव को पूर्वी बंगाल के एक प्रतिमा–लेख में व्यक्त किया गया है। 'श्री तकमी दिनकारिन (= दिनकर = सूर्य) भट्टारक' वाक्य अंकित है। तकमी रोग के लिए प्रयुक्त है। दीनाजपुर से प्राप्त दूसरी सूर्य प्रतिमा के पृष्ठभाग पर इसी भावना–सहित लेख अंकित है –

सूर्यः समस्त रोगानां हर्त्ता विश्वप्रकाशकः।

इसी विचार की अभिव्यक्ति गोरहवा (उत्तर प्रदेश) से उपलब्ध **सूर्य प्रतिमा (१२वीं सदी)** द्वारा की जाती है जिसमें सूर्य के साथ ही दो आश्विन की आकृतियाँ खुदी हैं। **पुराणों में आश्विन को देवताओं** का चिकित्सक कहा गया है (देव भिषजैः)। साहित्य के वर्णन का **साक्षात्कार गोरहवा मूर्ति से हो जाता** है।[1] 'शिल्प संहिता' तथा 'शिल्परत्न' आदि ग्रन्थों में केवल पूजन **हेतु ही मूर्ति–निर्माण का आदेश किया** गया है। इसीलिए मूर्ति के खंडित होने पर उसको गंगा में **प्रवाहित कर दिया जाता था। उसकी पूजा करना निषिद्ध है।** खंडित मूर्ति देव सान्निध्य–रहित होने **से नितान्त अनार्घ्य समझी जाती थी।**

खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टेमानविवर्जिते।
दशस्वेतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः।।

सातवाहन युग का अमरावती स्तूप आंध्र **प्रदेश का गौरव है। उष्णीस** की खुदाई में अमरावती की कलाएँ भरी पड़ी हैं। अमरावती स्तूप **के अभिलेखों से स्पष्ट है कि** अमरावती स्तूप को 'महाचेतिय' कहते थे। सम्भवतः **यह नाम बौद्ध धर्म के चैत्यक शाखा के कारण पड़ा।** तक्षशिला के समीप मिट्टी तथा चूने की **मिश्रित सामग्री (Stucco) का प्रयोग हुआ जिसे साँचे में ढालकर** इच्छित मूर्ति या आकृति तैयार की जाती **थी। ईसवी सन् के आरम्भ से तीसरी सदी तक प्रस्तर** की खुदाई तथा चौथी–पाँचवीं शताब्दी में चूने **मिट्टी (Stucco) की गान्धार प्रतिमा प्रसिद्ध है।** गन्धार कला बौद्ध मत से सम्बन्धित (बुद्ध, बोधिसत्त्व, जातक **प्रदर्शन) आकृतियों के प्रदर्शन के लिए** विख्यात है। मथुरा के समीप रूपबस तथा सिकरी नामक **स्थानों से प्राप्त लाल प्रस्तर का प्रयोग** कलाकारों ने किया। उस लाल प्रस्तर पर सफेद छीटें भी वर्तमान **हैं जिससे कलात्मक नमूने भव्य दिखलायी** पड़ते हैं। बरोदा (मथुरा के समीप), ग्वालियर, विदिशा (पूर्वी

---

१. प्रा० भा० मू० वि०, डॉ० वासुदेव उपाध्याय, पृ० १६०।

मालवा) तथा पटना से विशालकाय यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो मथुरा कला–शैली में हैं। मथुरा के कलाविद् बड़े आकार की प्रतिमाएँ तैयार करते थे। मथुरा की जैन कलाकृतियों में से एक है जैन स्तूप की वेदिका जिस पर शुंगकाल के सदृश वृक्षिका तथा यक्षिणी की आकृतियाँ तैयार की गयी हैं। भरहुत तथा साँची की वृक्षिका से मथुरा की जैन वेदिका पर खुदी यक्षिणी मिलती है।[1] जैन कला ईसवी पूर्व २०० से आरम्भ होती है। क्षत्रप शासक रंजुबल एवं सोडास के शासन में स्थानीय कला फली–फूली। मथुरा के कंकाली टीले से स्थानक (कायोत्सर्ग) मुद्रा में तीर्थंकर की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

ब्राह्मण देवताओं की प्रतिमाएँ शिव लिंग रूप में (एकमुख, पंचमुख), एकाकिन् (नन्दिकेश्वर) तथा युग्म शिव–पार्वती, शुंगकालीन बलराम (संकर्षण) तथा कुषाण युग की ब्रह्मा, शिव (शिव–पार्वती, गणपति, अर्द्धनारीश्वर), विष्णु, सूर्य, दुर्गा (महिषमर्दिनी), सप्तमातृका तथा कुबेर की मूर्तियाँ भी मथुरा में बनीं तथा अन्यत्र भेजी गयीं।

मूर्तियाँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं – चल, अचल और चलाचल। चल मूर्तियाँ वे हैं जो धातुनिर्मित होती हैं तथा सुगमतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जायी जा सकती हैं। इनमें कौतुकबेरा अर्चना के लिए, उत्सवबेरा उत्सवों में जुलूस के लिए, बलिबेरा तथा स्नपनबेरा बलिप्रदान तथा स्नान के निमित्त नैत्यिक उपासना के लिए प्रसिद्ध हैं। अचल मूर्तियाँ ध्रुवबेरा के नाम से विख्यात हैं जो पत्थर की बनती हैं तथा स्थायी रूप से मन्दिर में स्थापित की जाती हैं। स्थानक, आसन और शयनभेद से ध्रुवबेरा तीन प्रकार की होती है। मूर्तियों के तीन भेद होते हैं – चित्र, चित्रार्ध और चित्राभास। चित्र उन मूर्तियों को कहते हैं जिनमें सब अवयव अविकल रूप से चित्रित तथा व्यक्त किये गये हों। आधी चित्रित मूर्ति को चित्रार्ध कहते हैं। दीवारों, वस्त्रों तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं पर चित्रित किये गये को चित्राभास कहते हैं। मुखलिंग की मूर्तियाँ तथा एलिफैण्टा गुफा की त्रिमूर्ति व्यक्त है तथा लिंग, शालग्राम, बाणलिंग इत्यादि अव्यक्त हैं।

रौद्र मूर्तियों के नेत्र दीर्घ, गोल, सिर के चारों ओर अग्नि की लपटें, तीक्ष्ण तथा लम्बे नख और युद्धोपयोगी शस्त्रों से सुसज्जित अनेक हाथ प्रदर्शित किये जाते हैं। शान्त मूर्ति देखने में सौम्य तथा शान्तिमय प्रतीत होती है। सम्प्रदायों के अनुसार वैष्णव और शैव मूर्तियाँ प्रचलित हुईं। हिन्दुओं की प्रतिमा–पूजन–पद्धति ने जैनियों को भी तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के पूजन के लिए प्रेरित किया और महावीर स्वामी तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। दिव्य सत्ताओं की पार्थिव प्रतिमूर्ति निर्वस्त्र ध्यानस्थ महात्मा के रूप में ऐसी बनायी गयी जिसकी मुद्राओं से स्वर्गीय शान्ति, संसार से पूर्ण विरक्ति झलकती हो तथा मुक्ति का संदेश प्राप्य हो। बुद्ध के जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण होने के कारण जैन–प्रतिमाओं की अपेक्षा बुद्ध–प्रतिमाओं में अधिक विविधता और सजीवता पायी जाती है।

बीसवीं शताब्दी में बृहत्तर भारत के इतिहास के अध्ययन से एशिया के दक्षिण–पूर्व के द्वीप तथा प्रदेश जावा, सुमात्रा, बाली, बर्मा, थाईलैंड, चम्पा और मलाया सम्मिलित हैं। उत्तर तथा पश्चिम की ओर अफगानिस्तान, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया तथा चीन आदि देशों में भारत की कला तथा प्रतिमा निर्माण का प्रभाव दिखलायी पड़ता है। उदाहरणार्थ उपरलाहिन्द में बुद्ध की प्रतिमा – बुद्ध पद्मासन में बैठे हैं। सिर मुड़ा है या छोटे–छोटे बाल दिखलायी पड़ते हैं। मुखाकृति मंगोलियन है। बुद्ध की प्रतिमा एकाकी अथवा बोधिसत्त्व के साथ निर्मित है। तिब्बत की कला बौद्ध प्रधान है। अमिताभ, वैरोचन तथा बोधिसत्त्व, मंजुश्री, हारीति तथा लोकेश्वर की प्रतिमाएँ चीन में मिली हैं। पालयुगीन प्रस्तर तथा धातु

१. प्राचीन भा० मूर्ति विज्ञान, कुषाण युग की भारतीय कला, पृ० ५६।

प्रतिमाएँ साँचे में ढालकर बनायी जाती थीं। नेपाल में ब्राह्मण देवताओं में चांगुनारायण विष्णु, विष्णु त्रिविक्रम, वामनावतार, उमा–महेश्वर तथा सूर्यप्रतिमाएँ, काठमाण्डू की उपत्यका में उपलब्ध हैं, जो हिन्दू देवी–देवताओं की पूजा का समर्थन करती हैं। मलाया से शिव (नन्दी के साथ), गणेश तथा दुर्गा की मूर्तियों के साथ नटराज की प्रतिमा मिली है। शेषशायी विष्णु तथा गरुड़वाही विष्णु की प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। चम्पा तथा कम्बोज में द्वितीय शती से भारतीय उपनिवेश मिलते हैं। माइसोन के पास शिव–प्रतिमा मिली है जिसके एक हाथ में त्रिशूल है। यह नृत्य करती दिखलायी पड़ती है। पैरों में नुपूर है, बाँह में अनन्त तथा वक्षःस्थल पर माला है। नुपूर यहाँ की नृत्य प्रतिमा की विशेषता है। कानों में कुण्डल तथा शीश पर मुकुट है। जटा का अभाव है जो भारतीय शिव मूर्ति में दीख पड़ता है। शिव ध्यानावस्था में हैं। पद्मासन पर बैठे हैं तथा उनका तीसरा नेत्र दिखलायी पड़ता है। कम्बोज की मूर्तियाँ गुप्त शैली की हैं। शेषशायी विष्णु की प्रतिमा उपलब्ध हुई है। भगवान् चारों आयुध–शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हैं। राम, कृष्ण की प्रतिमा, शिव की बैठी प्रस्तर तथा काँस्य प्रतिमाएँ कई स्थानों से मिली हैं। पद्मासन में बुद्ध मूर्ति तथा बोधिसत्त्व की चतुर्भुजी प्रतिमा भी उपलब्ध है।

वर्तमान इंडोनेशिया के प्रसिद्ध द्वीप जावा में मध्य जावा से शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा तथा विष्णु की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्तियों के वाहन भी खुदे हैं जिनसे उनकी पहचान हो जाती है। जावा का प्रसिद्ध बोरोबुदूर स्तूप बौद्धधर्म का प्रतीक है। बुद्ध की प्रतिमाएँ लम्बी तथा आवर्तनयुक्त चीवर सहित मिली हैं। बोधिसत्त्व (पद्मपाणि), अवलोकितेश्वर की चतुर्भुजी काँस्य प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है जो प्रस्तर मूर्ति के सदृश है।

ईसा पूर्व पहली शती में भारतीय बुद्ध प्रतिमा का अनुकरण सिंहल में पाया जाता है। अनुराधापुर की प्रतिमा का दाहिना कंधा वस्त्र रहित है तथा चीवर में पानी की लहर सदृश चढ़ाव–उतार दीख पड़ता है। आठवीं सदी में निर्मित व्रजपाणि बोधिसत्त्व तथा जम्भल (कुबेर) की मूर्तियाँ बोस्टन संग्रहालय (अमेरिका) में सुरक्षित हैं। शिव, विष्णु, सूर्य, हनुमान् आदि देवताओं की ताम्रप्रतिमाएँ लंका से उपलब्ध हुईं जो भारतीय अनुकरण को पुष्ट करती हैं।

मूर्ति बनानेवाला व्रत–उपवास–उपासना–ध्यान आदि तपश्चर्या के द्वारा अपने भीतर रजस् और तमस् को शान्त करके निर्मल सत्त्व की स्थिति में पहुँचता है जहाँ वह अपनी आत्मा में दिव्य–भव्य का साक्षात्कार करता है। इसी आत्म–साक्षात्कार को रूपायित और मूर्तित करना उसका ध्येय होता है। मूर्तिकार दिव्य और अव्यक्त तक पहुँचने के लिए प्रतिमा–ग्रन्थों में वर्णित रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना पर दृष्टि निबद्ध रखता ही है, साथ ही, ध्यान में मंत्रों को भी आत्मसात् करता है। 'व्यक्त' से 'अव्यक्त' तक ध्यान द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। मूर्तित करना मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है। विश्व भर में, लगभग २५,००० वर्षों से मूर्तियाँ बनायी जाती रही हैं, और इनमें मातृ–मूर्तियाँ, देवियाँ–देव, यक्ष–किन्नर–गन्धर्व–असुर आदि उपास्य मूर्तियाँ हैं।

शिल्प यथार्थ अथवा कल्पित वस्तु, व्यक्ति, दृश्य या इनमें से किसी एक या अनेक के समूह को स्थान में पुनर्प्रस्तुत करता है तथा सामान्य विचारों, अनुभूतियों या दूसरे तरह के अनुभवों को 'विमर्श' देता है। ऐतिहासिक क्रम में–जादुई, धार्मिक, राजनीतिक, आलंकारिक, स्मारकपरक, कलात्मक और अन्य प्रयोजनों को सिद्ध करता है। शिल्प में आकृति की 'पुनर्प्रस्तुति' के बाद पदार्थ और आयतनों में 'अभिरुचि' तत्पश्चात् आकृतियों पर भिन्न–भिन्न कोणों से पड़े 'प्रकाश और छाया' की मोहक भंगिमाएँ हमारे भावों और इन्द्रियबोधों को संचेतन कर देती हैं। शिल्प में मजबूती पदार्थ की, शक्ति भावव्यञ्जना की और धीरता पुनर्प्रस्तुति की होने के कारण प्रेक्षकों में सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। अन्य

कलाओं के समान मूर्तिकला में भी रसास्वादन हुआ करता है।

काव्य-कला

काव्य में कला और उसके तत्त्व को यूरोप में अरस्तू के काव्यशास्त्र (Poetics) और प्लेटो के संवादों में तथा भारत में भरत के नाट्यशास्त्र में पहली बार परिभाषित किया गया। काव्य–कला की महानता और उदात्तता के कारण राजशेखर ने इसको विद्या के अन्तर्गत परिगणित किया है। शैक्षणिक क्षेत्र में काव्य को महत्त्व प्राप्त होने के कारण इसे कला के अतिरिक्त रूप में भी लिया जाता है। काव्य–कला का माध्यम 'भाषा' होने के कारण सर्वसामान्य जन भी इसमें रूचि लेते हैं।

काव्य की उत्पत्ति - काव्य का प्रादुर्भाव शब्द–समूहों या वाक्यों में होता है जो मनुष्यों के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य की उपत्पत्ति इस जगत् के यथार्थ रूप से हुई है। वाल्मीकि रामायण[1] में इसका उल्लेख आया है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होने के कारण काव्य को तदाकार माना गया–'शब्दार्थौ काव्यम्'। काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप में संश्लिष्ट अर्थ को व्यक्त करते हैं। इस असाधारण अर्थ सामर्थ्य के कारण काव्य में आनन्द की अनुभूति होती है। काव्य के गुणों में सांगीतिक लयबद्धता का बिम्ब बनकर मानस–पटल पर प्रत्यक्ष हो उठना, सूक्ष्म–से–सूक्ष्म विचार को मूर्त कर देने की क्षमता तथा प्रकृति के विशाल और खुले प्रांगण में उदात्त अनुभव की ओर ले जाने की क्षमता आदि होने के कारण काव्य–कला को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

काव्य का स्वरूप - काव्यलक्षणकारों के मतानुसार कोई भी शाब्दिक रचना काव्यजनित अनुभव को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है जिसमें सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुकूल किसी वस्तु का केवल यथातथ्य वर्णन मात्र ही न किया गया हो, वरन् जिसमें कुछ अंशों में वक्रत्व वर्तमान हो, कुछ अंशों में कलात्मक तत्त्व विद्यमान हो, जिसमें वस्तु का वर्णन उस स्वरूप में किया गया हो जिस स्वरूप में वह कवि के प्रातिभ चक्षुओं के सामने उपस्थित होती है तथा जो काव्यगुणग्राही सहृदय पाठकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हो।[2] आनन्दवर्द्धन के अनुसार कवि का उद्देश्य है सहृदय को आह्लाद–निमग्न करना और वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति सौंदर्य–निर्मिति से करता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द कहकर प्रत्यक्ष रूप में रमणीयता के महत्त्व को माना है।[3] भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्य का उद्देश्य बुद्धि को बढ़ाना बताया है –

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।[4]

इस श्लोक पर अभिनवगुप्त की व्याख्या है कि नाटक गुरु के समान उपदेश नहीं देता, वरन् वह बुद्धि का विवर्द्धन और प्रतिभा को विकसित करता है।[5] भामह ने काव्य के रूप अर्थात् शरीर को सुसज्जित रमणी के समान माना है[6] तथा उसका उद्देश्य साधु काव्य का निषेवण कीर्ति तथा प्रीति (आनंद) उत्पन्न करना माना है। शब्द और अर्थ दोनों का योग ही काव्य है तथा सहृदयों में कलाजनित आनन्द प्रदान करनेवाली भाषा[7] में भाव प्रकट करने की विधि जिसको शास्त्र में 'वक्रोक्ति' कहते हैं, काव्य का मूल तत्त्व है। वक्रोक्तिहीन शाब्दिक रचना आकर्षक रीति में लिखी एवं माधुर्य तथा प्रसाद गुणों से युक्त होने पर भी काव्य नहीं कही जा सकती। इस प्रकार की शाब्दिक रचना एक गीत के समान केवल कानों को

---

१. वाल्मीकि रामायण १/३/२-७। २. स्वतंत्र कलाशास्त्र, कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ० ५०५। ३. रसगंगाधर, पृ० १०। ४. नाट्यशास्त्र, १/११५। ५. अभिनव भारती, पृ० २११। ६. काव्यालंकार, २५। ७. काव्यालंकार, ४१।

ही[1] रमणीक लगती है। आचार्य दण्डी ने काव्य को शरीर (तिल–तैल न्यास से) शब्द और अर्थ (रूप और कांति) का संयोग माना है। इसमें रीतियाँ अंगरचना की तरह, अलंकार कटककुंडल की तरह तथा गुण आत्मशौर्य की तरह हैं। विश्वनाथ और जगन्नाथ दोनों ने 'शब्द' को ही शरीर माना है। 'अर्थ' या 'शब्दार्थ' को नहीं तथा काव्य को चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन मानते हैं। मीमासंक शब्द को द्रव्य (भूत) मानते हैं, गुण नहीं। इनके संयोग अर्थात् संबंधन को वे गुण मानते हैं। ये द्रव्यमूलक वर्ण नित्य हैं जिनकी प्रत्यभिज्ञा परिवर्तनीय है। नैयायिक शब्द को गुण तथा अनित्य मानते हैं। अर्थात् वह उत्पन्न और विनष्ट होता है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए[2] केवल वक्रोक्ति को ही नहीं वरन् रस को भी काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार किया है। उद्भट ने 'काव्यालंकार संग्रह' में रस को काव्य की आत्मा न मानकर अलंकार मात्र माना है। मम्मट ने 'दोष रहित शब्द और अर्थ' को गुणयुक्त तथा कहीं–कहीं बिना अलंकार के भी होने पर (शब्द और अर्थ) काव्य कहा है[3] तथा काव्य का प्रयोजन यश की प्राप्ति, व्यवहार–ज्ञान, शिवेतर की क्षति, सद्यः परनिर्वृत्ति तथा कान्तासम्मित उपदेशदान माना है।[4] इस तरह हम देखते हैं कि जीवन, कला एवं कलाकृति के त्रिकोण ने सौन्दर्य के तत्त्व और उसके अन्तर्सम्बन्ध के द्वन्द्व न्याय को खोल दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है :– कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की उच्चकक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदय से एकाकार हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास–विलास में आनंद–नृत्य का, उसके गर्जन–तर्जन में जगत् के गर्जन–तर्जन का आभास मिलता है।[5]

काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की स्थापना - भाषा द्वारा काव्य सत्य का निर्माण होता है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्रियों ने काव्य सत्य को कलात्मक सत्य का प्रतिभास (illusion) माना है। भारतीय आचार्यों ने काव्य–सत्य को प्रतिभास (भ्रान्ति) नहीं माना है। लौकिक सृष्टि और काव्य सृष्टि में भेद यह है कि लौकिक सृष्टि परिवर्तित होती रहती है किन्तु काव्य सृष्टि सदैव सुखात्मक होने के कारण मंगलास्पद (शिव) मानी जाती है तथा अपरिवर्तनीय होने के कारण सत्य की संज्ञा भी ग्रहण करती है क्योंकि सत्य वही है जो शाश्वत और सनातन हो। काव्य–कला के भीतर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की स्थापना इसी रूप में की जाती है।

काव्य का अर्थ - काव्य का अर्थ[6] निस्सीम होने के कारण दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : विचारित सुस्थ और अविचारित रमणीय। १. तर्क तथा युक्ति से शोभन और रुचिकर प्रतीत होनेवाले अर्थ को विचारित सुस्थ माना गया है। २. कल्पना के माध्यम से रमणीय अर्थ की सृष्टि को अविचारित रमणीय अर्थ माना गया है। उद्भट तथा उनके अनुयायियों ने शास्त्रों में वर्णित अर्थ को विचारित सुस्थ तथा काव्यों में वर्णित अर्थ को अविचारित रमणीय या आपात रमणीय अर्थ माना है।[7] आचार्य राजशेखर ने काव्यपुरुष को सांगरूपक माना है। शास्त्रों में जिस अर्थ को निरूपित किया जाता है वह स्वरूप निबंधन होता है और काव्यों का अर्थ प्रतिभास निबंधन होता है। इन्होंने काव्यपुरुष तथा साहित्य विद्या वधू की देशयात्रा भी करायी है। स्वरूप निबन्धन यथातथ्य का निरूपण करता है जिसके अन्तर्गत विज्ञान और दर्शन का क्षेत्र आता है तथा प्रतिभास निबंधन काल्पनिक और अनुभूतिजन्य अर्थ का, जिसका क्षेत्र काव्य है।

---

१. काव्यालंकार, भामह, ४।
२. काव्यालंकार, सूत्र वामन, १४। ३. तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि। ४. काव्य प्रकाश, १/२।
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रसमीमांसा, पृ० २५। ६. कवेः कर्त्तुम् इति काव्यम्। ७. काव्यमीमांसा, पृ० ११०।

काव्यात्मक तत्त्व - कवि शब्दों के माध्यम से प्रतिभास निर्मित करता है। शब्दों में ध्वनि, अर्थ, उच्चारण आदि विविध रूप होते हैं। काव्यात्मक तत्त्वों की निर्मिति के लिए शब्द उपादान मात्र होते हैं। विषयभूत संसार की विविधताओं को अभिव्यक्त करने को प्रतिभास कहते हैं। शैवमतप्रतिपादक साहित्य में इसे 'मयूराण्डरस न्याय' के द्वारा स्पष्ट किया गया है – जैसे मोर के अण्डे के अन्दर वर्तमान द्रव पदार्थ में वे सब रंग पूर्ण एकात्म रूप में वर्तमान रहते हैं जो कि एक तरुण मयूर में पाये जाते हैं। सभी विविधताओं की परतत्त्व में एकात्मकता को स्पष्ट करने के लिए यह न्याय बताया गया है। कवि भी अपनी अनुभूतियों को, जीवन के घटना–क्रम के सादृश्यों को रूप में व्यवस्थापित कर जीवन के एक अंश को निर्मित कर प्रत्यक्ष करता है।

काव्य के संबंध में **मारितें** कहते हैं कि मैं कविता से उस विशिष्ट कला का आशय नहीं ग्रहण करता जो पद्य लिखने में सम्मिलित है, वरन् एक ऐसी प्रक्रिया का आशय ग्रहण करता हूँ जो अधिक सामान्य और अधिक मौलिक है। वह वस्तुओं की आंतर सत्ता का अंतःसंप्रेषण है, जिसे एक प्रकार का दिव्यीकरण कहते हैं। इस अर्थ में कविता प्रत्येक एवं समस्त कलाओं का जीवन है।[१] शब्द अर्थयुक्त होते हैं और साहित्यिक आसंगों से अनुरंजित रहते हैं।[२]

सरस रूप में काव्य - भट्टलोल्लट ने कहा है कि काव्य का अर्थ–समूह भले ही असीम और सार्थक हो, किंतु काव्य में सरस अर्थ का ही निबंधन आवश्यक होता है, नीरस विषय का नहीं।[३] राजशेखर का मत है कि काव्य में कवियों के वाक्य ही सरसता और नीरसता उत्पन्न करते हैं। अर्थ सरस या विरस नहीं होते, क्योंकि प्रतिभासम्पन्न कवि साधारण–से–साधारण अर्थ को भी चमत्कारी बना देते हैं और प्रतिभाशून्य कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देते हैं।[४] अवंतिसुंदरी में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव की होती है, अर्थात् उसमें न गुण होता है और न दोष। वह प्रयोक्ता कवि की प्रतिभा के कारण सगुण या निर्गुण हो जाती है।[५] भरत मुनि का कथन है ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, न कोई शिल्प है, न कोई ऐसी विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न ऐसा कोई योग (योजना) है और न कोई ऐसा व्यापार है जो नाट्य में नहीं दिखलायी पड़ता।[६] भामह ने भी कहा कि ऐसा कोई शब्द, अर्थ, शिल्प या क्रिया नहीं है जो काव्य का अंग न हो जाये।[७] आनन्दवर्द्धन ने कवि को प्रजापति के समक्ष रखा है, जिसका काव्य अपने–आप में एक संसार है और जिसे वह अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तित कर लेता है।[८] धनंजय के शब्दों में कवि की भावना से भावित होने पर प्रत्येक वस्तु चाहे वह क्षुद्र हो, चाहे रम्य हो, चाहे जुगुप्सित हो, चाहे उदार हो, रसत्व को प्राप्त कर लेती है, यहाँ तक कि अवस्तु–काल्पनिक वस्तु भी काव्य का विषय बनकर रमणीय हो जाती है।[९] इस प्रकार कवि 'प्रतिभा' द्वारा किसी भी वस्तु को वर्णना द्वारा काव्य (कला) बना देता है।

साहित्य ही काव्य - साहित्य अपने प्राचीन रूप में महाकाव्य ही है। वेदों में कला सम्बन्धी समस्त सामग्री प्रचुर रूप से विद्यमान है। वेद में रस और आनन्द है; रूप है और रंग है; साम (संगीत) है और ऋक् (पद्य) है; सूक्ति = अच्छी उक्तियाँ और गाथा–गीतात्मक कथाएँ हैं और अन्त में; वहाँ सत = आत्मा = चेतना का आलोक है; और ऋत् की लय गति।[१०] प्राचीन महाकाव्यों में जाति–विशेष की सभ्यता और संस्कृति छिपी हुई है जो अपने नवीन रूप में अत्यन्त गौरवपूर्ण, समृद्ध तथा उदात्त

---

१. क्रिएटिव इनटुइशन इन आर्ट एंड पोएट्री, पृ० ३।
२. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन, पृ० ११०।
३. काव्यमीमांसा, पृ० ११३।
४. काव्यमीमांसा, पृ० ११३।
५. काव्यमीमांसा, पृ० ११६।
६. नाट्यशास्त्र, १/११५।
७. भामह, काव्यालंकार, ५/३।
८. ध्वन्यालोक, पृ० १२२६।
९. दशरूपक, धनञ्जय ४/८५।
१०. कलादर्शन, डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, पृ० १८।

संस्कृतियों का परिचायक है।

काव्य में नाटक - नाटक अपनी मौलिकता के कारण उच्चतम साहित्य है। कलाओं में रूप की अनुभूति होने पर ही रसानन्द मिलता है। मानव ने सर्वप्रथम 'रूप' को, रूप में अर्थ, अलंकार, गुण, रीति आदि को पहचाना। 'नाट्य' में भी रूप होता है इसलिए धनञ्जय ने नाटक को रूपक कहा है।[१] काव्य में नाटक ही सबसे रम्य और प्रभावशाली है। नाटकों में काव्य–कला का पूर्ण प्रतिभास मिलता है। आदि से अन्त तक, प्रवेश से निर्वाह तक, पूरे आरोह–अवरोह में रूप व्याप्त रहता है तथा उस रूप में लय, गति, संतुलन, संगति, संवाद, समभार, एक और अनेक का समन्वय, प्रधान गुण भाव और अर्थ का आलोक आदि सभी गुण विद्यमान रहते हैं।[२] काव्य वर्णित विषय–वस्तु का विषय रूप में साक्षात्कार करने के कारण काव्य सविकल्पक है, प्रधान पात्र के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापित हो जाने के कारण नाटक निर्विकल्पक है।

काव्य और नाटक में भेद - विकास के प्रारम्भिक चरण में नाट्य और काव्य का विकास पृथक्–पृथक् हुआ था। क्योंकि नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नाटक में प्रदर्शित किये गये उस कलारूप वस्तु का विश्लेषण करना था जिसको शास्त्रीय भाषा में रस कहते हैं। परन्तु काव्यलक्षणशास्त्रों का प्रयोजन यह था कि भाषा की उन सभी कलापूर्ण रचनाओं के रूपों का विश्लेषण किया जाय, जिनमें वह मुक्तक भी सम्मिलित है क्योंकि वर्णनीय वस्तु एक असंबंधित पृथक् रूप विषय का वह स्वरूप होता है जिसका साक्षात्कार कवि अपने प्रतिभा चक्षुओं से करता है।[३] इसी आधार पर काव्यलक्षणकारों ने नाटक से भिन्न काव्यकृतियों में अलंकार, गुण, रीति आदि का स्पष्टीकरण किया।

नाटक और काव्य का रसास्वादन - नाटक दृश्य है और काव्य श्रव्य। रसास्वादन प्रेक्षक तभी करता है जब सम्पूर्ण चित्र उसके सामने उपस्थित हो जाय। कवि अपनी रचना कल्पना लोक में करता है। उस रचना का आस्वादन उसी तरह के कल्पना–लोक में विचरण करनेवाले व्यक्ति कर सकते हैं किन्तु नाटक में प्रदर्शित कार्यों के विविध रूप, विभिन्न भावों से प्रभावित स्वर विवर्णता (काकु), प्रसाधन, वेशभूषा आदि होने के कारण नाटक को काव्य का सवोत्कृष्ट रूप माना गया। नाटक में सुखान्त और दुःखान्त रूप की परिकल्पना की गयी है। संस्कृत नाटकों में भास का 'उरुभंग' दुःखान्त है तथा अन्य नाटकों में जीवन के आरोह–अवरोह में सामंजस्य कर सुखान्त की ही परिकल्पना की गयी है। पाश्चात्य साहित्य में जीवन–संघर्ष को संघर्ष ही माना गया, वहाँ सामंजस्य नहीं किया गया। भारत में कलानुभूति के भावों को ध्यान में रख जीवन से परे अलौकिक रूप को सुखान्त होना ही बेहतर समझा गया। आधुनिक युग में पश्चिम और पूर्व की सीमा–रेखा मिटाकर जीवन के 'संघर्ष' को स्वीकार किया गया है और जीवन की लय के आधार पर नाटक–रचना को सुखांतकी या दुःखांतकी निर्धारित किया गया।

उपन्यासों में काव्य - आधुनिक काव्य विधा उपन्यास भी काव्य के अन्तर्गत आता है जिसकी व्यञ्जना है व्यवस्थित भावना। इसका कार्य है प्रतिभास को संप्रत्ययात्मक बनाना। उपन्यासकार प्रतीयमान अनुभूति को निर्मित करता है जो पूर्णतः रूपायित होती है और किसी भी आधुनिक समस्या, मानवीय भावना, स्वयं मानव–जीवन की प्रकृति से अधिक मौलिक किसी वस्तु की पूर्णतः व्यंजक होती है। उपन्यासकार किसी कवि के समान ही पूर्णतया जीये गये और अनुभूत किये गये जीवन का प्रतिभास निर्मित करता है और उसे साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में, स्मृत्यात्मक वृत्ति में प्रस्तुत करता है।[४]

---

१. तद्रूपारोपात्तु रूपकम्। **२. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, कला दर्शन, पृ० २६।**
३. डॉ० कान्तिचन्द पाण्डेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ० ५०६।
४. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन, पृ० १२२।

गद्य और पद्य की कल्पना साहित्य का अंतर शुद्धतः साधनों और प्रभावों का अन्तर है। दोनों साहित्यिक रूप काव्यात्मक प्रतिभास निर्मित करते हैं, अर्थात् प्रतीयमान इतिहास निर्मित करते हैं, जिनमें समस्त घटनाएँ अनुभूतियाँ होती हैं।[१] इस तरह उपन्यास जीवन की प्रतिलिपि न होकर, जीवन के प्रति लेखक का अंतर्दशन है जो जीवन के सत्य को आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यास की कला इसी रूप में जानी जाती है।

इस तरह काव्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। वह जिस भी कला को स्पर्श करता है उसी में प्राण संचालन हो जाता है। काव्य में चित्र, मूर्ति, वास्तु, संगीत, नाटक आदि सभी का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है जो कलानुभूति के आवश्यक तत्त्व हैं। मूर्त आधार की कमी होने के कारण इसे उच्चकोटि की कला माना गया। दृश्य रूप में नाट्य (काव्य) का प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है किन्तु दृश्य के रूप में तो यह कला सर्वाधिक निम्न है।

---

१. रामलखन शुक्ल, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन, पृ० १२३।

कला का प्रयोजन

प्राचीन काल से आज तक निरन्तर कलाओं का प्रचार–प्रसार देखकर उनका प्रयोजन स्वतः सिद्ध है। विद्वत्समाज से लेकर सामान्य जन तक के लिए बोधगम्य होने के कारण 'कला' सर्वश्रेष्ठ पद पर आसीन है। इसमें 'अपने आपको भूल जाने' (विगलित वैद्यान्तरमानन्दम्) का गुण होने के कारण यह सभी प्रयोजनों का मौलिभूत (सिरमौर) है।[१]

प्रकृति के एक–एक रूप में इतना अधिक सौन्दर्य रचा–बसा है कि माघ को कहना पड़ा – **'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'** कवि और कलाकार उसमें अवगाहन करते–करते रूपों का निर्माण अनायास ही करने लगता है। रूप हेतु विधायित सामग्री प्रकृति में कभी भी समाप्त न होने के कारण युग–युगान्तर से कलाओं में प्रकृति से ही सामग्री एकत्रित होती रही है। वैदिक काल में प्रकृति के ही विराट् रूप को कला समझा गया। वैदिकजनों ने नैसर्गिक सौन्दर्य से ही स्फूर्ति ग्रहण की। ऋग्वेद के 'उषा' सूक्त में प्रातःकाल को देवी के रूप में मानव की मंगलकामना हेतु रूपायित किया गया।[२] प्रातःकाल हिरण्य के समान रमणीय दर्शनवाली देवी उषा मर्त्य प्रजाओं के लिए अमृत का दान करती हुई हिरण्यरथ में बैठकर जब आकाश में संचरण करती है तब कौन सहृदय व्यक्ति उसकी श्री से गद्गद नहीं हो जाता। उसका सौंदर्य कभी क्षीण नहीं होता। पुरानी उषा चिर–यौवना, नित्य–युवती के समान आज भी श्री और सौंदर्य से अलंकृत हो संचरण करती हुई सबको आनंद प्रदान करती है। प्रातःकाल के इस रूप को बाद के कलाकारों ने अपने–अपने अनुभवों के अनुसार भिन्न–भिन्न रूपों में रूपायित किया।

मनोभाव को अधिकतम सौंदर्य के साथ मूर्तरूप में प्रकट करना ही कला है। फेक्नर ने कहा है कि –'सौन्दर्य की कोई निश्चित सरल रेखा अथवा कोई प्रकृत रूप नहीं होता है। आयताकार, वर्गाकार आदि ज्यामितीय चित्रों में सौन्दर्य का कारण उनका बाह्य रूप नहीं, बल्कि द्रष्टा की आन्तरिक मनस्तुष्टि है। किसी वस्तु की बाह्य रेखाकृति (Convex) उसकी आन्तरिक रेखाकृति (Concave) की अपेक्षा कम सुन्दर होती है। बाह्यरूप में विकर्षण, तिरस्करण और विलगाव की भी प्रवृत्ति रहती है, इसके विपरीत आभ्यंतर रूप में आकर्षण, ग्रहणशीलता और सम्मिलन की भावना रहती है।' कला के सौंदर्य और लावण्य की अनुभूति मन में हर क्षण नये रूप में प्रकाश पाकर होती रहती है जिससे मन मुग्ध रहता है। मुग्ध भाव को संवेग (Aesthetic shoke) कहते हैं। यह 'ऐस्थेटिक' सौंदर्य का पर्याय बनकर प्रचलित हुआ। यह शब्द यूनानी भाषा के 'एस्थिटिकोस' के आधार पर बना जिसका अर्थ है इन्द्रियबोध अथवा वस्तु–बोध का प्रत्यक्षानुभव। सौंदर्य–विचार के लिए सौंदर्यशास्त्र, सौंदर्यविज्ञान, नन्दन तत्त्व आदि शब्द भी प्रचलित हुए हैं। सौंदर्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है : सुन्दर + ष्यञ्–सुन्दर होने का भाव, सुंदरता।

---

१. 'सकल प्रयोजन-मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनमुद्भूतं विगलित वैद्यान्तरमानन्दम्' - काव्यप्रकाश, प्रथम प्रकाश।

२. एषा दिवो दुहिता प्रत्यर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषां अद्येह सुभगे व्युच्छ ।।१/११३/७।।
शशवत् पुरोषा व्युवास देव्यऽथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
अथो व्युच्छादुत्तरां अनुद्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः ।।१/११२/१३।।

सुंदर–(सुष्ठु उनत्ति आर्द्री करोतिचित्तमिति)। सु + उन्द–क्लेदने + अरः। (शकन्धादित्वात् साधुः।) जो चित्त को आर्द्र बना देता है। मनोहरम्। तत्पर्यायः।[1]

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका[2] में उस शास्त्र को 'ईस्थेटिक्स' कहा गया है जो ऐन्द्रियबोध से प्राप्त सौंदर्य–भावना के मनोमय आनंद का विश्लेषण करता है। के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने बताया है कि – 'Aesthetics is the science of beauty as expressed in art.' सौंदर्यशास्त्र कला में अभिव्यक्त सौंदर्य का विज्ञान है।

सौंदर्यशास्त्रियों और कलाकारों की तीन मुख्य धारणाएँ विचारणीय हैं : (१) मुख्यतः सौंदर्य स्वयं वस्तु में पाया जाता है, (२) उस प्रभाव में होता है, जिसे वह उत्पादित करता है अथवा (३) सौंदर्य इन दोनों के अन्तःसंबंध में पाया जाता है। इनके अनुसार सौंदर्य उस पूर्णता के समकक्ष है जो उस रूप–आकार के माध्यम से प्राप्त की जाती है जो कलाकार की धारणा के निर्दोष, संवेद्य प्रकाशन के रूप में या सर्जनात्मक कल्पना की स्वतंत्र आत्मनिर्भर निर्मिति के रूप में परिभाषित की जाती है। किसी सुन्दर वस्तु का विशिष्ट मूल्य जो उस प्रभाव से पृथक् रूप में रहता है, जिसे वह उत्पन्न करती है या कर सकती है।[3]

क्लाइब बेल और रोजर फ्रॉय ने चित्रकला का अध्ययन करते समय यह बताया है कि कलागत सौंदर्य का मूल कारण उसका अर्थवत् रूप (सिग्निफिकेण्ट फार्म) है। अर्थवत् रूप से उनका आशय उस व्यवस्था के मेल से है जो हमें एक विशेष प्रकार से विचलित या द्रवित करता है।[4] किसी चित्र में विभिन्न प्रकार के छाया–प्रकाश और वर्ण वैविध्य का निदर्शन किया जाता है, लेकिन सौन्दर्यानुभूति के समय उसमें एक रागिनी का बोध होता है। चित्र को खंडशः देखने से उसका चित्रत्व समाप्त हो जाता है। खंडों में अखंड का, अनेकता में ऐक्य का और अंशों में पूर्ण अंश का दर्शन ही वास्तविक सत्य दर्शन है।[5]

५.ला में सौंदर्य का स्थायी रूप से विद्यमान होने का अनुमान हम सुन्दर के पर्याय शब्दों से भी लगा सकते हैं – रुचिर, चारु, सुषमम्, साधु, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यम्, मनोज्ञम्, मंजु, मंजुलम्, इत्यमरः। मनोहारि, सौम्यम्, भद्रकम्, रमणीयम्, रमणीयकम् इति तट्टीका। बन्धूरम्, पेशलम्, वामम्, रामम्, अभिरामम्, नंदितम्, सुमनम्, इति शब्द–रत्नावली। वल्गु, हारि, स्वरूपम्, अभिरूपम्, दिव्यम् इति जटाधरः।[6]

लैंगर[7] ने सौंदर्यशास्त्र की चर्चा में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है कि सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध अभिव्यक्ति (Expression) से है अथवा चेतना (Consciousness)] अनुभूति या प्रभाव (Impression) से?–कलाकार कला–रचना में सौन्दर्य का अध्ययन अभिव्यक्ति के लिए करते हैं, चेतना, कलाकार में आनुवंशिक रूप में विद्यमान रहती है तथा सहृदयों में प्रभाव का अध्ययन भावना के अनुसार किया जाता है।

प्लेटो ने 'गणराज्य' में काव्य और चित्रकला में सौंदर्य को परिसीमित कर, अनुकृतिमूलक कला–रूप में विवेचित किया है तथा 'फीड्स' में कहा है कि सौंदर्य, विशेषतः आकार और शोभा का

---

१. भारतीय सौंदर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन, पं० रामलखन शुक्ल, पृ० २३-२४।
२. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग ११, पृ० २१७। **३. बेबस्टर्स न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी।**
४. बेल, आर्ट, पृ० १६। **५. शिव बालक राय, काव्य में सौंदर्य और उदात्त तत्त्व, पृ० ५७।**
६. शब्दकल्पद्रुम। **७. द थियरी ऑफ ब्यूटी, पृ० ३४।**

दृश्यमान सौंदर्य तथा लय और गीत का श्रूयमान सौंदर्य, यदि प्रकृति में पाया जाता है तो वह मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा देता है तथा साथ ही सद्‌विचार की ओर प्रेरित करता है। काण्ट ने भी कहा है कि उदात्त और नैसर्गिक सौंदर्य के प्रति संवेदनशील नैतिक विचारों की ग्रहणशीलता ही प्रमुख है। रस्किन ने भी कला–विवेचन के नैतिक स्वरूप को अंगीकृत किया।[1]

किन्तु सौंदर्य–प्रेमी नैतिकता–प्रेमी भी हो यह आवश्यक नहीं है। रस्किन ललित कला के केवल तीन कार्य मानते हैं–मानव की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति, उसकी नैतिक स्थिति को पूर्ण बनाना और उसकी भौतिक सेवा करना।[2] ड्रायडेन ने कविता का लक्ष्य आनन्द ही नहीं; वरन् समुचित आनन्द माना है तथा सौंदर्य–निर्मिति और सौंदर्य–बोध मानव–जाति के लिए अपने–आप में उसी रूप में शिव और वरणीय है, जिस रूप में गुण या ज्ञान और उसी रूप में परितोष प्रदान करते हैं, जिस रूप में गुण और ज्ञान। इसको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। शोपेन हावर और नीत्शे ने संवेग को सौंदर्य का आधार माना है। उनके अनुसार कुछ वस्तुएँ अपने ही रूप में सुन्दर नहीं होतीं, वरन् प्रत्येक वस्तु विभिन्न रूपों में सुन्दर प्रतीत हो सकती है, उसे समझने के लिए हममें आवश्यक प्रतिभा अपेक्षित होती है। वे कहते हैं कि वस्तुएँ जो किसी भी स्तर पर इच्छाशक्ति को यथेष्ट रूप में विषयीकृत करती हैं, सरलता में सुंदर दिखायी पड़ती हैं। सौंदर्य प्रेम के समान हमारे द्वारा ही अथवा पूर्ण प्रतिभा के द्वारा सर्जित होता है। इन्होंने सौंदर्य के लिए अनुकृति को न मानकर संवेग को आवश्यक माना है। नीत्शे ने नैतिकता को भ्रम माना क्योंकि शक्तिशाली मनुष्य सारे संसार का स्वामी बनने का स्वप्न देखते हैं, अतः नैतिकता तो सबल और निर्बल में अलग–अलग होती है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर उन्होंने कहा है कि कला आत्माभिव्यक्ति है। कलाकार अपनी इच्छा का शासक होने के कारण वास्तविकता का सृजन करता है और वास्तविकता ही कला में सुन्दर कहलाती है। इस प्रकार उन्होंने सत्य को सुन्दर न मानकर इच्छानुसार रूपान्तरण को ही सौन्दर्य माना है।[3]

हीगेल ने सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत ललित कला के दर्शन को स्थापित किया है। उनके अनुसार सृष्टि की प्रथम सत्ता परमतत्त्व है और यही आत्मा का सारतत्त्व है। सभी पदार्थ इसी से उद्भूत हैं। उन्होंने कला को सत्य या आध्यात्मिक यथार्थ की ऐंद्रिय रूप में प्रस्तुति माना है। सत्य, धर्म या दर्शन के माध्यम से मनन–चिंतन द्वारा ही गृहीत हो सकता है तथा कला का विषय भाव (Idea) है। भाव को इन्होंने मस्तिष्क या आत्मशक्ति माना है। यह न तो सूक्ष्म साधारण में और न तो विशिष्ट सीमित प्रकाशन में अभिव्यक्त होता है, बल्कि यह सार्वभौम और विशिष्ट, स्वातंत्र्य और आवश्यकता, आध्यात्मिक और स्वाभाविक के ऐक्य रूप में प्रकाशित होता है, अप्रमेय होते हुए भी स्पष्ट तथा वैयक्तिक होता है। हीगेल ने नैसर्गिक (प्राकृतिक) सौंदर्य की तुलना में कलात्मक सौंदर्य को अधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने संसार की उपयोगी अथवा उत्पादित सुन्दर वस्तुओं में निहित कला के रूप को गौण माना तथा इन्द्रियबोध के लिए कहा है कि कलाकार की कृतियों को ही दर्शक प्रत्यक्ष करता है। सौंदर्य के प्रत्यय के साथ तादात्म्य की स्थिति को परमतत्त्वमूलक माना और मनन को सर्वोच्च आनन्द की स्थिति।

इटली के बेनडेट्टो क्रोचे (१८६६–१९५२ ई०) ने कला और सौंदर्य की एकात्मकता परिकल्पित की है और इसको कलाकृति से अलग सिद्ध करने का प्रयत्न किया। कलाकार प्रकृति की संवेदनाओं को अपनी आत्मा में मूर्त बिम्बों के रूप में ग्रहण करता है। कलाकृतियों का अस्तित्व संप्रेषण पर न होकर अभिव्यक्ति पर ही निर्भर है। कलाकृतियाँ ध्वनि, शब्द, रंग, आकार या किसी अन्य रूप में स्पष्ट व्यक्त न

१. फीलिंग एण्ड फार्म, पृ० १३-१४।

२. द थियरी ऑफ ब्यूटी : द हेडॉनिस्टिक मारल थियरी।

३. द थियरी ऑफ ब्यूटी : इमोशनलिस्ट थियरीज फ्रेडरिख नीत्शे (१८४४-१९०० ई०)।

होने से उनमें सुन्दरता नहीं है तथा इन रूपों में अभिव्यञ्जक न होने पर भी वे (कलाकृतियाँ) सुन्दर नहीं हैं। अतः दोनों की पूर्णतया एकात्मकता में ही सुन्दर का भाव है। ज्याक मारिते के अनुसार प्रकृति सर्वाधिक सुन्दर है, क्योंकि वह संवेग से परिपूर्ण है। सौन्दर्यबोध में ज्ञान सहित संवेग आवश्यक होता है।[1]

सौंदर्यात्मक भावना एवं सौंदर्यबोध में अभिव्यञ्जित वैशिष्ट्य, अव्यक्त अर्थ अचेतन रूप में मस्तिष्क पर कम या अधिक दबाव डालकर महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं।[2]

तैओदोर लिप्स (१८५१–१६१४ ई०) ने सौंदर्यात्मक आनन्द को किसी वस्तु में अपनी निजी क्रिया का आनन्द माना है। यह दृष्टिकोण उन्होंने मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। मन के अन्दर सौंदर्यमूलक भाव होने के कारण भ्रमवश हम वस्तु को भी सुन्दर समझते हैं। सौंदर्यात्मक भावना ऐंद्रिय वस्तु में आत्मक्रिया की भावना है। समानुभूति के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है कि दूसरे के जीवन की अभिव्यक्ति के द्वारा मुझमें उद्रिक्त मेरी ही भावना के विषयीकरण में भी यह सारी चेतना उद्भूत होती है कि मुझसे बाहर मानसिक अस्तित्व है। कैरिट ने सामान्य रूप में संवेग को सौंदर्य की अभिव्यक्ति माना है। सौंदर्य की अनुभूति एक क्रिया है। शिव और मनोज्ञता उसमें इसी रूप में विद्यमान हैं। एडवर्ड बुलोए भी मनोवैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्री हैं। उनके अनुसार कला का सौंदर्य प्रमाता की दृष्टि में नहीं होता, तो भी कला के सौंदर्य प्रेक्षण में सदा दो तत्त्व निहित रहते हैं। पहला तत्त्व वह है, जिसका संबंध कलाकृति से होता है और दूसरा तत्त्व वह है, जिसका संबंध प्रमाता से होता है। श्रीमती लैंगर ने इस सिद्धान्त पर सहमति प्रकट करते हुए कहा है कि कला जिसे अभिव्यक्ति प्रदान करती है, वह यथार्थ भाव नहीं होता, अपितु भाव के विचार होते हैं। बुलो ने भी कला–निर्मिति में भाव का निहित होना बताया है। वह भाव जो प्रमाता के मस्तिष्क के सामने इस प्रकार उपस्थित किये जाते हैं कि वे उन्हें भावित कर सकें। उपर्युक्त सौन्दर्य–सम्बन्धी दृष्टान्तों पर दृष्टिपात करने के बाद हमें बोसांके के मत से सहमत होना पड़ता है कि यह सच है कि अंतःप्रकाश के बिना शिल्प आत्मलाभ नहीं कर सकता, किंतु यह मानना भी असंगत है कि अन्तःप्रकाश से ही शिल्प की अभिव्यक्ति होती है। उसके बिना शिल्प का दृष्ट रूप संभव नहीं होता, किन्तु बहिः रूप का त्याग करने पर आंतर रूप भी पूर्ण नहीं हो पाता। बहिर्जगत् के साथ आदान–प्रदान करके हमारा चित्त स्पष्टता प्राप्त करता है। अतएव जिस प्रकार बहिर्जगत् अपनी अभिव्यक्ति के लिए आंतरिक जगत् का सहारा खोजता है, उसी प्रकार आंतरिक जगत् को भी आत्मलाभ के लिए बहिर्जगत् की अपेक्षा रहती है।[3]

सौंदर्यशास्त्र का विकास केवल पाश्चात्य देशों में ही नहीं हुआ, वरन् भारत में भी इसकी स्पष्ट परम्परा है। भारतीय परम्परा में सौंदर्य की विवेचना वैदिक काल से प्राप्य है। वैदिक ऋषियों ने सविता में सत्य, शिव और सुन्दर की झाँकी प्रस्तुत की है।[4] सौंदर्य को परमसत्ता के रूप में व्याख्यायित किया[5] तथा सुन्दर वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा भी जाहिर की है।[6] 'ईश', 'केन', 'कठ', 'श्वेताश्वतर' और 'माण्डूक्य' उपनिषदों में सुंदर, समंजस भाव–वैभव से सम्बद्ध तथा अविच्छिन्न प्रवाहवाली कविता प्राप्त होती है। ऋषियों ने प्रकृति और मानव में भी सौंदर्य का अवबोध किया। उन्होंने परमतत्त्व को बुद्धि से गृहीत होने के कारण सत्य, अभ्यासजनित होने से शिव, और मानव तथा प्रकृति में प्रकाशमान होने के कारण सुंदर होने के भाव को स्पष्ट किया। आनंद ब्रह्म का ही पर्याय है :

---

१. ज्याक मारिते, **क्रिएटिव इनटुइशन इन आर्ट ऐंड पोयेट्री**, पृ० ८।
२. **क्रियेटिव इनटुइशन इन आर्ट ऐंड पोएट्री**, पृ० ६।
३. **लेक्चर्स ऑन ऐस्थेटिक्स**, संदर्भ **सौंदर्य-तत्त्व**, पृ० २५२।
४. ऋग्वेद ५, ८२/७७। ५. ऋग्वेद ५, ८२/६। ६. ऋग्वेद ५, २३/६।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दात् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यमिविशन्तीति।[1]

'आनन्द ब्रह्म है, आनन्द से ही सभी जीवन उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही उत्पन्न होकर जीते हैं तथा मृत्यु के उपरान्त आनन्द में ही प्रवेश करते हैं।' इस आनन्द का उत्स रस है। रस ब्रह्म है : **रसो वै सः**। (वह ब्रह्म ही रस है)। यह सुन्दर का परिपूर्ण आदर्श है। ब्रह्म पूर्ण है – **ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते** – इसी पूर्ण तक सब लोग पहुँचना चाहते हैं।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी सौंदर्य के लिए कहा गया है कि परमतत्त्व को जो–जो ऐश्वर्य, सौंदर्य, सत्त्व है वह मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। उन–उन देवताओं को जिन्हें तुम जानते हो मेरे ही तेज (सौंदर्य) के अंश हैं।[2] वाल्मीकि ने सौंदर्य के बाह्यांग तथा अंतरंग दोनों पक्षों का उद्‌घाटन किया। इनके काव्य में मन–मस्तिष्क अभिभूत हो जाता है। सुन्दर की व्याख्या ही विद्वानों ने इस प्रकार की है – **तद् रम्यं लग्नं यत्र च हि यस्य हृत।** – जिसमें जिसका हृदय (मन) लग जाय, हरण कर ले, अर्थात् चित्ताकर्षक हो, वही सुंदर है। वाल्मीकि बहिः सत्ता और अन्तः सत्ता के सामञ्जस्य में सौंदर्य की पूर्णता मानते हैं। इन्होंने रामायण में सौंदर्य तथा कुरूपता का समानान्तर वर्णन किया है क्योंकि सुन्दर और कुरूप एक–दूसरे के मूल्यों एवं सीमाओं का निर्धारण करते हैं। राम के सौन्दर्य को अधिक प्रमायुक्त एवं शूर्पणखा की कुरूपता को अधिक विकर्षक बनाया। कलाकारों ने रूप–विरूप को एक मानकर, विरूप तथा वीभत्स का अंकन कला में किया।[3] अतः सौंदर्य चेतना के लिए कुरूपता के प्रति शिथिलता अशोभन है तथा तीव्र प्रतिक्रिया शुभकर है।

सौंदर्य सृजन को कलाकृतियाँ ही स्पष्ट करती हैं। यह 'कलाकृति' पारम्परिक अन्वीक्षा से 'एक अखंड व्यापार' बनती है।[4] कलाकार सौंदर्य के प्रतिबोध में अंतर्मुखी मानसिक सृजन का भी प्रतिबोध करता है। लेकिन आशंसक बहिर्मुखी भौतिक रूपाकृति का ही प्रतिबोध करता है। चूँकि प्रमेय (object) में अनुभूति का अनुप्रवेश ही सौन्दर्य का स्थायीकरण है इसलिए रचना–प्रक्रिया और रसनिष्पत्ति ही विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रस्तुत कलाओं का प्रयोजन है। संस्कृत नाटकों में सौंदर्य का लक्ष्य पाकशास्त्रीय रूपक से व्यक्त 'रसास्वाद' है। कालांतर में इसी रसास्वाद को दार्शनिक मोक्षपरक आनन्द के रूप में माना गया। रसनिष्पत्ति को चर्वणा, रसना, भोग, प्रपानक रस इत्यादि पाकशास्त्र के शब्द रूपकों से स्पष्ट किया गया। वस्तुतः 'रस' आयुर्वेदिक लक्षक शब्द है जो ऐंद्रिय अनुभव तथा मानसिक प्रभाव से परिपूर्ण है।[5] कलाएँ रस को प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहयोग देती हैं। सौंदर्य की खोज में ही भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति, रीति और अलंकार संप्रदाय आदि की परम्परा स्पष्ट रूप से

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् ३/६।
२. यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ।।१०/४१।। भगवद्‌गीता
३. सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्य महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेश ताम्रमूर्धजा।
प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरणं दारूणं वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।।
४. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ३६२।
५. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ३६७।

विद्यमान है। भरतमुनि द्वारा भी पहले रस, आनंद और सौंदर्य का समीकरण किया गया था। तत्पश्चात् भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों ने रस और सौंदर्य की समानता को विशद रूप में स्पष्ट किया है। भरतमुनि के इस कथन में 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' का तात्पर्य काव्यसौंदर्य से ही है। सहृदय द्वारा आस्वाद्य रस कला निर्मिति में ही होती है। भरतमुनि ने चार विषयों की व्याख्या की है – अभिनय, संगीत, नृत्य और रस। उनके द्वारा प्रतिपादित सभी उपविषयों का संबंध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रस के साथ ही है। उदाहरणार्थ – रस का साक्षात्कार करने के लिए ३२ हाथ चौड़ा और ६४ हाथ लम्बा (४८ × ९६ फीट) रंगमंच होना चाहिए। नाट्यशास्त्र में वर्णित **'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः**।। विभावादि एवं रस में अंग–अंगी संबंध होता है। इस सम्बन्ध के स्वरूप को समझने के लिए षाडव रस[१] का दृष्टान्त दिया है। षाडव रस में काली मिर्च, इलायची, दही, कांजी आदि मसाले, इमली, गेहूँ का दलिया, हरिद्रा, केसर आदि औषध, गुड़, नमक आदि द्रव्य तथा चावल को एक साथ मिलाया जाता है। इस रस में निपुण रसोइया द्वारा उचित मात्रा के मेल में ही एक अद्भुत स्वाद उत्पन्न होता है जो स्वाद उन सम्मिलित वस्तुओं में से किसी में नहीं होता। ठीक इसी प्रकार कलाओं में प्रतिभावान् कलाकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव का सामञ्जस्य पूर्ण तरीके से समावेश कर प्रस्तुत करता है।

विभावादि रस विधायक तत्त्व प्रकृति[२] से उत्पन्न नहीं होते। यह कला–सृष्टि में केवल प्रकृति का अनुकरण नहीं करती अपितु कलाकार द्वारा कल्पित विषय (लोक) का प्रदर्शन भी करती है।[३] भरतमुनि के अनुसार रस का अस्तित्व केवल दर्शक के लिए ही है। अभिनेता को इसकी अनुभूति नहीं होती। इन्होंने नाट्यशास्त्र में 'रसानुभव' के लिए जिस सूत्र का वर्णन किया है वह है – **विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः**। अर्थात् विभाव=आलम्बन तथा उद्दीपन, अनुभाव = कायिक, मानसिक और सात्त्विक तथा व्यभिचारी (तैंतीस) भावों के संयोग से सहृदय के मन में रस की निष्पत्ति होती है।

भरत के बाद सौन्दर्य के स्थायित्व का नियमन दार्शनिक मन्तव्यों में प्रतिष्ठापित किया गया। एक लम्बे अन्तराल के बाद आठवीं, नवीं तथा दसवीं शती में कुमारिल, शंकर तथा सहरपा आदि ने सौंदर्य का दार्शनिकीकरण किया। सौंदर्य का सांस्कृतिक केन्द्र कश्मीर है। इसका अवबोध हमें वहाँ के साहित्यकारों के साहित्य से होता है। 'कुट्टनीमतकार' दामोदरगुप्त (नवीं शती) के अनुसार कश्मीर में नाट्यशास्त्र का रमकर पारायण होता था (छंद ७५–१२३)। कल्हण (बारहवीं शती) की 'राजतरंगिणी' के अनुसार भरत के सिद्धान्तों के अनुरूप नृत्यों तथा गायनों का आयोजन होता था। दामोदर गुप्त ने तो अपनी कश्मीर घाटी में प्रेक्षागृहों का शानदार वर्णन किया है (छंद ६८)। 'विक्रमांकदेव चरितकार' बिल्हण (ग्यारहवीं शती) अपने प्रांतर की रमणियों के अभिनय–कौशल की प्रशंसा करते नहीं अघाता। (XVIII-23, 29)। कश्मीर के हर्ष नामक एक छोटे–से सम्राट् (१०८९–११०१) को भी नृत्य, गीत तथा वाद्य का शौक ही नहीं था, बल्कि वह नर्तकियों को अभिनय भी सिखाता था (सातवाँ अध्याय)। यहीं पर सांस्कृतिक पर्यावरण में दर्शन और नाट्य का अंतरावलंबन होने के कारण भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक, क्षेमेन्द्र, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि सौंदर्यबोधदर्शनशास्त्रियों का आविर्भाव हुआ।[४]

---

१. अभिनव भारती भाग १ - २८६।
२. अभिनव भारती भाग १ - २७४।
३. कवेरन्तर्गतम् भावम् भाव उच्यते। नाट्यशास्त्र, ७६।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यम् भावानुकीर्तनम्। नाट्यशास्त्र, ८।
४. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ३७१।

भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। उन्होंने भरतसूत्र में आये 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' किया है। इनके मत में ललना आदि (नायक–नायिका) आलम्बन विभावों तथा उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से रस पहले उत्पन्न होता है, फिर कटाक्ष, भुजक्षेप आदि अनुभावों से वह प्रतीत के योग्य किया जाता है, फिर निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्ट किया गया, मुख्य रूप से अनुकार्य राम में तथा उनके रूप का अनुकरण करने के कारण अनुकर्त्ता नट में प्रतीयमान रस कहलाता है। इस प्रकार इस मत में स्थायीभावों के साथ विभावों का उत्पाद्य–उत्पादक संबंध, अनुभावों का गम्य–गमक भाव सम्बन्ध और व्यभिचारी भावों का पोष्य–पोषक सम्बन्ध होता है। यह मत मीमांसक तथा वेदान्तियों का मत कहा जाता है। इस मत में प्रथम दोष यह है कि मुख्य रूप से अनुकार्य राम में, गौण रूप से नट में रस की उत्पत्ति मानी जाती है, तो सामाजिक के हृदय में रसोत्पत्ति न होने से, उन्हें अभिनय दर्शन से क्या लाभ? दूसरे, रामादि के अब इस जगत् में न होने से अभिनय से रसोत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः इस नट में रस की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।[१]

श्रीशंकुक अनुमितिवादी आचार्य हैं। इनका मत नैयायिक दृष्टिकोण से युक्त है। इनके मत में रस अनुमेय है–विभाव, अनुभाव आदि अनुमापक। रत्यादि भाव राम में विद्यमान रहता है, विभावादि के द्वारा अनुमित होकर वह 'रस' कहलाता है। तात्पर्य यह कि रस मुख्य रूप से राम में रहता है, सहृदय उसका अनुमान नट में कर लेता है। श्रीशंकुक का यह मत भट्टलोल्लट के मत पर आधारित है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि लोल्लट के मत में सहृदय नट पर रामादि का आरोप कर लेता है और श्रीशंकुक के मत में वह अनुमान कर लेता है।[२]

सांख्यवादी आचार्य भट्टनायक का सिद्धान्त 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने भरतसूत्र के 'संयोग' का अर्थ भोज्य–भोजक भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ भुक्ति किया है। उनके मतानुसार रस की निष्पत्ति न अनुकार्य राम में होती है, न अनुकर्त्ता नट में, क्योंकि दोनों उदासीन हैं। वास्तविक निष्पत्ति तो सामाजिक होती है।[३] उन्होंने अभिधा शक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो व्यापार माना है। अभिधा व्यापार के द्वारा काव्य का अर्थ मात्र समझा जाता है। 'भावकत्व व्यापार' द्वारा रामादि के व्यक्तित्व–विशेष का परिहार होकर 'साधारणीकरण' हो जाता है, और 'भोजकत्व व्यापार' के द्वारा उस साधारणीकृत विभावादि का रस रूप में भोग करवाता है। यही आनन्दरूप रस है। वस्तुतः रस 'आनन्दघन संविदविश्रान्ति' रूप है। यह एक अलौकिक अनुभव है, जिसे 'ब्रह्मानन्द सविध' कहा जाता है।

क्षेमेन्द्र ने चमत्कार का उदय औचित्य से माना है क्योंकि औचित्य के अभाव में काव्य में उस गुण का उदय नहीं होता जो किसी श्रोता या सहृदय को आकर्षित कर सके। यह औचित्य ही रस का आधार भी है अतः चमत्कार का, जो औचित्य से संबंधित है, रसानुभाव में महत्त्वपूर्ण स्थान है।[४] क्षेमेन्द्र की प्रसिद्ध कृति 'औचित्य विचार चर्चा' है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा में कहा है कि 'जिसके जो अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं।' यह रस का साधन है। काव्य का मुख्य ध्येय रस है। वे मानते हैं कि काव्य में चमत्कार और चारुता औचित्य के कारण ही आती है। अलंकारों में भी सार्थकता उनके उचित प्रयोग पर निर्भर है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के निम्नलिखित प्रकारों का निरूपण किया है – (१) भाषा तथा शैली

---

१. काव्यप्रकाश, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृ० ७६-८०।

२. काव्यप्रकाश, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृ० ८०-८१।

३. वही, पृ० ८५-८६।

४. डॉ० गिर्राज किशोर अग्रवाल, कलासौंदर्य और समीक्षाशास्त्र, पृ० १७८।

का औचित्य, (२) रचना–विधान का औचित्य, (३) विषय का औचित्य, (४) कल्पना अर्थात् बिम्ब–योजना का औचित्य। भोज ने भी औचित्य के निम्न स्वरूप बताये हैं – (१) विषयौचित्य, (२) वाच्यौचित्य, (३) देशौचित्य, (४) समयौचित्य, (५) वक्तृविषयौचित्य और (६) अर्थौचित्य। इस प्रकार रस सिद्धान्त से भी बढ़कर औचित्य–विचार ही भारतीय सौंदर्यशास्त्र का वह आधार–सूत्र है जो काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि सभी ललित कलाओं पर समान रूप से लागू होकर सबका सर्वमान्य मानक प्रस्तुत करता है।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनव का यह 'अभिव्यक्तिवाद' भट्टनायक के मत का अनुसरण करता है। अभिनव ने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' को उस नाम से नहीं, किन्तु 'भावकत्व' को 'साधारणीकरण' के नाम से और 'भोजकत्व' को 'रसाभिव्यक्ति' के नाम से स्वीकार किया है। भट्टनायक के 'सत्त्वोद्रेक' से उन्हें 'वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य' की प्रेरणा मिली। स्थायीभावों के सम्बन्ध में भट्टनायक को सहृदयगत स्थायीभाव की मान्यता अवश्य स्वीकृत रही होगी। इस प्रकार अभिनव ने विषय का स्पष्टीकरण कर रस को विलक्षण माना है। उनका कथन है कि स्थायीभाव ही साधारणीकरण विभावादि के द्वारा व्यंजित होकर शृंगारादि रसरूप में अभिव्यक्त हो जाता है।[१]

आचार्य मम्मट ने रस के लक्षण[२] में कहा है कि लोक में जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं वे जब नाटक और काव्य में रति आदि स्थायीभाव के होते हैं, तब उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहते हैं और उन विभावादि के द्वारा व्यक्त स्थायीभाव रस कहलाता है।

भामह आदि उद्भट अलंकारवादियों ने काव्य की आत्मा 'रस' को अलंकार के अन्तर्गत समाहित कर लिया है, किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों की सार्थकता अलंकार की शोभा बढ़ाने में माना है। जब अलंकार का सन्निवेश काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा तभी वे अलंकार भी कहलायेंगे।[३] रसिक कवि के सम्मुख अलंकार स्वतः स्पष्ट हो जाता है। जब अलंकार रसभावादि के तात्पर्य से शून्य होकर कवि द्वारा निबद्ध किया जाता है तब वह चित्रकाव्य का विषय होता है –

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकार निबन्धो यः स चित्र विषयो मतः।।[४]

इस तरह से अलंकार कविनिष्ठ है और रस सहृदयनिष्ठ। दण्डी, वामन और महिमभट्ट की दृष्टि में सौंदर्य मात्र अलंकार है।[५]

बौद्ध–परम्परा में भी सौन्दर्य का निरूपण बहुत ही प्राचीन और मौलिक रूप में किया गया है। बुद्धघोष ने सौन्दर्य का आशय आन्तर अवस्था से लिया है। आंतर अवस्था सहज ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि से निर्मित होती है जो गत्यात्मकता से सम्बद्ध होती है। इसमें भाव, विचार, संवेग और कल्पनात्मक चित्रण अन्तर्निहित रहता है। इस आन्तर सर्जना को ही प्राथमिक रूप में सुन्दर की संज्ञा दी गयी तथा 'कला' नाम को केवल आन्तर सौंदर्यात्मक अवस्था के लिए ही प्रयोग किया गया।

---

१. काव्यप्रकाश, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृ० ८३।
२. कारणन्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः सः तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावः रसः स्मृतः ।। काव्यप्रकाश।
३. रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।। -ध्वन्यालोक, पृ० २०८।
४. ध्वन्यालोक, पृ० ५२८।
५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (दण्डी)। सौन्दर्यमलंकारः (वामन)। चारुत्वमलंकारः (महिमभट्ट)।

'दिव्यावदान' में कला का अभिप्राय शोभा एवं जीवन–रक्षा दोनों के लिए माना गया है।[१] कविराज विश्वनाथ के पितामह नारायण कवि ने चमत्कार को सौंदर्य के अन्तर्गत रखा है जो चित्त–विस्तार रूप होता है। इन्होंने रस में सर्वत्र सार–रूप चमत्कार को अनुभूति ही समझा।[२] शैव स्वातन्त्र्यवादी में सम्पूर्ण सीमित जगत् को परमतत्त्व से उद्भूत माना गया है जो कि योगी को अपने योग शक्ति से एक सृष्टि की उद्भूति के समान है। नैयायिक एवं वैशेषिकों ने इस सृष्टि को परमाणु आदि उपादान कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र माना है। परमात्मा में जो कुछ अव्यक्त रूप में अवस्थित है वह बाहर 'इच्छाशक्ति' द्वारा ही व्यक्त होता है। यह इच्छाशक्ति ही 'विमर्श' है। विमर्श शब्द के स्थान पर उत्पलाचार्य ने 'चमत्कृति' शब्द का प्रयोग किया है। शैवमत के अनुसार ही अभिनवगुप्त ने भी रसानुभाव सम्बन्धी भाव को चमत्कार शब्द द्वारा ही स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'चमत्कार' की दो व्युत्पत्तियाँ हैं। पहली 'चमत्' को अखंड तथा क्रियाविशेषण मानने से है तथा दूसरी व्युत्पत्ति बाह्यविमर्श से भिन्न जो आत्मा का आंतर स्पन्दन होता है, प्रकाशमयी चेतना में जो आनन्द की लहरियों का स्पन्दन होता है, उसी की व्यञ्जना 'चमत्' से होती है।[३]अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'चमत्कार' स्पन्दनात्मक आत्मविश्रान्ति–रूप है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान के निरूपण के विषय को रमणीय कहते हैं। अर्थात् जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है। लोकोत्तर चमत्कार–प्रवण है और यह लोकोत्तर आनंन्द पुनः–पुनः–अनुसंधान रूप अनुभूति से ही प्राप्त होता है।[४] उनके अनुसार 'अनुसंधानात्मक भावना–विशेष ही सौंदर्य होता है।' 'अनुसंधान' शब्द का अर्थ केवल गवेषण नहीं है, अपितु सुन्दर वस्तु के साथ हमारे सम्बन्ध–स्थापन का नाम है अनुसंधान। सुन्दर वस्तु के साथ दृढ़ आत्म परिचय ही आनन्द का कारण होता है।[५]

सौंदर्य के सम्बन्ध में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की लालित्य–योजना' में कहा है कि 'सौंदर्य विषयनिष्ठ धारणा है। हम किसी विषय को इसलिए सुन्दर समझते हैं कि उससे हमारा कुछ मतलब है। हम उसमें अपनी तृप्ति के लिए आवश्यक तत्त्व पाने के कारण उसमें रुचि लेने लगते हैं।' सौंदर्य अपरिमित है और अभिव्यक्ति परिमित होती है। कालिदास ने सौंदर्यशास्त्र की इस गहनता के गूढ़ भाव को अत्यल्प शब्दों में कहा है –**'तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्'**[६] लावण्य, अपरिमित सौन्दर्य को रेखा द्वारा चित्र में किञ्चित् ही दिखाया जा सकता है। कोई भी कलाकार लावण्य को संपूर्ण रूप में नहीं अभिव्यक्त कर सकता।

'उज्ज्वलनीलमणि' में रूपगोस्वामी ने सौन्दर्य के लिए कहा है कि यथोचित प्रमाण में सब अंग होने से सुन्दर होता है।[७] यह सौन्दर्य रूप में रहता है और जब इस रूप में माधुर्य आ जाता है तब वह अनिर्वाच्य हो जाता है – **'रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोमाधुर्यमुच्यते।'**[८]

संस्कृत साहित्य में **'नेत्रभिः पीयमाना, श्रोत्रभिः पीयमाना, पिबन्तीव च पश्यन्ती'** – के

---

१. 'सुदर्शननगरे एकोनद्वारसहस्रं देवानां (रूपाणि) आरक्षार्थम् इत्यर्थम् शोभानार्थम्।' पृ० २२१।
२. साहित्यदर्पण, पृ० १०६।
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, पृ० २५१।
४. रसगंगाधर, पृ० १०-१२।
५. सौन्दर्य तत्त्व, पृ० ६१।
६. अभिज्ञान शाकुन्तलम् ६/१४।
७. अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्ट संधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते।।२६।।
८. उज्ज्वलनीलमणि - ३४।

द्वारा सौन्दर्य की अतिशयता को स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः नेत्र और श्रोत्र का विषय पान करना नहीं है, वरन् नेत्रों का विषय सुन्दर वस्तु का दर्शन है एवं श्रोत्र का सरस गान, वाणी आदि का श्रवण। सृष्टि में प्रकट या लुप्त रूप से सौन्दर्य को देखने की सरस दृष्टि जिसे प्राप्त होती है वही वास्तव में सुन्दर रूप को देख सकता है। यह दृष्टि जिस शिल्पी या कवि को प्राप्त होती है वही सुन्दर रूप का स्रष्टा होता है और विधाता का समकक्षी। वही रसिक छककर सौन्दर्य–रस पान करते हैं।

भारत की कलाओं में सौंदर्य और आनन्द सहगामी हैं। जहाँ सौन्दर्य होगा, वहाँ आनन्द अवश्य रहेगा। इसलिए सौन्दर्य–भावन में स्वाभाविक एकाग्रता होती है। उसमें किसी प्रकार की मानसिक चंचलता अथवा विघ्न नहीं रहता है। पंचपगेश शास्त्री ने सौन्दर्यानुभूति में अभिनवगुप्त के शब्दों में **'वीतविघ्ना प्रतीतिः'** को सात प्रकार के विघ्न के अन्तर्गत रखा है।[1]

१. **प्रतिपत्तावयोग्यता संभावना विरहः** (अर्थ न समझ पाने की अयोग्यता)
२. **स्वगतत्त्वनियमेन देशकाल विशेषावेशः** (देश और काल की आत्मगत सीमाएँ)
३. **परगतत्त्वनियमेन देशकाल विशेषावेशः** (देश और काल की वस्तुगत सीमाएँ)
४. **निज सुखादि विवशी भावः** (अपने सुखादि भावों से ही ग्रस्त)
५. **प्रतीत्युपाय वेकल्प स्फुटत्वावभावः** (उपचित अनुभूति पैदा करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का अभाव)
६. **अप्रधानता** और
७. **संशययोग**।

'वीतविघ्ना प्रतीतिः' को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अन्तरस्सत्ता की तदाकार परिणति' के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने सौन्दर्यानुभूति के विवेचन में लिखा है कि कुछ रूप–रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्यानुभूति है। सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में कालिदास ने विकलता (उत्सुकता), पर्युत्सुकी भाव का प्रश्न उठाया है। उनका विश्वास है कि सौंदर्यानुभूति में सर्वदा आलम्बन के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रहने पर आत्मा की विकलता का अंश विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ प्रथम स्थिति को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है कि सुन्दर संगीत को सुनकर उसमें निहित प्रेम के उलाहना–भरे शब्दों को श्रवण करके राजा को, पूर्व काल में किये गये अपने प्रेम का स्मरण हो आता है और तब वह कहता है –''रमणीय वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर लोग सब प्रकार से सुखी होने पर भी जब उदास या व्याकुल हो जाते हैं तब यही समझना चाहिए कि उनके मन में पूर्व जन्म के प्रेमियों के विद्यमान संस्कार जाग उठे हैं।'' सभी हर समय स्मरण नहीं आते, परन्तु रमणीय वस्तु के साक्षात्कार से वे किसी पुरानी स्मृति को उभार देते हैं[2] और दूसरी स्थिति 'विक्रमोर्वशीयम्' में पुरूरवा की इस उक्ति में है –

'त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्

---

१. पंचपगेश शास्त्री, 'फिलासफी आव एस्थेटिक प्लेजर', तथा के० सी० पाण्डेय ने भी इन पर 'कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स' में विचार किया है।

२. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तवः।।
अभिनवमधुलोलुपो......विस्मृतो स्येनां कथम्। अभिज्ञान शाकुन्तलम् ५/१।

सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः।।'

इसके साथ ही, कालिदास ने यह भी कहा है कि सौंदर्य वस्तु में है, द्रष्टा के मन में नहीं। अतः जो वस्तु सुन्दर है वह सदैव सुन्दर है और सौन्दर्य सर्वदा मनोज्ञ, रमणीय तथा सुन्दर होता है, उसे किसी प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि उन्हें रुक्ष वल्कल में सिमटी कोमलांगी पार्वती, सीता, शकुन्तला अच्छी लगती हैं और शैवाल में लिपटी कमलिनी भी आकर्षक[1] प्रतीत होती है। कालिदास यौवन–सौंदर्य के श्रृंगारी कवि हैं किन्तु उनका श्रृंगार (सौन्दर्य, प्रसाधन एवं प्रेम) तपोवन के निगूढ़ वर्चस्व में पनपा है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में तपस्या को सुन्दर कहा है। सुन्दर के साथ जब दुःख मिल जाता है और तपस्या के साथ सुन्दर परिपक्व होता है तभी वह सौंदर्य निखरता है।

शंकर अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जब हमारी बुद्धि निष्काम होगी तभी हमें सौन्दर्यबोध होगा, क्योंकि उस समय हमारी दृष्टि वस्तुओं के नाम–रूप पर, बाहरी बनावट पर नहीं पड़ती, प्रत्युत् उस परब्रह्म पर पड़ती है जिसमें ये सब नाम–रूप कल्पित हैं जो हमारा अपना स्वरूप है। सौंदर्य के अन्तरंग होने के कारण सौंदर्यानुभूति और सौन्दर्याभिव्यक्ति का सम्बन्ध संप्रज्ञात समाधि से है। संप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत सवितर्कयोग और आनन्दयोग की अवस्था में सौन्दर्यानुभूति होती है तथा संप्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था–अस्मितायोग–में सौंदर्याभिव्यक्ति। इस प्रकार सौन्दर्य से उत्पन्न आनन्द निष्काम आनन्द है और सौन्दर्यबोध ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्धित है।

सौन्दर्य की पाँच अवस्थाएँ भी परिमाण, मात्रा अथवा आकृति विस्तार के भेद से विद्वानों ने माना है – (१) रंजक, (२) लावण्यमय, (३) सुन्दर, (४) कमाल, अति शोभायमान, अद्‌भुत चमत्कार और (५) उदात्त या भव्य। इनमें उदात्त को सर्वोत्तम माना गया है। उदात्त सौन्दर्य का चरम रूप है।

पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि में सौन्दर्य आदर्श, वस्तु और भाव के रूप में विद्यमान है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने कला के लिए रीति–नीति, चक्षु–संयोग, मन की उड़ान, आत्मविस्मृति यह सब जिसमें रहता है वह सुन्दर कला होती है। नित्य या अमूर्त वस्तु में विभिन्न भावों के बीच जब सौन्दर्य का अधिष्ठान होता है तब मनोरसना रसास्वाद का अनुभव करती है, यही सुखद, सुपरिमित, सुश्रृंखलित, सुन्दर होता है। बाहर सौन्दर्य का अबाध स्रोत है। सुन्दर–असुन्दर को समझने का उत्कृष्ट उपाय स्वयं खोजने से मिलता है। आनन्दकुमार स्वामी ने सौन्दर्यानुभूति या काव्य में रसानुभूति को प्रज्ञान घन आनन्दमयी अवस्था के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार बहिर्जगत् की सौन्दर्यसत्ता अन्तर्जगत् की चेतना से ही प्रकाशित होती है। सौन्दर्यानुभूति सृजन की ओर सक्रिय होने पर ही कलानुभूति बन सकती है और यह अनुभूति अनिर्वचनीय रस द्वारा ही की जा सकती है जिसमें आनन्द–ही–आनन्द है। कला–सृजन में ही सौन्दर्य का अवबोध होने के कारण यह आनन्द ब्रह्मानन्द–स्थिति में आ जाता है।

---

1. कुमारसम्भव, 5/9।

चित्रकला का ललित कलाओं में विशिष्ट स्थान

चित्रकला में बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव होने के कारण मानव ने सभ्यता के प्रथम चरण से ही उसकी विशिष्टताओं का अवबोधन किया। कलानुभूतियों की यथासम्भव कृतियाँ प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव मन को आन्दोलित करती रहीं। स्पष्टीकरण का सर्वाधिक सरल और सुगम साधन चित्र ही है। अन्य सभी कलाएँ भी चित्र में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। पूरी सृष्टि को ही चित्र के रूप में रूपायित किया गया। दशरूपकों में चित्र का वर्णन अनिवार्य है। काव्य, वास्तु, मूर्ति, संगीत सभी प्रमुख कलाओं का प्रारूप मानस पर चित्र रूप में ही प्रत्यक्ष किया जाता है। वेदों में 'चित्र' शब्द विचित्र के अर्थ में आया है। वास्तव में यह एक विचित्र कला है जिसमें अन्तरानुभूतियाँ अपने समग्र रूप में प्रस्तुत होकर समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। इसकी विशिष्टताओं को इसकी उत्पत्ति में, षडंगों में, सहृदयों (बाल–वृद्ध) को तत्काल प्रभावित करने में, समस्त कलाओं के समकक्ष में तथा आनुवंशिकी हस्तान्तरण में स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ – काव्य में किसी भी शब्द का उच्चारण करने में वह शब्दचित्र रूप में सम्मुख उपस्थित होता है तथा उसके साथ अर्थ भी चित्ररूप में ही। गणेश की मूर्ति कहने पर गणेश का रूप, देवालय कहने पर देवालय का चित्र, दीपक राग कहने पर दीपक के समान उज्ज्वलित राग आदि का चित्र यहाँ तक कि वार्तालाप में किसी व्यक्ति, उसकी दशा, उसका व्यक्तित्व आदि सब–कुछ तत्काल चित्र रूप में उपस्थित हो जाता है। उसी से वार्ता आगे बढ़ती रहती है तथा बाद में भी चित्ररूप में उसका आभास बना रहता है। इसीलिए कहा गया है –

यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुड़ः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः।।[1]

पर्वतों में सुमेरु श्रेष्ठ है, पक्षियों में गरुड़ प्रधान है और मनुष्यों में राजा उत्तम है उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला उत्कृष्ट है।

चित्रकला की उत्पत्ति

चित्रकला की उत्पत्ति सम्बन्धी मूलतः तीन कथाएँ प्रचलित हैं – (१) नर–नारायण की (विष्णु–धर्मोत्तर पुराण अ० ३५ में) (२) नग्नजित् की (चित्रलक्षण में) और (३) उषा–अनिरुद्ध की (महा० भा० तथा भागवत में; परिशिष्ट–क)। उक्त कथाओं का उल्लेख संस्कृत साहित्य में यत्र–तत्र प्राप्त होता है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण अ० ३५ में चित्रकला और मूर्तिकला का संबंध नृत्त से जोड़ा गया है।

विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
जगतोऽनुक्रिया कार्याद्वयोरपि यतो नृप।।४।।

---

१. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, ३/४२/३६।

बिना नृत्तशास्त्र के चित्रसूत्र समझना अत्यन्त कठिन है। दशरूपक में सात्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्य से सहृदय में रस की अनुभूति होना स्वीकार किया है। यहाँ 'नृत्त'[१] से तात्पर्य सुसंस्कृत अभिनय रूपक से है न कि नृत्य से। 'नट' (अभिनेता, पात्र) अपने नृत्त में जो अभिव्यक्ति उक्त आंगिक विकारों द्वारा करता है उसी को दृश्य–कलाओं का निर्माता नृत्त के तत्वों के ज्ञान में निपुण होने पर ही सफल सृष्टि कर सकेगा। इसी प्रकार जब तक उसके दर्शक को वे तत्त्व ज्ञात न होंगे, तब तक वह चित्रादि को कैसे समझ सकेगा। न तो वह उनके भाव तक पहुँचेगा, न आंगिक विकारों की स्वाभाविकता को ही निरख सकेगा।[२]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि ब्रह्म अरूप है अतः उसे रूप देना चित्र के द्वारा ही सम्भव है। अरूप से रूपोद्भावना अर्थात् प्रकृति से विकृति की कल्पना चित्र का मर्म है। ब्रह्म की मायाशक्ति प्रकृति है और यह संपूर्ण विश्व उसकी विकृति। इसी तरह 'अपराजितपृच्छा' में भी वर्णित है –

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः।।
स्थावरं जंगमं चैवसूर्यचन्द्रौ च भेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्।।
कूपो जले जलं कूपे विविपर्य्यायतस्तथा।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च।।

यह सम्पूर्ण चराचर त्रैलोक्य चित्रमूलोद्भव है। चित्र और विश्व वास्तव में एक–दूसरे के बिम्ब–प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार कूप में जल और जल में कूप विद्यमान है उसी प्रकार यह विश्व चित्रमय है और विश्व में यह सब चित्र हैं। कादम्बरी में बाणभट्ट ने उस समय की चित्रभित्तियों को 'दर्शित विश्वरूपा' कहा है।

भारतीय कला के स्वरूप का उद्देश्य एक विशेष प्रकार की गंभीर आत्मदृष्टि को बाहर प्रकट करना है जो दृष्टि रूप तथा आकार के गुप्त अर्थ को ढूँढ़ने के लिए भीतर जाने से, अपनी गंभीरतर आत्मा में कला के विषय की खोज करने से, निर्मित होती है। भारतीय चित्रकला की सभी श्रेष्ठ रचनाओं में (स्थूल रूप के साथ ही उसके प्राकृतिक आकार का) आन्तरिक सत्य एवं छन्दोमयता रहती है। चित्रकार अपनी अन्तरात्मा को प्रकृति के रंगों में विलीन कर देता है। उस विलय के द्वारा प्रयुक्त रूप में एक प्रकार की तरलता एवं रेखा में सूक्ष्मता की प्रवाहशाली सुषमा होती है जो उस तरलता और सूक्ष्मता पर आत्म–अभिव्यञ्जना की एक गतिशील और भावमयी शैली को प्रकट कर देती है। वह विलय हमें जितना अधिक अन्तरात्मा के जीवन का रंग–रूप, उसका परिवर्तनशील आकार तथा भावावेग प्रदान करता है उतनी ही अधिक चित्रकार की रचना सौंदर्य से चमक उठती है। वह आन्तरिक सौंदर्य–बुद्धि को अपने अधिकार में करके सौंदर्यबोध को कला का रूप देती है और वही सत्ता की सुन्दर आकृतियों एवं रंजित प्रभावों के अध्यात्मतः इन्द्रियग्राह्य हर्ष में आत्मा के बाहर विचरण का आनन्द प्रदान करती है। 'प्रतिबिम्ब'

---

१. नृत्य और नृत्त में बहुत अंतर है। 'नृत्य नाचने को कहते हैं और नृत्त सुसंस्कृत अभिनय को' -
परस्यानुकृतिर्नाट्यं नाट्यज्ञे कथितं नृप।
तस्या संस्कारकं नृत्तं भवेच्छोभाविवर्धनम् ।। वि० ध० ३/२०/१।

२. राय कृष्णदास, 'भारत की चित्रकला' लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पृ० २४-२५।

चित्रकला के षडंगों में से एक प्रमुख अंग 'सादृश्य' है। प्रतिबिम्ब की उच्च अभिव्यक्ति ही चित्रकला में सजीवता एवं असीम आनन्द ला देती है।

उदाहरणार्थ अजन्ता की १७वीं गुफा में बुद्ध के सम्मुख खड़े माता–पुत्र का गंभीर सुकुमार और उत्कृष्ट चित्र सुप्रसिद्ध है। इसमें यशोधरा अंजलि फैलाये हुए पुत्र राहुल को भिक्षारूप में भगवान् बुद्ध को दान दे रही है। आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा का यह चित्र बेजोड़ है। इसी आत्मदान में माता की अन्तरात्मा अपने आध्यात्मिक हर्ष को पाना चाहती है। इस चित्र का रंग–रेखा तथा भाव दर्शनीय हैं। अजन्ता की कला केवल बौद्ध धर्म का चित्रण और उसके विचार, धार्मिक भाव, इतिहास तथा कथा की अभिव्यक्ति ही नहीं रही, वरन् भारत की अन्तरात्मा के लिए बौद्ध–धर्म के आध्यात्मिक आशय और उसके गूढ़ अर्थ की सत्य व्याख्या भी बन गयी।

चित्रकला के षडंग

कामसूत्र में ६४ कलाओं के ज्ञान में 'आलेख्य' (चित्रकला) के ज्ञान को आवश्यक बताया गया है। प्राचीन काल से प्रचलित चित्रकला के (१) रूपभेद, (२) प्रमाण, (३) भाव, (४) लावण्य, (५) सादृश्य और (६) वर्णिका–भंग इन छह अंगों को 'चित्रकला के षडंग' नाम से जाना जाता है, जिनको यशोधरा ने वात्स्यायन विरचित कामसूत्र पर लिखी गयी अपनी 'जयमंगला' टीका में सूत्ररूप में आबद्ध किया है

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्रं षडंगकम्।।

चित्र के ये छह अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। षडंग के एक अंग में एक दूसरे अंग का योग है जिनको यथास्थान सजाकर ही चित्र की एक सजीव मूर्ति खड़ी की जा सकती है। "रूप प्रमाण की कामना (आकांक्षा) करता है अतएव प्रमाण आकर रूप में मिल गया है। (जैसे ही मिला) वैसे ही भाव का उदय, लावण्य का संचार, सादृश्य की गलबाँही और विचित्र रंगभंगिमा दिखायी पड़ी। मानो नट और नटी हमारी आँखों के सामने नाच रहे हैं। षडंग की यह स्वच्छन्द गति ही साक्षी दे रही है कि हमारे षडंग के मूल में भी प्राण का छन्द तरंगायित है और रूप–भेद का अर्थ केवल आकार में विभिन्नता प्रदान करना या समझना ही नहीं है बल्कि आकार कहाँ सजीव और कहाँ निर्जीव होकर दिखायी पड़ रहा है उसी को समझना और समझाना है।"[१] सियेह हो (४७६–५०१) द्वारा प्रस्तुत चीनी चित्रकला के छह अंग भारतीय चित्रकला के छह अंगों के अधिक समान हैं; अन्तर सिर्फ इतना है कि वर्गीकरण में उनका कुछ क्रम अलग है। चीनी चित्रकला के छह अंग हैं। (१) मानसिक चिन्तन के फलस्वरूप चेतना का जन्म, (२) तूलिका द्वारा शारीरिक संरचना को व्यक्त करना, (३) प्रकृति के सादृश्य की आकृतियाँ बनाना, (४) वस्तु की प्रकृति के अनुसार रंग विधान, (५) रेखाओं का उपयुक्त स्थानों पर वितरण, (६) चित्रों में प्रयोग करके रूपों को प्रचलित बनाना।

१. रूपभेद - रूप–रूप में विभिन्नता, रूप का मर्मभेद या रहस्योद्‌घाटन करने के लिए मानव ने अपने श्रम द्वारा प्राकृतिक दशाओं और सौन्दर्य को अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार समझा।

ज्योति पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।
हस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्त्रोऽनुवृत्तवान्।।३३।।
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलोऽरुणस्तथा।

---

१. भारत शिल्प के षडंग-कला अंक, हि० सा० स० इ० पृ० ४०५ 'अवनीन्द्रनाथ ठाकुर' अनु० डॉ० महादेव साहा।

कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः।।३४।।[1]

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण और नानाकोण – जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोणादि एवं गोलाकृति, अण्डाकृति; अथवा श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैगनी) तथा नाना वर्णों के मिश्रित रूप; रक्त पीतादि एक–एक स्वतंत्र वर्ण रूप; कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण, (सूक्ष्म कृष, स्निग्ध, स्वल्प), पिच्छिल अर्थात् फिसलाहट पैदा करनेवाला, कीचड़, जल, पिच्छिल जैसे छत्राकार मोर की पूँछ; मृदु, जैसे शिरीष फूल, दारुण जैसे लोहे का भीम, छोटे–बड़े, मोटे–पतले, कटे–छँटे, गोल, काले–सफेद, एकरंगे, पँचरंगे इत्यादि।

इस श्लोक में सोलह प्रकार के रूप कहे गये हैं जिनका विस्तार अनन्त है। रूप की इस अनन्त वास्तविक सत्ता को ज्ञानचक्षु से जाना जा सकता है। इसी को द्वैत विवेक में पंचदशी कहा गया है – 'नर्नुज्ञानानिभिद्यन्ताभाकारस्तु न भिद्यते।' अर्थात् भिन्न–भिन्न रूपों की सत्ता को प्रकट कर वह ज्ञान या बुद्धि ही रूप का यथार्थ भेद बतलाती है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में रूप का वर्णन इस प्रकार है :–

विशाचा वामनाः कुब्जाः प्रमथाश्च महीभुजः।
मानन्नियमतः कार्य रूपन्नियमतस्तथा।।४२।।१२।।

पिशाचों, बौनों, कुबड़ों, प्रमथों (शिव के अनुचर–विशेष तथा यक्ष) तथा राजाओं का प्रमाण और रूप नियमपूर्वक बनाना चाहिए। रूप का अर्थ यहाँ विरूप भी है। चारुता ही केवल रूप नहीं है, वरन् विरूप भी रूप है। पिशाचादि में विरूपता होते हुए भी मान–परिमाण होना चाहिए। दैत्यों, दानवों, यक्षों तथा राक्षसों की पत्नियों को रूपवती बनाना चाहिए।

'दैत्यदानवयक्षाणां राक्षसानां तथैव च।।२५।।
रूपवत्यस्तथा कार्या पत्नयो मनुजसत्तम।।४२।।' २५ १/२।।
पिशाचानां तु पत्न्योऽपि कार्यास्तद्रूप संयुताः।।४२।। २६ १/२।।

और पिशाचों की पत्नियों के रूप पिशाच जैसे चित्रित किये जायँ।

अश्लक्षणा मरणयोक्ता क्रुद्धा रूपविनाशिनी। वि० ध० ३८/२१ १/२

अश्लक्षण अर्थात् ऊबड़–खाबड़ प्रतिमा (जो सुन्दर, चिकनी नहीं बनी है) मरण देनेवाली और क्रुद्ध प्रतिमा रूप का नाश करनेवाली होती है। यहाँ पर रूप का अर्थ सुन्दर रूप से है और क्रुद्धा में भावाभिव्यक्ति से भी तात्पर्य है। भावहीन प्रक्रिया नहीं होनी चाहिए। इससे बनानेवाले की मानसिक भावनाएँ भी प्रकट होती हैं। रूप निर्माण के लिए ही प्रमाण, सादृश्य, वर्णिकाभंग आदि हैं। अनुभव की सीमा में मनुष्य अधिक और कम सुन्दर प्राकृतिक वस्तुओं को किस प्रकार परखता है तथा किसी सीमा तक उनके रूप को उद्दीप्त करता है जैसे भवभूति के उत्तर रामचरितम् में 'कदम्ब शाखा पर कूजता वनमोर' बेहद सामान्य रूप में कदम्ब, कदम्ब की एक फूली डाल, उस पर वनमोर, एक कूजता नीला वनमोर मिलकर फिनामिना है। इसमें आकृति है, आकार है, रंग संयोजन है, तंतुगठन है, द्रव्यमान है, संतुलन है और अनुपात है। कदम्ब की डाल पर हम मछलियों को नहीं बैठा सकते (वरना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल होगा)। कदम्ब की डाल पर हम हाथी को नहीं लाद सकते (वरना वह संतुलन खो देगी)। मोर की गरदन मगर जैसी तथा पाँव हाथी जैसे नहीं दिखा सकते (वरना अनुपात नष्ट हो जायगा और किमाकार अर्थात् 'ग्रोटस्क' की अपरचना होगी)। इसका अर्थ यह हुआ कि जो हम दिखाते या देखते हैं। वह हमारे अभ्यस्त अनुभवों के निष्कर्ष हैं और प्रकृति के शाश्वत नियमों के अनुरूप हैं।[2]

१. महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १८४। **२. डॉ० रमेश कुंतल मेघ : अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० १३।**

असीम संसार में यही रूप छंद में और छंद रूप में दृष्टिगोचर होता है। चित्रकार विश्व में किसी सुंदर रूप को देखता है, उसे देखकर उसके हृदय में एक छंद या झंकार उठती है और उसका मन उसे रेखा और रंग में आबद्ध कर लेना चाहता है। यही निराकार ब्रह्म का साकार रूप चित्रकार रेखा में दिग्दर्शित करता है और कवि शब्दों में। चित्रकार का काम है विभिन्न रूपों में सुन्दर रूप को निकालना। उन अनन्त रूपों को अपने स्पर्श से मुक्ति देना, सौंदर्य को निकालना चित्रकार के आनंद और कुशलता का विषय है और यही उसकी चरम सार्थकता है।

समरांगण सूत्रधार में वर्णन है :-

गणरक्षः किन्नराणां कुब्जवामनयोषिताम्।
विकल्पाकृतिमानानि रूपसंस्थानमेव च।।

यहाँ पर रूपसंस्थान का अर्थ है रूप का आकार जहाँ आकर स्थित रहे अथवा जहाँ रूप आकार को ग्रहण करता है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में रूप गोस्वामी कहते हैं –

अंगान्यभूषितान्येव केनचिद् भूषणादिना।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते।।२३।।

बिना अलंकारों (आभूषणों) के अंगों की जो शोभा होती है, उसे रूप कहते हैं। यहाँ पर रूप 'लावण्य' के अर्थ में है। इसके अतिरिक्त यह रूप नवीन तारुण्य के पूर्ण होने पर शोभापूर्ति–विशेष को प्राप्त करता है। पूर्ण अर्थात् स्त्री–पुरुष के सहचर वृत्ति अपनाने पर ही पूर्ण होते हैं। तभी वे अपूर्व रूप की शोभा को पाते हैं।

तारुण्यस्य नवत्वेऽपि कासांचिद्व्रजसुभ्रुवाम्।
शोभापूर्ति विशेषेण पूर्णतेव प्रकाशते।।२२।। उ० नी०

बुद्ध चरित में भी कहा गया है – रूप और इसके प्रतिघातों पर आश्रित विविध संज्ञाओं को उसने छोड़ा और रूप में रहनेवाली बुराइयों को समझा; इसलिए उसने रूप धातु की आसक्ति को जीता।।३५।।१७।।

कुमारसंभव में रूप की अवहेलना करते हुए पार्वती ने कहा है –

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।।५/१।।

वास्तविक रूप तो वह है जो प्रिय को आकृष्ट कर ले। यह सौन्दर्य चंचलता या उच्छृंखलता में नहीं, बल्कि स्थिरता में है। ऐसी स्थिरता में जिसमें वृक्ष तक निष्कंप हो जाते हैं।

'चित्रार्पिता रम्भमिवावतस्थे'

रूप का उद्देश्य पाप वृत्ति के लिए नहीं है, वह तो जीवन में सदाचार के अभ्युदय के लिए है, क्योंकि **यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः** (कु० स० ५/३६) अतः कला में रूप की जो मान्यता है वह बड़ी सूक्ष्म, तर्क निश्चित और मौलिक रही है। वह दार्शनिक दृष्टि से जितनी सुविचारित है भौतिक दृष्टि से भी उनकी उतनी ही उपयोगिता है।[१] **अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्।** (कु० स० ५/५३) अर्थात् मदन के निग्रह के कारण, पार्वती का रूप या सौंदर्य शिवजी के चित्त को नहीं हरण कर सका। **'अयुक्त रूपं'** (कु० स० ५/६६) अर्थात् बेडौल रूप, जिसका विपरीत होगा–रूपयुक्त, सुन्दर

१. भारतीय चित्रकला - वाचस्पति गैरोला 'कला और सौंदर्य बोध'।

रूप, सुरूप, युक्तरूप। युक्तरूप इच्छित रूप। कु० स० ५/७२ में कहा है –

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्य जन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितुं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।।

विरूपाक्ष–त्रिनेत्र, विरूप नेत्रवाला। शिवजी अतीव सुन्दर हैं। किन्तु त्रिनेत्र हैं, यह विरूपता है। रूप प्रमाणहीन भी हो सकता है। विरूपाक्ष, त्रिनेत्र, दिगंबर आदि कहकर ब्रह्मचारी ने शिव को प्रमाणहीन कहा है, जिससे पार्वती शिव से विमुख हो जायँ, किन्तु फिर भी वे शिव की ओर आकृष्ट होती हैं। विरूप क्या है? – वि० ध० के अनुसार विरूप है बृहत् गण्ड, ओष्ठ, नेत्र – **बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वम्।** घोड़े जैसा लटकता होंठ विरूप है। तांत्रिकों का रूप–विधान इससे बिल्कुल भिन्न है। अतः निश्चित प्रमाणादि से भिन्न जो भी चित्र या मूर्ति होगी, वह विरूप होगी, रूप निर्माण के लिए ही प्रमाण, सादृश्य, वर्णिकाभंग आदि हैं।

चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगाद्,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।। अ० शा० अंक २

दुष्यन्त कहते हैं कि – ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस–कल्पना की होगी और उसमें मानो विधाता ने विश्व के समस्त रूप अर्थात् सौंदर्य के संचय से शकुन्तला की रचना की है। इसमें रूप का संघात है। यह यथार्थ से भिन्न होता है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति–पुरुष ये माया के दो स्वरूप कहे गये हैं। यही माया का रूप संसार में विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है। पंचदशी, द्वैतविवेक प्रकरण में विद्यारण्य मुनि कहते हैं –

व्यञ्जको वा यथालोको व्यंग्यस्याकारतामिति।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारः प्रदृश्यते।।२६।।

जैसे व्यञ्जक (प्रकाशक) सूर्य आदि का प्रकाश, प्रकाश्य घट आदि के आकारवाला हो जाता है, वैसे ही सब पदार्थों की प्रकाशिका होने से बुद्धि भी पदार्थ के आकार की दीखने लगती है। जैसा आकार (रूप) पदार्थ का होता है, वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखनेवाली बुद्धि का भी हो जाता है। न्याय दर्शन में कहा गया है – **'चक्षुर्मात्रग्राह[illegible]द् गुणो रूपम्'**। अर्थात् चक्षु मात्र से जिस गुण का ग्रहण होता है उसे रूप कहते हैं। इसमें रूप को तेज का एक गुण माना गया है। रूप को ग्रहण करनेवाला चक्षु, रूप का आश्रय है, वह तेजस् इसलिए है कि रूपादिपञ्चक में से प्रदीप की तरह रूप का ही ग्रहण करता है। रूप पञ्चत्व का एक गुण भी है – **पृथ्वीजल तेजो वायु-नभांसि भूतानि तथा चोक्तम् - 'रूपं गन्धो रसः स्पर्शः।'**

कठोपनिषद् में कहा गया है कि – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मैथुन का अनुभव ज्ञानशक्ति द्वारा ही होता है। ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलनेवाले होने से विनाशशील हैं।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते एतद्वैतत्। कठो० २/१/३

रुचि–भेद से रूप को 'सु' और 'कु' दो प्रकार की विभिन्नता प्राप्त होती है। इसे अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक उदाहरण द्वारा अतीव सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है – रमणी में भगिनीत्व, पत्नीत्व, मातृत्व, दासीत्व आदि को समझाने के लिए बहिरंगीण आकार की भिन्नता (शिशु, झाड़ू आदि) देकर उसके

वास्तविक रूप को नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि नारीत्व जाति धर्म इन सभी में विद्यमान है। इनकी वास्तविक भिन्नता को ज्ञानचक्षु से जाना जा सकता है। यही रूप के अन्दर ज्ञान को प्रेषित करना ही रूप का मर्म देना, जीवन देना अथवा रूप का सुरूप या स्वरूप दिखाना है। इसका विपरीत है रूप को अरूप करना।

साहित्य दर्पण के छठे प्रकरण में विश्वनाथ कविराज ने कहा है –**'रूपारोपात्तुरूपकम्'** (रूप + अरोपात् + तु + रूपकम्)। यहाँ रूप का आरोप तो नहीं हुआ, परन्तु जो रूप नष्ट हो गया था वह लौट आया। दुष्ट वस्तु (आंगिक, वाचिक अभिनय) से द्रष्टा (आहार्य) के अगोचर (सात्त्विक) मन को पहले प्रभावित करती है फिर द्रष्टा (कलाकार) उसे सादे कागज, वस्त्र, तालपत्रादि किसी भी पृष्ठभूमि पर अंकित करता है। फिर उस रूप को अनेक प्रकार से परखकर ढाँचा खड़ा करता है तत्पश्चात् विविध रंग लगाकर छाया और प्रकाश देकर, उक्त चित्र को पूरी घटना या विषय का द्योतक बना देता है यही है चित्रकला में रूप का नियम। रुचि को सुन्दर बनाना ही रूप साधना है। वि० ध० के अनुसर 'रूप' ही चित्रकला और मूर्तिकला का सार है।

२. प्रमाण :- 'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' - इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण का अर्थ है जिनके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव की उत्पत्ति होती है उसे प्रमाण कहते हैं। मा धातु से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। 'मा' के दो अर्थ हैं – (१) मान (मानदण्ड, तालमान), (२) प्रमा (चित्त, मन)।

प्रमाण का अर्थ संपुष्टि भी है जिसके अनुसार चित्रित विषय का स्पष्टीकरण अथवा विवेचन आवश्यक है। इस प्रयास में उसकी विशेषता एवं निजस्व (Character or Syndrome) , क्रिया–कलाप (Action), गठन, बनावट आदि का आभास देना भी अनिवार्य है।

संस्कृत शब्दकोशों में प्रमाण का अर्थ है–वह साधन जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, प्रमा का साधन (न्याय दर्शन), वह साधन जिसके द्वारा कोई बात सिद्ध की जाय; वह जिसका वचन या निर्णय यथार्थ या आप्त माना जाय, माप, परिमाण, सीमा, यथार्थता, सत्यता आदि।

अवनीन्द्रनाथ ने प्रमाणानि का अर्थ दिया है – 'वस्तु रूप के बारे में प्रमा या भ्रमविहीन ज्ञान प्राप्त करना; नैकट्य, दूरत्व और उसकी लम्बाई–चौड़ाई इत्यादि का मान–परिमाण, संक्षेप में वस्तु का ब्यौरा। इसके हेतु प्रमा (वस्तुओं के नापने की बुद्धि) को आधार मानते हैं।' समुद्र का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि किसी कागज या चित्रपट पर कितना भाग पृथ्वी और कितना भाग आकाश के लिए छोड़ा जाय तथा समुद्र के लिए कितना भाग रखा जाय–इसका निर्धारण प्रमा ही करती है। रूपों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म, आकृति भेद, वर्ण भेद, विस्तार भेद यहाँ तक कि भाव भेद तक का और तट की निकटता, सागर की दूरी और आकाश की अति दूरी इन सबका चित्र में क्या रूप होना चाहिए इस सबका निश्चय प्रमा के द्वारा ही होता है।

नैयायिक महर्षि गौतम के अनुसार धर्म, अर्थ और काम–इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। इसकी प्राप्ति प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से होती है :–

प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवति।

बौद्ध दर्शन में ज्ञान (प्रमा) के चार कारण या प्रत्यय कहे गये हैं जिनके नाम सौत्रान्तिकों के अनुसार हैं – (१) आलम्बन, (२) समनन्तर, (३) अधिपति और (४) सहकारी। चित्र या मूर्ति बनाने में इन चारों का ज्ञान होना आवश्यक है। इन चार प्रकार के कारणों के संयोग से ही किसी बाह्य वस्तु का

ज्ञान सम्भव होता है। अतः इस मत को बाह्यानुमेयवाद कहते हैं। बाह्यानुमेय अर्थात् बाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तुजनित मानसिक आकारों से अनुमान प्राप्त होता है। चित्र को भी बनाने के लिए इन्हीं चारों प्रत्ययों या कारणों का ज्ञान होना आवश्यक है।

यथार्थ अनुभव (प्रमा) तीन बातों पर निर्भर है – (१) प्रमाता (जाननेवाला पुरुष), (२) प्रमेय (वह विषय जो जाना जाता है) और (३) प्रमाण (वह साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है)। बुद्धि की वृत्ति को, जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है, प्रमाण कहते हैं। इस वृत्ति के द्वारा जिस विषय का ज्ञान पुरुष को होता है उसे प्रमेय कहते हैं। विषयकारक बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ना ही प्रमा (ज्ञान) है। जड़ बुद्धि में चैतन्य के प्रकाश के बिना किसी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता।

सृष्टि का समस्त पदार्थ, जिससे चित्रकार को ज्ञान की प्राप्ति होती है वह बिम्ब विधान है। उस बिम्ब का मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होना ही वस्तु का प्रत्यक्षीकरण है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में सूर्य का प्रकाश पड़ने से प्रत्येक वस्तु प्रकाशमान हो जाती है, अँधेरे में रखे पदार्थ भी प्रकाशित हो जाते हैं। दर्पण मैला है तो न सूर्य ही उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगा, और न वह प्रतिबिम्ब ही अँधेरे में पड़े पदार्थों को प्रकाशित कर पायेगा। इस प्रमाण ज्ञान से ही प्रमाता प्रमेय (विषय) को स्पष्ट कर सकता है। प्रमातृ चैतन्य की अविकसित अवस्था में नवीन चित्रकार अनुभवहीनता के कारण चित्र में दृष्ट वस्तु के यथार्थ चित्रण में असफल हो जाता है। उसके कार्य (चित्रण) में प्रमाण के ज्ञान (प्रमा) अनभिज्ञता–रूपी कारण दोष बाधक होता है।

'सचेतसाम् अनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' चित्रकार का जैसा अनुभव होता है यथार्थ–अयथार्थ, उसी के अनुरूप वह चित्र में 'प्रमाण' करता है। पञ्चदशी द्वैत विवेक प्रकरण में कहा गया है –

मातुमानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते।।३०।।

पहले प्रमाता अर्थात् कूटस्थ अधिष्ठान सहित बुद्धिस्थ चिदाभास रूप प्रमाता, जीव से चिदाभास सहित अन्तःकरण की वृत्तिरूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है। जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है, तब वह घटादि मेय जिसकी नाप–तौल हो सके, जो जाना जा सके पदार्थों के पास पहुँचता है और इस प्रकार मेय पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमेय के आकार के समान दिखने लगता है।

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ।।३१।। पंचदशी

प्रमाण के विषय–घट दो होते हैं – एक मिट्टी का और दूसरा मनोमय। जिस प्रकार मृण्मय घट मनोवृत्ति द्वारा प्रमाज्ञान का विषय अर्थात् प्रमाताभास्य है, (प्रमाणवृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है, वे बाह्य घट–पटादि प्रमाताभास्य हैं) वे स्वप्न, सुख–दुःख और काम आदि मनोमय पदार्थ साक्षिभास्य हैं।

'प्रतिमालक्षणम्' में, जिसे उसके तिब्बती अनुवाद में ऋषि आत्रेय रचित तथा एक बौद्ध ग्रन्थ पर आधारित बताया गया है, मूर्तियों के सिर, मुख और हाथ–पैरों की विस्तृत मापें तथा मूर्तिकला के कुछ सामान्य अंग की मापें बतलायी गयी हैं। प्रतिमा विद्या में १२० या १२५ अंगुल लम्बाई को 'दशतल' अथवा 'उत्तमदशतल' प्रमाणम् कहा गया है। एक ग्रंथ में लिखा है कि 'विष्णु, ब्रह्मा और शिव की मूर्तियों को 'उत्तमदशतल' के अनुसार (१२४ अंगुल) तथा श्री, भूमि, उमा और सरस्वती की प्रतिमाओं का

'मध्यदशतल' के अनुसार (१२० अंगुल) बनाना चाहिए।' बौद्धग्रंथ 'प्रतिमालक्षणम्' की व्यवस्था है कि ब्रह्मा तथा देवी चर्चिका जैसे इष्टदेवों, ऋषियों, ब्रह्मराक्षस, स्वर्ग–निवासियों और बुद्धों की प्रतिमाएँ दशतल प्रमाण के अनुसार बनाना चाहिए तथा अन्य किसी की मूर्ति इस प्रमाण के अनुसार कदापि न हो। सम्पूर्ण प्रतिमा तब दस 'भागों' में विभाजित की जाती है जिनमें से प्रत्येक भाग 'मुख' के आकार के बराबर (एक 'तल' या दस अंगुल) होता है। यह प्रमाण मानवीय स्तर से परे है। प्रमाण के मानदंडों पर लिखनेवाले यूनानी पॉलीक्लीटॉस तथा रोमक वर्त्रुवियस दोनों ने अपनी प्रमाण–प्रणाली के आधारस्वरूप 'अष्टमुख' नियम-सामान्य मानवीय स्तर–स्वीकार किया है, किन्तु भारतीय मूर्तिकारों ने अपनी मूर्तियों के लिए दशतल (अथवा 'दशमुख') माप अपनाया है। यह माप चित्र में भी मान्य है।

विष्णुधर्मोत्तर में सत्य, वैणिक और नागर चित्र में 'कद या परिमाण' को बतलाया गया है –

दीर्घांगं सप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम्।।२।।
चतुरस्त्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम्।
प्रमाणं स्थानलम्बाढ्यं वैणिकं तन्निगद्यते।।३।।
दृढोपचितसर्वांगं वर्तुलं न घनोल्वणम्।। ३ १/२।। अध्याय ४१।

सुकुमार प्रमाण तथा सुन्दर भूमिका (पृष्ठभूमि) से युक्त और लम्बे अंगोंवाला (सत्य चित्र) हो।।२।। जो चित्र सुडौल एवं परिपूर्ण हो, न लंबा हो न उत्कट आकृतिवाला हो और आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे वैणिक कहते हैं।।३।। जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हों और जो न गोल हो न उत्कट, उसे नागर चित्र कहते हैं। ।।३१/२।।

जो कलाकार दैवी प्रतिभासम्पन्न हैं, वे अपनी कृति को एक शैली में बनाते हैं और उसी में उचित मान–परिमाण को दिखलाते हैं। वि० ध० के अनुसार नारी मूर्ति 'श्वास लेती–सी' जान पड़े जैसा कालिदास ने कुमार सम्भव में कहा है –

'भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेष्वति गौरवाः क्रिया।' ५।।३१।।

'वपुर्विशेषः' सुन्दर और पुष्ट देह वाली (well proportionate figure) वपुष्मान (वपुमान)। शरीर के सभी अंग–प्रत्यंग जिसके सुडौल, सुन्दर हों।

'कमर के पतलेपन के विपरीत सुपुष्ट स्तनों के उभार से नारी मूर्ति श्वास लेती–सी जान पड़ती है' : 'फूले हुए कमल और उलटकर रखे हुए स्वर्ण–कलशों जैसे पुष्ट स्तन', 'केले के तने जैसी सुडौल और उभरी हुई जंघाएँ', तथा वेदी के मध्य भाग जैसी पतली कमर[1]। प्रमाण के नियमों का पालन शिल्पियों के लिए आवश्यक है। शुक्रनीति में कहा गया है –

यथोक्तावयवैः पूर्णा पुण्यदा सुमनोहरा।
अन्यथाऽऽयुर्धनहरा नित्यं दुःखविवर्द्धिनी।।७६।।

अर्थात् शास्त्रोक्त एवं अन्यथा रीति से बनी प्रतिमा के फल–यदि शास्त्रोक्त नियमानुसार अंगों से परिपूर्ण बनी हो तो वह पुण्य देनेवाली तथा अत्यन्त मनोहर होती है। यदि अन्यथा रीति से बनी हो तो आयु तथा धन को हरण करनेवाली और नित्य दुःख को बढ़ानेवाली होती है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३८/२४–२५ में भी यही बात कही गयी है।

---

१. भारत की संस्कृति और कला-राधाकमल मुकर्जी, पृ० २१५।

चित्र में प्रधान प्रतिमा बड़ी और अप्रधान प्रतिमा छोटी बनाते हैं। रूप जगत् में दो प्रकार का माप है – (१) रूप का बहिरंगीय माप, (२) आभ्यन्तरीय माप। चित्रकला में किसी पदार्थ या किसी विशेष क्षेत्रफल को 'रूप' में रूपान्तरित करने के लिए कुछ गठनात्मक सिद्धान्त भी लागू होते हैं। जैसे अनुपात (प्रपोर्शन), समरूपता (सिमेट्री), संतुलन (बैलेन्स), सामञ्जस्य (हार्मनी), ताल (रिद्म), विकास (डेवलपमेंट), केंद्रीयता (सेंट्रलिटी) आदि। अनुपात (प्रपोर्शन) आकार (साइज) के विभिन्न अंगों का तुलनात्मक सम्बन्ध है जो बहुधा दृश्यात्मक चीजों से अनुस्यूत रहता है। उदाहरणार्थ, हरिण की बेहद पतली टाँगें उसे तेज दौड़ने के लिए और हाथी के विशाल स्तंभ पाँव उसकी विराट् काया को साधने तथा बड़ी शाखाओं के उखाड़ने हेतु भूमि पर जमाने के लिए होते हैं। चित्रकला में वस्तु अंकन के अलावा 'दृश्यकोण' (पर्सपेक्टिव) के विधान में भी इसका योग होता है; जैसे आगे की चीजें बड़ी और पीछे की छोटी, नीचे की समानांतर तथा ऊँचाई की शंकुमय आदि।[1] लम्बाई–चौड़ाई और गहराई या ऊँचाई मिलाकर ही वस्तु का पूर्ण माप होता है।

वि० ध० अध्याय ३५–३६ में अंग–प्रत्यंग का नाप विस्तार से दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर और शिल्परत्न में पाँच प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है :– (१) हंस, (२) भद्र, (३) मालव, (४) रुचक और (५) शशक। उनकी ऊँचाई क्रमशः १०८, १०६, १०४, १०० और ९० अंगुल की बतायी गयी है। विष्णुधर्मोत्तर का हंस प्रमाण १०८ अंगुल का 'नवताल' ही है। 'विष्णुधर्मोत्तर' एवं 'मानसोल्लास' में संपूर्ण शरीर का एक ढाँचा प्रस्तुत करने के लिए उसका 'नवताल प्रमाण' निम्न प्रकार से है –

विष्णुधर्मोत्तर		**मानसोल्लास**	
उष्णीष–केशांत	– २ अंगुल	उष्णीष–केशांत	– २ अंगुल
चेहरा	– १२ अंगुल	चेहरा	– १२ अंगुल (१ ताल)
(गला)	– ४ अंगुल	ग्रीवा	– ४ अंगुल
गला से हृदय	– १२ अंगुल	ग्रीवा से हृदय	– १२ अंगुल (१ ताल)
हृदय से नाभि	– १२ अंगुल	हृदय से नाभि	– १२ अंगुल (१ ताल)
नाभि से पेडू	– १२ अंगुल	नाभि से पेडू	– १२ अंगुल (१ ताल)
जाँघ	– २४ अंगुल	जाँघ	– २४ अंगुल (२ ताल)
उरु	– २४ अंगुल	उरु	– २४ अंगुल (२ ताल)
गुल्फ	– ३ अंगुल	जानु	– ४ अंगुल
		चरण	– २ अंगुल
कुलयोग	– **१०८** अंगुल	कुलयोग	– १०८ अंगुल

मनुष्य की आकृति तालमान तथा अंगुल पर तो आधारित है ही, नापने की अनेक रेखाओं पर भी प्रमाण आधारित है। विष्णुधर्मोत्तर और शिल्परत्न में ब्रह्मसूत्र, पक्षसूत्र, बहिःसूत्र रेखाओं का उल्लेख आया है।

१. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - रमेश कुंतल मेघ पृ० ५६।

जलवायु की भिन्नता के कारण मानव का अलग माप होता है जैसे – चीनी, नेपाली, संथाल, पठान, नीग्रो, रेडइण्डियन आदि। 'अनुपात के प्रसंग में पशुओं के उदाहरणों में भी यह तत्त्व विद्यमान है। इसका मूल सिद्धान्त है कि भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण के अनुसार ही कोई वस्तु ढलती है, उदाहरण के लिए रेगिस्तानी पौधे जल को संचित रखने के लिए फुफ्फुसदार, छोटे तथा कँटीले होते हैं। हरीतिमा में छिपने के लिए तोते का रंग हरा होता है, ओरंग उटांग को वृक्ष पर चढ़ने की जरूरत न पड़ने पर उसके आगे के पाँव हाथों में बदल गये और रीढ़ की हड्डी सीधी हो गयी।'[१]

शिल्पशास्त्र में देवता, मनुष्य और देवता–मनुष्य से मिश्रित रूप का उल्लेख आया है। इनका सम्बन्ध क्रमशः देवलोक, मर्त्यलोक एवं गन्धर्वलोक से है। चित्रकला में रूप अदिव्य है और रस दिव्य। शिल्पशास्त्र में इन्हीं तीनों रूपों का मान–परिमाण और लक्षण प्राप्त है।

शुक्रनीति में ताल के अनुसार मान–परिमाण दिया गया है।

वामनी सप्तताला स्यादष्टताला तु मानुषी।
नवताला स्मृता दैवी राक्षसी दशतालिका।।४।।८६।।

'७ ताल–प्रमाण की ऊँची प्रतिमा 'वामनी' है, ८ ताल की 'मानुषी' ६ ताल की 'दैवी' और दस ताल की 'राक्षसी' प्रतिमा होती है।'

अन्यत्र भी पाँच प्रकार के रूपों का प्रमाण मिलता है –

मानव – दस ताल (जैसे अर्जुन आदि पांडव, राम–कृष्ण)
भयानक – बारह ताल (जैसे भैरव, हयग्रीव, वाराह)
कुमार – आठ ताल (जैसे वामन)
राक्षस – सोलह ताल (जैसे रावण, कुम्भकर्ण)
बाल – पाँच ताल (जैसे गोपाल)

सिर को एक ताल मानकर शेष शरीर की रचना उसी के अनुसार करनी चाहिए। 'नवताल' में तलवे से टखना १/४ ताल, टखने से घुटना २ ताल, वहाँ से जंघा २ ताल, जंघा से नाभि १ ताल, नाभि से वक्ष १ ताल, ग्रीवा से वक्ष १ ताल, ग्रीवा १/३ ताल, मुखमण्डल १ ताल तथा मस्तक के ऊपर शिरोभाग १/६ ताल होना चाहिए।

मर्यादा में बँधकर किसी भी कलाकार को अपनी कला की अभिव्यक्ति में रूढ़ता दृष्टिगत होने लगती है। अपनी भावनाओं का समावेश अपनी कृति में स्पष्ट करने के लिए प्रमाशक्ति (Rational Power) से भी उस (वस्तु अंकन) को बार–बार नापता रहता है।

३. भाव :- रूपभेदाः (अनेक प्रकार के रूप) 'प्रमाणानि' (भिन्न–भिन्न रूपों के लिए भिन्न–भिन्न प्रमाण), भाव लावण्य योजनम् से तात्पर्य भाव और लावण्य दोनों का संयुक्त रूप से योजना करनी चाहिए। चित्त का व्यापार है भाव का बनना। चित्तवृत्तियाँ चंचल होती हैं। इसमें भाव प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। 'जब चित्त अत्यधिक गतिशीलता या चंचलता को छोड़कर विश्रान्त या शान्त अवस्था को प्राप्त करता है तब सुख की प्राप्ति होती है और जब विविध विचार या भाव प्रतिक्षण उठते हैं तब मन क्षुब्ध और दुःखी हो जाता है। इसके अलावा जब चित्र भयंकर काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि

---

१. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० १५।

के भावों से आक्रान्त होता है तब सहज सामान्य व्यापारों में अवरोध उत्पन्न होता है। चित्त के इन भावों को सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण कहा गया है।[१]

'भाव कलाकार की कृति में चित्रित आकृतियों के स्वभाव आदि को परिलक्षित करता है।' 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कहा गया है –

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणाम् विधायकाः।
भाव विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः।।

शरीर और इन्द्रिय सभी का विकार–विधायक भाव है; विभावजनित चित्तवृत्ति भाव है। **'निर्विकारात्मक चित्ते भावः प्रथम विक्रिया।** निर्विकार चित्त में भाव ही प्रथम विक्रिया (movement) प्रदान करता है।'[२] 'उज्ज्वलनीलमणि' में रूपगोस्वामी ने कहा है कि चित्त स्वभावतः निर्विकार और निर्मल वर्ण–विहीन है, भाव ही उसे वर्ण देता है, चंचलता या गति देता है। भाव ही मानव को उच्च और नीच पद पर अधिष्ठित करता है। 'उत्तररामचरितम्' में राम के भाव को 'पुटपाक प्रतीकाशः' कहा गया है। बहुत ही सुन्दर उदाहरण है रुद्धपात्र अथवा मिट्टी से लपेटे हुए पत्तों के बीच में ओषधियों को रखकर उसे अग्नि में पकाने को पुटपाक कहते हैं। 'प्रती (ति) काशः' शब्द का अर्थ चमक, कान्ति, छाया इत्यादि होता है, किन्तु समास के अन्त में यह उपमावाचक है। राम के हृदय में छिपे हुए शोक को पुटपाक से उपमित किया गया है, अपनी गम्भीरता के कारण राम अपने शोक को किसी पर प्रकट नहीं करते थे, अतः वह भीतर–ही–भीतर हृदय को जलाता रहता था, जिस प्रकार पुटपाक द्रव्य भीतर–ही–भीतर जलता रहता है, और उसकी जलन बाहर प्रकट नहीं होती। भाव चित्रण का अर्थ है अन्तः प्रकृति का अंकन। विष्णुधर्मोत्तर में कहा गया है –

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।
दृष्टश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः।।

अर्थात् जिस तरह रूपकों में तीनों लोकों की अनुकृति को भाव के समस्त अंग–उपांग के द्वारा पूर्णरूप से दिखाया जाता है उसी तरह चित्र में भी भाव स्पष्ट होने चाहिए।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य के प्रसंग में भाव को कुछ इस प्रकार कहा है।

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।
नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।। १/१०७–११२।।

नाट्य में संपूर्ण त्रैलोक्य के भावों की अनुकृति होती है। इन अनेक भावों के अन्तर्गत अन्तरात्मा की अनेक अवस्थाएँ भी दृष्टिगत होती हैं।

(नाट्यशास्त्र, ६१/३) में है **भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि।** यह भाव क्या है और ये किसे भावित करते हैं? इसका उत्तर है कि **'वागंगसत्त्वोपेतान्काव्यर्थान्भावयन्तीति भाव इति।** 'वाक्, अंग तथा सत्त्व से युक्त काव्यार्थों को भावित करने के कारण भाव कहे जाते हैं। वे अन्यत्र भी' जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावों तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा प्रतीति

---

१. सांख्यतत्त्व कौमुदी प्रभा- डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, पृ० १७६ए परिवर्द्धित संस्करण, अक्षयवट-प्रकाशन, बाघम्बरी मार्ग, इला०

२. सम्मेलन-पत्रिका, कला अंक, पृ० ४१८। हि० सा० स०।

योग्य बना है, वह भाव कहा जाता है। वचन, अंग तथा मुख–राग द्वारा और सात्त्विक अभिनय के द्वारा भी कवि के अन्तर्निहित भाव को भावित (अभिव्यक्त या व्याप्त) करना भाव कहलाता है।[1]

'मेदिनी कोश' में भाव का अर्थ सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, क्रिया, लीला है। अमरकोश में मन के विकार को भाव कहा गया है। मनोविकारों को काव्य में भाव कहा गया है। स्थायी, विभाव, अनुभाव और संचारी इनके ४६ अवान्तर भेद हैं जिनमें ८ स्थायी, ३३ संचारी और ८ सात्त्विक भाव हैं।

'भाव और रस परस्पर एक–दूसरे को भावित करते हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार समस्त रस मौलिक हैं और उनके द्वारा ही भावों की व्यवस्था होती है।'[2]

कला और साहित्य की दृष्टि से 'भाव' का विवेचन किया गया है – चित्र, काव्य, संगीत आदि रचनाएँ मनुष्यों के भावों को प्रकट करती हैं उनमें से कुछ तो सहेतुक होती हैं और कुछ अहेतुक। जब भावोदय होता है तभी कविता एवं चित्र लिखा जाता है। भावावेश या भावप्रवणता में कलम चलना, हाथ–पैर में थिरकन होना के से स्वर प्रस्फुटित होना आदि सहेतुक भाव हैं। पागल का प्रलाप अहेतुक या निरर्थक है।

अभिनवगुप्त ने भाव के लिए कहा है – **'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णानीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय संवाद भाजः सहृदयाः –'** 'काव्यों के अनुशीलन के अभ्यास से मन–रूपी दर्पण विशद हो गया है वर्णित विषय में तन्मयीभवन की योग्यता ही सहृदयों में हृदय भाजन संवाद (भाव) का कारण होती है।'

हृदय में उठनेवाले विचार को भाव कहते हैं। विभिन्न भावों से शरीर में विभिन्न विकारों का जन्म होता है। भाव ही हमारे शरीर के अंग–प्रत्यंगों को परिवर्तित करता है। चित्तवृत्तियाँ जब रस का सहगमन करती हैं तब भाव उनके अनुकूल नियमित रहता है। भाव की व्यञ्जना या गूढ़भाव को हम केवल मन से अनुभव कर सकते हैं। हम उन भावों को आँखों से देखकर भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं – त्रिभंग, समभंग, अतिभंग और शास्त्रसम्मत और अनगिनत शास्त्र के बाहर और सृष्टि के बाहर की भंगिमा आदि। 'कोयल का कंठ किस चीज को बता रहा है, जाड़े के कुहरे ने किसे ढँक रखा है, शरद् के बादलों के रथ किसे ले जा रहे हैं, मेरे अन्दर किसकी वेदना बाहर के वसन्त के सारे आनन्द के वर्ण–वर्ण में दुःख की कालिमा पोत रही है, किसका आनन्द अन्धकार में आलोक प्रदान कर रहा है, उसे देखना आँखों के बूते की बात नहीं है, यह मन में आयत्ताधीन है। अतएव केवल आँखों से भाव को काम की जो भंगिमा दिखायी पड़ रही है सिर्फ उसी को चित्रित करके निश्शान्त नहीं हो पा रहे हैं, क्योंकि इस रूप में भाव की व्यंजना का पक्ष बिल्कुल छूटा जा रहा है। चित्र के केवल स्फुट पक्ष को अर्थात् भंगिमा के पक्ष को दिखाने से काम नहीं चलता, चित्र असम्पूर्ण रह जाता है–इंगित के अभाव में व्यंग्य के अभाव में ! **'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यमत्ववरम् स्मृतम्'**। व्यंग्य के अभाव में शब्दचित्र वाच्यचित्र यहाँ तक कि लिखित चित्र भी अनुत्तम हो जाते हैं। **इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये।** चित्र मात्र ही व्यंग्य के रहने पर उत्तम होते हैं।'[3]

---

१. विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते। वाङ्.ङ्गसत्तवाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः।।१।।
वाङ्.ङ्गमुखरागेण (रागैश्च) सत्त्वेनाभिनेयन च। कवेरन्तर्गतं भाव भावयन्भाव उच्यते।।२।। ना० शा० सप्तम अध्याय।

२. एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ।।६/१३७।।
यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो बृक्षात्पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।। नाट्यशास्त्र ६/३८।।

३. स[illegible]त्रिका 'कला अंक' पृ० ४१६।

संस्कृत काव्यों, नाटकों और अलंकारशास्त्रों में भाव, भावाभास, भावसंधि, भावसरलता, भावोपपन्नता, भावानुप्रवेश, भावगम्य चित्र, भाव–चिह्न आदि भाव से संबंधित शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जो चित्र में कुशल चित्रकार को अपनी कृति को प्रस्तुत करने के काम आते हैं। – **'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती' – (मेघ० २/२५)** 'यक्ष मेघ से कहता है कि संभवतः तुम मेरी पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाती हुई पाओगे।' इस भाव से प्रेम की आसक्ति नहीं है वरन् सात्त्विक भाव है। अभिज्ञान शाकुन्तल में **'मधुरावस्थान दर्शनीयो भावानुप्रवेशः'** इस चित्र के प्रत्येक अंग से मन के भाव प्रकट हो रहे हैं। दर्शक में चित्रितव्य के भावों को लेख और रंगों द्वारा फिर से प्रवेश कराना ही भावानुप्रवेश है।

'कालिदास की लालित्य योजना' पृ० ६४–६६ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वर्णन किया है 'प्रेमी चित्रकार की दो अवस्थाओं को कालिदास ने बताया है। प्रथम अवस्था में वह अपने स्व को भूल जाता है और प्रेमिका के भावों में अनुप्रवेश करता है। दूसरी अवस्था में वह चित्र को वास्तविक, सत्य समझता है और उसे देखकर उसके चित्त में वैसे ही सात्त्विक अनुभाव उत्पन्न होते हैं जैसे कि वास्तविक प्रेमिका को देखने से होते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के लिए कालिदास ने दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है प्रथम अवस्था का नाम 'भावानुप्रवेश' और दूसरी का 'यथालिखितानुभाविता'।

चित्रकला में चेहरे पर सात्त्विक शान्ति का भाव प्रकट करने के लिए अण्डाकार आकृति का प्रयोग होता है तथा चंचलता के लिए पान की पत्ती का आकार। शान्त भाव के लिए समभंग, किसी कार्य में लगी हुई आकृति के लिए सभंग तथा चंचलता के लिए त्रिभंग मुद्रा का प्रयोग होता है।

भाव को व्यक्त करने के लिए कुछ वस्तुओं को न दिखाकर भी छिपे हुए भाव की व्यञ्जना की जाती है।

चित्रकला में रेखा, रंग, आलेख्य और अनुपात की भंगिमाएँ, संश्लिष्ट होकर समग्र आकृति को एक खास भंगिमा प्रदान करती हैं और वह 'प्रतीक' या 'संमूर्ति' या 'मूर्ति' (आइकन) होकर एक भाव से गुंफित हो जाती है।[1] चित्र में अंकित प्रत्येक वस्तु अपनी भंगिमाओं के कारण पुनर्प्रस्तुतीकरण की वजह से संवलित भाव को प्रगट करती है। चित्रकला के भावों में पुनर्प्रस्तुतीकरण, सांसारिक विभावन तथा भावसंपुंजन का त्रित्व होता है। पलाश की डाल पर बैठी हुई कोयल या अँधेरे में जाती हुई कृष्णाभिसारिका मीठे संगीत और गति को पुनर्प्रस्तुत करती है और चित्रपटल की सभी वस्तुओं से भी विशिष्ट भावदीप्ति का आदान–प्रदान करती है।[2] इस प्रकार 'आकृति की भंगिमाएँ भावों को प्रकट करती हैं और प्रत्येक आकृति का भाव स्वतः स्फुरित होने लगता है। पलाश की डाल पर बैठी कोयल, टोड़ी रागिनी सुनता हरिण, राधा के विरह में काली कालिन्दी, कालियछेदन के समय लहरों की छटपटाहट या कृष्ण–राधा के मिलन–कुंज में लताओं का सघन आच्छादन आदि सभी के स्वतंत्र अस्तित्ववाले भागों के संपुंजन से एक विपुल भावलोक ही बन गया है। चित्र के लिए रस अनुकूल भाव एवं तद्रूप रसदृष्टि का निरूपण 'समरांगण सूत्रधार' में हुआ है।

४. लावण्य योजना :- 'लावण्य' को चित्रकला का रस माना गया है। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार 'जिस प्रकार प्रमाण रूप को परिमित देता है उसी तरह लावण्य को भी.....भाव के कार्य या भंगिमा को अद्भुत तथा उच्छृंखल भंगिमा के हाथों से बचाकर[3] लावण्य एक आत्मगत तथा आंतरिक

---

१. तु अर्विन पेनाफस्की की 'दुश्यकलाओं में अर्थ की स्थापना', 'मीनिंग इन विजुअल आर्ट्स (डबल डे एंकर बुक्स, पेपर बैक, १६६५)। २. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ८२। ३. भारतीय शिल्प के षडंग-अवनीन्द्रनाथ ठाकुर।

उपलब्धि है जो एक ओर रूप तथा प्रमाण को सुरुचिपूर्ण करता है तथा दूसरी ओर भाव को आलोकित।[1]

'लावण्य' के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' में कहा गया है –

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्.गेषु लावण्यं तदिहोच्यते।। २६ उज्ज्वलनीलमणि

अर्थात् मुक्ताकलाप के अन्दर से जो छटा निकलती है और स्वच्छतायुक्त अंगों से जो चमक या कान्ति प्रतीयमान होती है, उसी को 'लावण्य' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में 'लावण्य' का अर्थ, दाल में 'नमक' के अर्थ में आया है। शब्दकोश में इसका अर्थ 'लवणस्य भावः लवणिमा' से स्वाद के अर्थ में निर्देश है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर एवं कुमार स्वामी ने भी स्वाद (taste) के अर्थ में नमक (salt) माना है। 'भारतीय शिल्प के षडंग' के अनुवाद में डॉ० महादेव साहा ने लावण्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'भाव की ताड़ना से भंगिमा दौड़ी जा रही है, मतवाले घोड़े की तरह असंयत, उद्दाम, असहिष्णु; यहाँ तक कि अशोभन तौर से अपने को प्रमाण की सीमा से विच्छिन्न करके। लावण्य आकर उसे शांत कर रहा है, अपने मधुर कोमल स्पर्श को धीरे–धीरे उसके सारे बदन पर फेरकर। भाव की ताड़ना से रूप जब शकुन्तला–प्रत्याख्यान के समय दुर्वासा ऋषि की तरह अपरिमित तौर से हाथ–पैर हिला–डुलाकर, दाँत किटकिटाकर, उद्दण्ड भंगिमा में खड़ा देख रहा है, तभी हमारा लावण्य उसके पास आकर कह रहा है : '**स्थिरो भव** ! पागल बन रहे हो।' इस तरह भाव, आभ्यन्तर सौंदर्य का परिचायक है तथा लावण्य बाह्य सौंदर्य का अभिव्यञ्जक। वैष्णव कवियों ने प्रभा, दीप्ति, स्वच्छता से निखरा हुआ औज्ज्वल्य, अर्थ में लावण्य शब्द को 'दमक' अर्थ में स्पष्ट किया है। कालिदास के रघुवंश में **'संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ'** – इन्दुमती के लावण्य की उपमा दीपशिखा से तथा मेघदूत (१/५१) में – **'कुन्दक्षेपानुगममधुकरश्री'** श्री अर्थात् कांति, सौंदर्य के रूप में वर्णित है।

'लावण्य योजनम्' में योजना शब्द किसी वस्तु में किसी क्रिया को निखारने अथवा उत्तम ढंग से प्रदर्शित करने की क्षमता के लिए आया है। लावण्य योजना का अर्थ अवनीन्द्रनाथ ने – "Infusion of grace, Artistic representation." के अर्थ में किया है। रंधन शिल्प (पाक–कला) में लवण के कम या अधिक होने पर भोज्य पदार्थ सुस्वादु नहीं होता अतः लावणिमा और उसकी योजना बड़ी निपुणता का काम है।

महाकवि सुबन्धु ने वासवदत्ता में कहा है **'पारावार इव संजात लावण्ये.........यौवने'**[2] अर्थात् क्षारत्व उत्पन्न हुए पारावार (समुद्र) के समान लावण्य उत्पन्न करनेवाला यौवन। संस्कृत साहित्य में 'यौवन आने पर नायिका के शरीर में लावण्य के साथ ही क्षारत्व भी उत्पन्न होता है' इस अर्थ में आया है। इस क्षार की विभिन्न गंध और उसके प्रभाव–विशेष के आधार पर उन्होंने इनका उत्तम, मध्यम और अधम भेद माना है जो अनुकूल नायकों को आकर्षित करती है।[3] दशरूपक में आया है–समुद्र में क्षार होता है और लावण्य का भी संबंध भी क्षार से है।[4] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे 'Beauty of touches' कहा है। श्री एस० एन० दास गुप्ता के मत में आकारों में संगति से सौन्दर्य और आन्तरिक अभिव्यक्ति से लावेण्य उत्पन्न होता है।

---

१. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ८२।
२. सुबन्धु-वासवदत्ता, पृ० १०६-११०।
३. रतिरहस्य, प्रकरण-जात्यधिकारः, श्लोक सं० ११-१४-१६-१८।
४. 'आत्मभावं नयत्यर्थान् स स्थायी लवणाकरः।।' ११-४-३४।

राय कृष्णदास ने लावण्य योजना के सम्बन्ध में कहा कि भाव के साथ लावण्य की योजना भी होनी चाहिए। रसशास्त्रकार ने कहा कि–मुक्ताकलाप (मोती का पानी या आब) के अंतर से जो छटा निकलती है वह लावण्य है। काव्य में ध्वनि या व्यंजना की भाँति लावण्य रूप के प्रमाणस्वरूप भाव में अन्तर्निहित होकर उपस्थित रहता है। महाकवि हर्ष ने 'लावण्य जल' का प्रयोग किया है जो यौवन आने पर चेहरे पर लालिमा (आब या पानी) के अर्थ में है। चित्र में रूप, प्रमाण और भाव में दीप्ति लावण्य से ही आती है इसके बिना सब–कुछ निष्प्रभ है।

शुक्रनीति[1] (१०७) में कहा गया है :–**'तद्रम्यं यत्रलग्नं हियस्यहृत्।'** अर्थात् वही सुन्दर है जो हृदय (मन) में लगकर उसे हरण कर ले। यहाँ रम्य लावण्य अर्थ में है। विष्णुधर्मोत्तर में लावण्य के लिए मधुरत्वं[2] शब्द का प्रयोग है जो चित्र का आवश्यक गुण है। लावण्य में मधुरता और विभक्तता दोनों होनी चाहिए। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में लावण्य को नवनीत[3] के समान कहा गया है। मुखमण्डल का लावण्य सहृदय के मधुर हास पर निर्भर है। नाट्यदर्पण में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने लावण्य (शोभा) की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है – (१) **औज्ज्वल्यं यौवनादीनामथ शोभोपभोगतः** (सूत्र २८३)। **यौवनस्य आदिशब्दाद् रूपलावण्यादीनां च पुरुषेणोपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा।** अर्थात् यौवन के रूपलावण्यादि का पुरुष के द्वारा उपभोग प्रारंभ किये जाने पर जो उज्ज्वलता अथवा सौंदर्यातिशय चेहरे पर लक्षित होता है, उसको 'शोभा' कहते हैं। (२) **सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः** (सूत्र २८४) – अनुरागातिशय के कारण पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो जाने पर वह शोभा ही कान्ति कहलाती है और (३) कान्ति का भा विशेष विस्तार 'दीप्ति' कहलाती है। इस शोभा, कान्ति और दीप्ति को अनुभाव के अंतर्गत अयत्नज अलंकार कहा गया है। कुमारसंभव में पार्वती के बढ़ते अंगों के लावण्य की उपमा शुक्लपक्ष के चन्द्रमा से दी गयी है।[4] चित्र में लावण्य को यथार्थ रूप से अंकित करने में ही कलाकार की योग्यता, क्षमता दिखायी देती है। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल (६/१४) में –**'तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्'** राजा दुष्यन्त द्वारा बनाये गये चित्र में शकुन्तला के लावण्य को किञ्चित् ही अन्वित (अंकित किया हुआ) कहा है। मेघदूत (२/१६) में यक्षिणी को लावण्यमयी युवती के रूप में वर्णित किया गया है। तिलकमंजरी में आया है **'यस्य रूपलव एष लावण्य विधिना चित्रपट संक्रान्तः कृतार्थीकृतो दृष्टिप्रसादेन'** अर्थात् लावण्य की विधि से चित्रपट संक्रान्त हो गया है तथा चित्र में लावण्य का प्रयोग देखकर दर्शकों की दृष्टि कृतार्थ हो गयी।

कला में रेखा द्वारा रूप को अंकित करने के लिए मान–परिमाण को दृष्टि में रखकर भाव–भंगिमाओं के समावेश द्वारा लावण्य उत्पन्न किया जाता है। चित्र में लावण्य के समावेश से उसकी स्मृति चिरकाल तक बनी रहती है। पहाड़ी तथा ईरानी शैली के चित्रों के संयोजन में लावण्य को अत्यन्त भावात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है – पुरुष को वृक्ष रूप में सीधा खड़ा तथा स्त्री रूप में लता को लिपटी हुई अंकित किया गया है। भारत कला भवन (चित्र–२२) 'मनावन' शीर्षक में इस तरह का ईरानी चित्र द्रष्टव्य है।

साहित्य में लावण्य के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग है – रूप, लावण्य, लुनाई, माधुर्य, चारुता, रमणीयता, कमनीयता, सलौनापन, सौंदर्य, सौकुमार्य आदि। लावण्य चित्रकला का एक गुण है। कलाकार इसे अत्यधिक पवित्र विचारों तथा भावों से अपनी कृति में लाता है। कहा गया है –

१. नैषध महाकाव्य ७/८६।
२. 'स्थान प्रमाण भूलम्बो (? म्भो) मधुरत्वं विभक्तता। ....गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः ।।' ४१/६।।
३. तिष्ठन्ति यत्र लावण्य नवनीतेननिर्मिता।। बृहत्कथमंजरी।
४. दिने दिने सा परिवर्धमाना................................पुपोषलावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्त ाणीव कलान्तराणि।।१/२५।।

'The mind gives the idea, but hand imparts beauty'.

इस प्रकार हम देखते हैं कि लावण्य की व्याख्या शब्दों में नहीं की जा सकती। इसे नेत्रों से केवल देखा जा सकता है और मन से अनुभव किया जा सकता है।

५. सादृश्य :- सादृश्य का सामान्य अर्थ है – अनुरूपता या समानता; कुछ अंशो में समानता और कुछ अंशों में भिन्नता। मल्लिनाथ ने सादृश्य का अर्थ किया है – वस्तुओं के अन्तर्गत आकार का साम्य या अनुरूपता (**वस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यं**)। सादृश्य के द्वारा केवल प्रतिरूप बनाना ही इसका प्रयोजन नहीं है अपितु भावों का संप्रेषण भी आवश्यक है। एक रूप के द्वारा दूसरे रूप के भावों का प्रतिबिम्बन राम के चित्र के द्वारा राम की प्रतीति; चित्र तुरग न्याय से रस की निष्पत्ति हो उठना ही सादृश्य है। यहाँ रूपसाम्य, प्रभावसाम्य एवं धर्मसाम्य एकतान है।[१]

'शिल्परत्न' में सादृश्य के लिए आया है कि चित्र में सादृश्य ऐसे मान–परिमाण में होना चाहिए जैसे स्वच्छ दर्पण पर प्रतिबिम्ब। मानसोल्लास[२] में भी कहा गया है कि दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान जो सादृश्य लिखा जाता है उसे विश्वकर्मा आदि विद्वानों ने विद्ध चित्र कहा है। भारतीय चित्रकला में कैमरे के चित्र की भाँति यथार्थ रूप प्रस्तुत न करके उसमें कल्पनाओं का समावेश करना ही सादृश्य है जैसे–वेणी को सर्प के सदृश दिखाना (आकृति का सादृश्य), चरण–कमल (कोमल का साधर्म्य) आदि।

पं० विश्वनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त मुक्तावली' में **'तद्‌भिन्नत्वे सति तद्‌गतभूयोधर्मवत्वम्'** यह व्याख्या की है अर्थात् एक वस्तु जब दूसरी वस्तु का भाव उत्पन्न करती है–दोनों की आकृति में भिन्नता होते हुए भी अगर एक जगह दोनों में समानता है, तब वहाँ पर दोनों का अपना–अपना धर्म होता है। उदाहरणार्थ – राजा अज ने इन्दुमती के रूप का प्रतिरूप उस चित्र में बना हुआ देखा। उसको देखकर अज के मन में इन्दुमती के रूप का भाव उत्पन्न हुआ, तद्‌गत प्रेम उद्‌भूत हुआ। यहाँ आकृति साम्य के कारण दर्शक के मन में भी उसी भाव का ज्ञान हुआ जिसकी आकृति अंकित थी।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने 'सादृश्य' का अर्थ किया है – Similitude resemblance, equality of forms and ideas.

कुमार स्वामी के मत में सादृश्य – Concomitance of formal and pictorial elements, conformity, consonation, 'Answering to,' 'in responce'.

सदृश, सदृशी – Like in appearnace, sensibly resembling.

सारूप्य – Co-aspectuality, conformation, coordination, spondence; cf. सादृश्य।

'चित्र–सूत्र' में सादृश्य करण[३] को प्रधान कहा गया है।

प्राचीन चित्रकारों ने अदृश्य रूपों को सादृश्य रूपों में व्यंजित करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया। उदाहरणार्थ – देवता, गंधर्व, सिद्ध, यक्ष, दानव, नाग आदि को व्यक्त करने में प्रतीक ही सरल माध्यम समझा।

केदारनाथ सिंह ने लिखा है –'प्रत्येक बिम्ब अपने प्रभाव में चाहे जितना ऐन्द्रिय और संवेगात्मक हो, पर अन्ततः उसकी परिणति किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना में ही होती है। प्रतीक तीन

---

१. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ७७।

२. मानसोल्लास १/३/६३६।

३. दृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषतः। चित्रे सादृश्य करणं प्रधानं परिकीर्तितम् ।।४२/४८।।

प्रकार के होते हैं – (१) प्रतीकात्मक प्रतीक, (२) वैयक्तिक प्रतीक, (३) प्राकृतिक प्रतीक। 'प्रतीक स्वयं गौण होती है, मुख्यतया उस 'दिशा' की होती है जिधर वह संकेत करता है।' प्रतीक भावना प्रधान होता है। उल्टे कमल से आवेष्टित प्राचीन मन्दिर और भवन मानव शरीर के अन्दर बने नाड़ियों के समूह (उल्टे कमल की भाँति) का प्रतीक है। इसी तरह शरीर, जीवात्मा और परमात्मा को क्रमशः पीपल और पक्षियों के रूप में दिखाया गया है, जो जीवंत है किन्तु मात्र, रेखाबल से परमात्मा को अरूप को, अनाम और अनन्त को 'ॐ' आकार देकर सर्वश्रेष्ठ नाम दे दिया गया है जो परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के आलम्बनों में सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। स्वस्तिक चार दिशाओं में व्याप्त विश्वमण्डल के चतुर्भुजी रूप का प्रतीक सूर्य से सम्बन्धित है। कमल सृष्टि का प्रतीक है। बौद्ध ग्रन्थों में कमल की जड़ का भाग ब्रह्म, कमलनाल (तना) माया, और पुष्प सम्पूर्ण विश्व है, फल निर्वाण का प्रतीक है। अशोक का शिलादण्ड–कमलनाल माया अथवा सांसारिक जीवन का द्योतक है। घण्टाकार शिरा संसार है, आशारूपी पुष्पदलों से वेष्टित है और कमल का फल मोक्ष। उर्वरता, समृद्धि और ऐश्वर्य तथा वित्त की सेतु मातृदेवी लक्ष्मी को पद्मजा, पद्माक्षी, पद्महस्ता, पद्मसम्भवा, पद्मेस्थिता, पद्मवर्णा, पद्मउरू एवं पद्मलिनी कहा गया है। वृक्ष जीवन का प्रतीक है तथा शाखाएँ जीवन की समस्याएँ हैं। इसी तरह कमल पूर्ण कुम्भ, यक्ष–यक्षी, नाग, सिंह, हस्ति, वृषभ, हंस और गरुड़ आदि प्रतीक जो अवशेषों में प्राप्त तथा साहित्यों में उल्लिखित हैं उन सबका अपना कुछ–न–कुछ गूढ़ (महत्त्वपूर्ण) अर्थ है।

विष्णुधर्मोत्तर काल (गुप्तकाल) में सत्य (वास्तविक) और काल्पनिक दो प्रकार के चित्रों का वर्णन है। सत्य–चित्र में बिम्ब का तद्वत् प्रतिबिम्ब हो तथा काल्पनिक में देव, मनुष्य, नाग, यक्ष, किन्नर आदि का प्रमाण, अंग–प्रत्यंग, वेश–भूषा आदि के प्रकार प्रतिबिम्बित हों। चित्र में सादृश्य की प्रधानता के कारण ही विष्णुधर्मोत्तर में आया है – ऋषियों के चित्र जूड़े में बँधी हुई जटाओं, काले मृगचर्मों तथा उत्तरीय वस्त्रों से सुशोभित हो; देवता तथा गंधर्वो को शिखर मुकुट के साथ अंकित किया जाये; ब्राह्मण श्वेत वस्त्रधारी मुकुटविहीन और उष्णीषयुक्त हों; दैत्य–दानवों के गोल मुख हो; विद्याधर सपत्नीक हों तथा माला, अलंकार और खड्ग धारण किये हों; किन्नरों का मुख अश्व की तरह तथा शरीर समस्त आभूषणों से सुशोभित मानव सदृश हो; राक्षसों के केश बड़े हों; फणों से सुशोभित नागों की आकृति देवताओं जैसी हो, योद्धा उद्धत वेश में त्योरी चढ़ाये हुए हो, 'गजारोह' श्यामवर्ण घुँघराले केश तथा आभूषण विभूषित हों; चारणों का वेश उभरा हुआ, दृष्टि ऊपर की ओर तथा स्पष्ट कण्ठ की शिरावाला हो; बनियों के सिर पर पगड़ी तथा गायक, नर्तक और वादक भड़कीले वेश में चित्रित हों; नगर तथा जनपद के लोग शुभ्र वस्त्र में हों आदि। नदी–देवताओं को शरीरधारी रूप में अंकित कर हाथ में पूर्णकुम्भ लिये हुए, वाहनों पर (गंगा को मकर पर) अंकित किया जाना चाहिए। पर्वतों के शिरोभाग में शिखर अंकित हो; पृथ्वी की हथेली पर द्वीप, समुद्र के अंकन में प्रभामंडल की जगह जलतरंग, रत्नघट तथा हाथ में शिखर हो। उनके ज्योतिमंडल के स्थान पर पानी (–कांति एवं जल। यह संकेत सादृश्य है) अंकित करना चाहिए। प्राकृतिक छटा तथा ऋतु सम्बन्धी अंकन में – वन को नाना भाँति के वृक्षों, पक्षियों तथा हिंसक जंतुओं से युक्त चित्रित किया जाये। जल चित्रण में मछलियाँ कछुए तथा पद्मग्रह अंकित हो। नगरचित्र में देवालय, बाजार, महल, गृह तथा सुंदर राजमार्ग अंकित हो। गाँवों को बागों से युक्त, रणभूमि को चतुरंगिणी सेना तथा प्रहार करते हुए मनुष्यों से युक्त और मृत शरीरों को रक्तरंजित दिखाया जाय। श्मशान को शवों तथा चिता से युक्त दिखाया जाये। रात्रि चित्रण में ग्रह–नक्षत्र, समीप आये हुए चोर एवं सोये मनुष्य अंकित हों; प्रातःकाल में अरुणोदय तथा म्लानदीपक चित्रित हों; ज्योत्स्ना में कुमुद तथा नील कुमुदिनियाँ अंकित हों; वसंत ऋतु के चित्रण में तत्कालीन फूलनेवाले वृक्षों को कोकिलाओं एवं भ्रमरों से उत्कट और प्रसन्नचित्त नर–नारियों के रूप अंकित किये जायँ। ग्रीष्मऋतु में वृक्ष छाँह में रुके मनुष्य, कीचड़ में सनी

भैंसे, वृक्ष में छिपे पक्षी और गुफा में छिपे सिंह अंकित किये गये हों, वर्षा ऋतु में जलाच्छादित मेघ, इंद्रधनुष, चमकती बिजलियाँ अंकित किये जायँ; शरद् ऋतु में फल लगे हुए वृक्ष, पके अनाजों वाली भूमि, हंस से भरे जल तथा कमल से भरे ताल हों; हेमंत ऋतु के चित्रण में वाष्प जलवाले स्थान, धान कटी धरती और ओस से भरी दिशाएँ हों; शिशिर के चित्रण में उल्लसित कौए और हाथी, ठंड से पीड़ित जनसमुदाय तथा तुषारावृत्त दिशाएँ हों।[1]

भारतीय कला में शरीर के अंगों को तदंगों के अनुसार प्राकृतिक उपमानों द्वारा सादृश्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे –

कान – गिद्ध के पंख के समान या सीप। नाक – तिल पुष्प, तोते की चोंच जैसी। नेत्र – कमलपत्र, कमलकली, मृगनेत्र, खंजनपक्षी, परवल की फाँक अथवा मछली के समान। नथुने – सेम के बीज के समान। होंठ – बिम्बफल, कमल अथवा सेम का फूल। ठोड़ी – आम की गुठली। भौंहें – सुन्दरियों की धनुषाकार तथा राक्षसों की नीम की पत्ती की भाँति। कण्ठ – शंख। कन्धे – हाथी का सिर। भुजाएँ – हाथी की सूँड़। हाथों की उँगलियाँ – सेम की फली या चंपककली। धड़ – डमरू (नारी का)। कमर – सिंह की कमर। चेहरा – गाय का चेहरा तथा सात्त्विक भाव दिखलाने के लिए मुर्गी के अंडे के समान चेहरा और देवियों का पान की पत्ती के आकार का भी चेहरा बनाते हैं। उरोज – कलश के समान। पुरुष की कमर सिंह जैसी, स्त्री की कमर – डमरू जैसी। जंघा – कदली काण्ड (केले के वृक्ष के तने के समान तथा हाथी की सूँड़ के समान)। हाथ-पैर – कमल-दल अथवा कमल के नवीन पत्ते के समान। पैर की पिण्डलियाँ – मछली जैसी। वक्ष – कपाट-वक्ष (कपाट के समान चौड़ा वक्षस्थल पुरुषों का)।

संस्कृत साहित्य में अंग–प्रत्यंगों के उपमानों का उदाहरण बहुतायत में मिलता है। कालिदास ने कुमारसम्भव में कमल और हरिण के समान नेत्र[2] के उदाहरण दिये हैं। कालिदास ने रघुवंश में सादृश्य के लिए चित्रों में सजीवता[3] आवश्यक है, ऐसा वर्णन किया है। 'ऋतुसंहार' तथा 'कादम्बरी' में ऋतुओं का अति सुन्दर वर्णन है। पहाड़ी शैली में बारहमासा चित्रण भी किया गया है।

चित्रकला में सादृश्य को सौन्दर्यबोध के अर्थ में लिया गया है। कुमारस्वामी ने सादृश्य को The transformation of nature in art (पृष्ठ १३) के अर्थ में कहा है कि जिसमें भावना (कल्पना) और अनुभूति के ज्ञान का सादृश्य हो उसे सादृश्य कहते हैं।

'सारूप्य' सादृश्य शब्द का समानार्थक है। सारूप्य (Co-aspectuality) का अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण है। सादृश्य, सारूप्य, तदाकारता, अनुकृति, अनुरूप आदि शब्द दो वस्तुओं के बीच सादृश्य (समानता) दिखाने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

मृच्छकटिकम् (४/१) में – **'वसन्तसेना - चेटि मदनिके ! अपि सुसदृशीयं चि[illegible]'**। सृसदृशी शब्द सादृश्य अर्थ में आया है। नागानन्द में सौसादृश्य[4] शब्द सदृश

---

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३/४२/१-८०)।

२. 'य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनेरत्वाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते - ५/३५।

३. चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः।
नखाङ्.कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति।।१६/१६।।

४. सौसादृश्यम्-सर्वथा तुल्यरूपता-येन न ज्ञायते किं तावत् शिलातले तव प्रतिबिम्बं छाया सङ्.क्रान्तं पतिता, उत अथवा त्वं आलिखिता चित्रिता। किमयं तव मणिशिला तले प्रतिबिम्ब; अथवा चित्रभिदमिति निपुणं न ज्ञायते। अत्र चित्रस्य बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनेन अतीव प्रकर्ष ताद्योत्यते - (नागानन्द)।

अर्थ में आया है। 'प्रियदर्शिका' में कञ्चुकी वासवदत्ता से कहती है – **सुसदृशी खल्वियं मम राजपुत्र्याः प्रियदर्शनायाः।** अर्थात् यह हमारी राजकुमारी प्रियदर्शना की तरह है। महाभारत तथा भागवत में उषा–अनिरुद्ध आख्यान में चित्रपट (शबीह चित्र) दिखलाने का वर्णन है। प्राकृत ग्रन्थ 'तरंगवती' में एक इसी तरह का प्रसंग है कि – तरंगवती का नायक कहीं चला गया है, अतः वह अपने घर में चित्रों का प्रदर्शन करती है कि शायद उसके द्वारा उसका पता चल जाय। विल्हण कृत 'कर्णसुन्दरी' में नायक का अनुराग नायिका के सादृश्यचित्र से ही उत्पन्न होता है। कथासरित्सागर में शबीहों के चित्राधार (अलबम) का वर्णन है। भवभूति के उत्तमरामचरित में भित्ति पर पूरी रामायण कथा के चित्रित होने का प्रसंग है जो इतना जीवंत और सत्य प्रतीत हो रहा था कि राम को सीता को सावधान करने के लिए कहना पड़ा – **'अयि, चित्रमेतत्'।**

पंचदशी के 'द्वैतविवेक' में वर्णित है कि जब पिघले हुए ताँबे को साँचे में ढाल दिया जाता है तो वह साँच के आकार का हो जाता है, वैसे ही रूपादि विषयों को व्याप्त करनेवाला चित्त भी अवश्य ही, उन रूपादि के समान मनोमय दीखने लगता है।[१] यहाँ मनोभाव के सादृश्य को व्यक्त किया गया है। प्रकृति के अन्तर्बाह्य रूप का निरीक्षण करके ही कवि और चित्रकार उसके मर्म को अपनी कुशलता से स्पष्ट करते हैं। बिना सादृश्य के किसी भी नवीन कृति की उत्पत्ति की कल्पना असम्भव है।

भाव–ज्ञान के लिए उपमा ही प्रयुक्त की जाती है – उत्तम लोगों के लिए उत्तम उपमा तथा अधम लोगों के लिए अधम उपमा। उदाहरणार्थ – 'अतिगजगामिनी'। कुमारसम्भव के मदन–दहन नामक तृतीय सर्ग में पार्वती की उपमा पुष्प के गुच्छों से लदी हुई नम्र (अर्थात् कुछ झुकी हुई) चलती–फिरती लता से दी गयी है।[२] यहाँ भाव सादृश्य को उत्तम सादृश्य के अन्तर्गत रखा गया है। **'निम्नतर भ्रांतिमत् सदृशकरण'** का उदाहरण महाभारत में प्राप्त है। इन्द्रप्रस्थ में स्फटिक की भित्ति एवं स्फटिकमंडित भूमि ने दुर्योधन को भ्रान्ति में डाल दिया। वह स्थान–स्थान पर जड़े हुए स्फटिक निर्मित भित्ति को द्वार समझकर प्रवेश करने चला, तभी भित्ति से सिर टकरा जाने से क्रुद्ध होकर बैठ गया।

नैयायिक शुक्ति में रजत की भ्रांति करते हैं। दोनों में साम्य है, शुक्ति में रजत का गुण (चमक) है। संदेह, तुल्ययोगिता, सादृश्य इत्यादि में उपमा ही प्रधान है। उपमा एकदेशीय होती है। सादृश्य भी सीमित क्षेत्र में रहता है, उदाहरणार्थ – 'कमलनयन' में नेत्र कमल पुष्प के समान हैं, कमलगट्टे के समान नहीं। इस तरह सादृश्य कहीं पर बाह्य आकार से साम्य रखता है और कहीं प्रफुल्लता (गुण) के अर्थ में। उपमा, गुण और शबीह तीनों ही अर्थ सादृश्य के लिए हैं।

साहित्यदर्पण में स्मृति के प्रमुख उद्‌बोधक सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता हैं। **सादृश्यादिष्ट चिन्ताद्याः स्मृति-बीजस्य बोधकाः।**[३] इनमें स्मृति के (बीज रूप में छिपे) प्रथम उद्‌बोधक सादृश्य से कल्पना का घनिष्ठ संबंध है। उदाहरणार्थ – मेघों के झीने चीनांशुक में छिपे चाँद को देखकर अवगुंठन की हुई अपनी प्रियतमा का स्मरण।

काव्य चित्र का सादृश्य चित्रकारों के लिए कहाँ तक साध्यातीत है – **'श्यामास्वंगं चकित हरिणी.....क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।'**[४] 'कोमल लताओं में तुम्हारे अंग, चकित हरिणी के

---

१. मुषासिक्तं यथा ताम्रंतन्निभं जायते तथा। रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्।। २८।।

२. किंवा पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ।।३/५४।।

३. सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत। स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते।। साहित्यदर्पण, ३/१६२।

४. मेघदूत २/४६। कालिदास।

लोचनों में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में मुख की कान्ति, मोरपंखों में केश, नदी–तरंग समूह में भ्रूविलास देख पाते हैं किन्तु हे कोपने ! किसी एक वस्तु में तुम्हारा सादृश्य नहीं पाते।' चित्र में सादृश्य सौंदर्यबोध के अर्थ में है। इस विच्छिन्न सौंदर्य की परिकल्पना में कवि ने कमाल कर दिया।

सादृश्य में तीन प्रकार की श्रेणियाँ हैं – (१) घटनामूलक सादृश्य (२) कल्पनामूलक सादृश्य और (३) भावनामूलक सादृश्य। घटनामूलक सादृश्य में पोट्रेट पेंटिंग (सत्य प्रतिरूप) आती है। कल्पनामूलक में कल्पना द्वारा सुंदर रूप की प्रस्तुति की जाती है जिससे अद्भुत सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कल्पनामूलक का अत्युत्तम उदाहरण मेघदूत (कालिदास) में वर्णित है – **'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती'।** अर्थात् विरह में क्षीण हुई शरीरवाली मेरी पत्नी मेरे ही भाव को तरह–तरह से विचार कर उसको रूप देकर लिखती होगी। भावनामूलक सादृश्य में अंतर्निहित गुप्त भाव, रूप और कल्पना द्वारा चित्र में अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसमें भाव और रस प्रधान है।

सादृश्य कल्पना में दूरवर्ती अप्रस्तुतों का बिम्बानुबिम्ब विधान करने में कवियों को ऋग्वैदिक काल में ही विशेष ज्ञान था। ऋग्वेद के दशम मण्डल में आया है कि – पुरूरवा जब तक लालसा–परवश रहा, तब तक तो वह अपनी प्रियतमा को शरीरिणी देखता रहा, पर विरह के अनुताप में जब उसकी सारी वासनाएँ जलकर क्षार हो गयीं तब वह उर्वशी को यत्र–तत्र देखने लगा। वन में खिले हुए फूलों को देखकर उसे भान हुआ कि फूल का किनारा लाल और बीच काला था, मानो वे प्रियतमा के क्रोधित लाल नेत्र हों।[1] मयूर के हवा में उड़ते हुए मनोरम पंखों को देख पुरूरवा को मालूम हुआ कि, यह उस सुकेशिनी के कुसुमशोभित केशपाश हैं – **'सुकेश्याः कुसुम सनाथः केशपाशः।'** यहाँ कवि ने सादृश्य कल्पना में वर्ण्य–अवर्ण्य तथा प्रस्तुत–अप्रस्तुत की उभयनिष्ठ विशेषताओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

सादृश्य कल्पना में सौंदर्यबोध के साथ सम्मूर्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण शामिल है।

६. वर्णिका भंग - वर्णिका भंग के मूल में दो शब्द हैं – (१) वर्णिका–चित्र में व्यवहृत विशिष्ट वर्णों, रंगों का सम्मिश्रण (२) भंग – अन्तर करना, विभक्त करना। चित्र के विभिन्न भागों में रंगों का सम्यक् योजन और विभाजन उचित मात्रा में हो।

'वर्णिका भंग' चित्र के पाँच अंगों में से सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य पाँचों अंगों का एक भी रेखा खींचे बगैर साधना की जा सकती है, किन्तु तूलिका का सहारा वर्णिका भंग में लेना अनिवार्य है, क्योंकि किसी भी माध्यम (पट, कागज) पर भावों को वर्णिका (वर्तिका) द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है वरना वह कागज कोरा ही रह जायगा। चित्रकार को कागज में रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग सभी प्रतिबिम्बित दिखायी देता है। उनको केवल वर्तिका के कुशल उपयोग द्वारा व्यक्त करना शेष रहता है। इस अभिव्यक्ति में ही चित्रकार की सारी कुशलता निहित है। मानसोल्लास में पाँच प्रकार के चित्र बताये गये हैं। 'विद्ध' (लोकसादृश्ययुक्त) चित्र रूप भेद प्रधान है, 'अविद्ध' (केवल सादृश्यभास प्रधान) सादृश्य प्रधान है, तो 'रस' (रंगों के घोल से बना) चित्र एवं 'धूली' (चटकीले रंगों से बना) चित्र वर्णिका भंग प्रधान है। 'वर्णकर्म' (रंगना) और वर्तना (प्रकाश–छाया का अंजन) को वर्णिका (तूलिका) के द्वारा प्रस्तुत करने में चित्र इस अवस्था में अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।'[2] भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में 'आहार्याभिनय' के प्रसंग में वर्ण (रंग) संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण बाते बतलायी गयी हैं।

---

१. आरक्तकोटिभिर इयं कुसुमैर नवकन्दली मलिनगर्भैः। कोपाद् अन्तर्वाष्पे स्मरयति मां लोचने तस्याः।।

२. समरांगणसूत्रधार।

'विष्णुधर्मोत्तर' में पाँच प्रकार के वर्ण[1] मुख्य माने गये हैं। श्वेत, पीत, पीताभ श्वेत, कृष्ण और नील। यह विभाजन अकार्बनिक रंगों के अनुसार है। उस समय शंख से सफेद रंग, गंधक से पीला, आलकृत रस या राँगे से लाल रंग, काजल से काला रंग, हरिताल से हरा भूरा, नील से नीला रंग बनाया जाता था। इन्हें आपस में मिलाकर कई मिश्र रंग तैयार करने का विधान भी बतलाया गया है। 'शिल्परत्न' में सिंदूर (हल्का लाल), गैरिक (गिरि–उत्पन्न); ईंगुर, लाक्षा (गहरा लाल), गौर (गुलाबी श्वेत) आदि रंग इसके प्रभेद हैं। बाणभट्ट ने भी पाँच प्रकार के प्रमुख रंग माने हैं। पीत, नील, लोहित, धवल और हरित (या कृष्ण)।[2] भरत मुनि ने अध्याय २१ में चार ही प्रकार का मुख्य या स्वभावज वर्ण माना है – सित, नील, पीत और रक्त। सफेद, नीला, पीला और लाल – ये चार स्वभावज वर्ण हैं। कालिदास ने भी चार प्रकार के शुद्ध वर्णों को माना है – **पीतासिता-रक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम्** (कुमारसम्भव १४/३१)। ये रंग मिट्टी और रंगीन पत्थर को कूटकर बनाये जाते थे। इन चारों रंगों के मिश्रण से सैकड़ों प्रकार के उपवर्णों की सृष्टि होती है।

मेदिनीकोश में चित्रकार का पर्याय 'वर्णाट' शब्द भी है – अर्थात् जो विविध रंगों की मेल–मिलावट का जानकार हो। नानार्थार्णव संक्षेप कोश में 'रंगाजीव' शब्द भी इसी अर्थ में आया है (३/५२०)। शुक्रनीति (४/४०७) में कहा गया है – **पृथक्-पृथक् क्रियाभिर्हि कलाभेदस्तु जायते।** क्रिया के भेद से नाना रूप की कलाएँ होती हैं। चित्रकार को भी तूलिका चलाने की कला और रंग आदि के प्रयोग करने का कलापूर्ण ढंग जानना आवश्यक है। अग्निपुराण में चित्र का स्वरूप बताते हुए कहा गया है।[3] 'वर्णों के द्वारा चित्रकार जो वर्णशिल्प का एक विशेष रूप से विन्यास करते हैं, उसी में भिन्न आकार–प्रकार की वस्तुओं की रूपरेखा देखी जा सकती है वह एक चित्र है वही एक बन्ध है।' अर्थात् रचना–विशेष में रखे हुए वर्ण, पद्म, खड्ग, मुसल आदि अनेक आकृतियों का निर्माण करते प्रतीत होते हैं। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है कि शिव जी ने पार्वती जी को वर्णमाला के परिचय में रूप के साथ रंग का भी परिचय कराया था। महादेव जी पार्वती जी से कहते हैं :– **वर्णज्ञानं यदा नास्ति किं तस्य जपपूजनैः।** अगर वर्णज्ञान नहीं पैदा हुआ, तथा वर्णिकाभंग–उस पतली–सी तीली (तूलिका) की खींच–तान पर अधिकार नहीं जमा लेता तो षडंग के पूर्वोक्त पाँच भेद की साधनाएँ ही व्यर्थ हो जायेंगी। वर्ण का तत्त्व और रूप दोनों को जानने के लिए तन्त्रशास्त्र में समस्त अक्षर और रेखाओं की अलग–अलग आत्मा और अलग–अलग विशेष वर्ण–वर्णित हैं। ब्रह्मा–विष्णु–आत्मक और शंखज्योतिर्मय–परमाश्चर्य जो 'आ' अक्षर है वह स्वयं रुद्र है। गायत्री तन्त्र और गायत्री के एक–एक अक्षर को आत्मावान् कहा गया है।

गायत्र्या प्रथमं वर्णं पीतचम्पकसन्निभं।
अग्निना पूजितं वर्णं आग्नेयं परिकीर्तितम्।।

गायत्री का प्रथम वर्ण चम्पा की तरह पीला है, वह अग्नि से अर्चित (होता है), इसलिए आग्नेय है। स्याही से रेखा को खींच रहा हूँ लेकिन मन में सोच रहा हूँ कि इस तूलिका के अक्षरों में कोई श्याम, कोई कपिल, कोई इन्द्रनीलाभ हैं। केवल यही नहीं, कोई अक्षर अग्नि की तरह दुर्धर्ष है, कोई नील आकाश की तरह स्निग्ध है आदि।

---

१. मूलरङ्.गाः स्मृताः पञ्च श्वेतः पीतो विलोमतः। कृष्णो नीलश्च राजेन्द्र शतशोऽन्तरतः स्मृताः ।।४०/१६।

२. प्रियङ्.गुवनायमानं रोचनातिरक भक्तिभिः; नीलायमानं कृष्णागुरुपत्रभङ्.गैः, लोहितायमानं कर्णपूराशोकपल्लवैः, धवलायमानं चन्दनरसविलेपनैः, हरितायमानं श्रीशकुसुमाभरणैः, - कादम्बरी अनु० १६०।

३. अनेकधा वृत्त वर्ण विन्यासैः शिल्प कल्पना। तत्प्रसिद्ध वस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते।। अग्निपुराण ३४६ अध्याय।

कुमार स्वामी 'वर्ण' का अर्थ करते हैं – Colour, sound, scale, pallette; और वर्णिका भंग distriburion of colour, राय कृष्णदास ने वर्णिका भंग का अर्थ रंगों का हिसाब किया है। किसी चित्र में रंग बँटकर (एक–दूसरे से भिन्न) मिलते–जुलते रंग लगते हैं। कहीं पर चुहचुहाते रंग तो कहीं पर बुते हुए। किन्तु किसी अवस्था में विरोधी व बेजोड़ रंगों का प्रयोग न होने पाये कि उसकी वर्णमैत्री असंतुलित हो उठे। कलाकार को ऐसे दोष से बचना चाहिए तथा चित्र के विषयानुकूल रंगों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए।

वर्णिका भंग (रंग) के लिए यह जानना परमावश्यक है कि रंग कैसे लगाते हैं, रंग कहाँ–कहाँ लगाते हैं और उन रंगों का क्या अर्थ एवं प्रभाव होता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से रंग की प्रकृति का भी पता चलता है। अक्षर और स्वर के भेद की ही तरह चित्रकला के रंगों में अर्थ है।[1] चित्रकला में लाल, नारंगी, पीला गर्म रंग माने जाते हैं और नीला, हरा तथा बैगनी ठंडे। पहिले तीन रंगों का प्रभाव गर्म होता है और बाद के रंगों का ठंडा। यदि किसी चित्र में पहिले तीन रंगों में से किसी की भी प्रधानता होगी तो वह चित्र गर्म असर डालेगा। बादवाले तीन रंगों की प्रधानता होगी तो ठंडा प्रभाव पड़ेगा।

मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली भावना या संवेग से भी गर्म तथा ठंडी प्रकृति के रंग हुआ करते हैं जैसे हिंसा, क्रोध तथा प्रेम गर्म प्रकृति के हैं और दया, करुणा तथा घृणा ठंडे। चित्रकार अक्सर अपने चित्रों में रंगों का प्रयोग इन्हीं आधारों पर करते हैं। कला का रसास्वादन करने के लिए रंगों का प्रभाव जानना आवश्यक है।

पीला – तीव्र बुद्धि तथा विवेक का। नीला – मुक्ति का। बैगनी – आत्म विवेक या धर्मज्ञता का, गुलाबी – प्रेम या उदारता का। हरा – करुणा या सहानुभूति का। नारंगी – अभिमान का। ककरेजी – स्वार्थ का। किरमिची – लालच का। लाल – क्रोध का। लाखी – विषय–वासना का । तूसी या खाकी – भय या उदासी का और काला धूमिल रंग – क्रूरता तथा द्वेष का द्योतक है।

उपर्युक्त रंगों के मेल या धुँधले चटकीले होने से मिश्रित प्रभाव उत्पन्न होते हैं। हरा और ककरेजी मिलाने से छल या कपट का प्रभाव होता है। भावनाओं, उद्वेगों तथा रस की उत्पत्ति कराने में रंगों का प्रधान स्थान है। मूल भाव के अनुरूप ही रंग का प्रयोग करने से चित्र सफल होता है।[2]

रंगों के भाँति–भाँति के मिश्रण के लिए बाणभट्ट ने 'वर्ण–संकर'[3] शब्द का प्रयोग किया है। विष्णुधर्मोत्तर में मिलाकर रंग बनाने की विधि[4] का सविस्तार वर्णन है। यहाँ पर नीला–पीला के सम्मिश्रण से तैयार किये गये हरे रंग को उत्तम माना है। वह चाहे शुद्ध हो या श्वेत मिश्रित। नाट्यशास्त्र में उपवर्णों के लिए कहा गया है कि – सफेद और पीले से पाण्डु वर्ण, लाल और सफेद से पद्मवर्ण, नीला और सफेद से कपोतवर्ण, पीले–नीले से हरा, लाल और नीले से काषाय, पीले और लाल से गौर आदि रंग तैयार किये जाते हैं।[5] शिल्परत्न में भी आया है – सफेद और लाल रंग के मिश्रण से गौरवर्ण, सफेद, काला और पीला रंग बराबर मात्रा में मिलाने से भूरा रंग, सफेद और काले रंग के समान मिश्रण से गजवर्ण लाल और पीला समान मात्रा में मिलाने से बकुल फल रंग (मौलश्री वर्ण), पीला रंग एक भाग और लाल रंग दो भाग मिलाने से पिंगल वर्ण; एक भाग काला, दो भाग पीला मिलने से अम्बु रंग, काले और पीले के समान मिश्रण से मनुष्य–शरीर वर्ण, हरताल और नीले रंग के मिश्रण से सुआपंखी रंग, लाख का रस

---

१. चित्रकला का रसास्वादन - रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८४-८५। २. चित्रकला का रसास्वादन - रामचन्द्र शुक्ल, पृ०८४-८५।
३. चित्रकर्मसु वर्णसंकराः - कादम्बरी, अनुच्छेद २। ४. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ४०/१७-२४।।
५. नाट्यशास्त्र, २१/६० से ६५।

हिंगुल में मिलाने से गहरा लाल, लाख के रस में काला रंग मिलाने से जामुनी रंग, लाख के रस में सफेद रंग मिलाने से जातिलिंग रंग, हिंगुल और लाख को समान भाग में मिलाने से केश रंग तैयार होता है।

वेदों के लिए चार वर्ण नियुक्त किये गये हैं। ऋग्वेद को रक्तवर्ण, यजुर्वेद को शुक्ल वर्ण, अथर्ववेद को कृष्णवर्ण तथा सामवेद श्यामवर्ण में वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में भी इसका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया है। नाट्यशास्त्र[१] और विष्णुधर्मोत्तर[२] में विभिन्न जातियों और देशवासियों के अनुसार रंग का निर्धारण किया गया है। राजाओं के लिए पद्म और श्याम वर्ण, ऋषियों के लिए बदरी (बेर) का–सा काषाय वर्ण, सुखीजन गौर, किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, काशी और कोशल, पुलिंद एवं दक्षिण वासियों का असित (कृष्ण), शक, यवन, पल्लव, वाह्लीक और उत्तरवासी गौर, पांचाल, शौरसेन, मगध, उद्र, अंग, बंग और कलिंगवासी श्याम, ब्राह्मण, क्षत्रियरक्त, देवता, यक्ष और अप्सरा गौर, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, ब्रह्मा और कार्तिकेय स्वर्ण–वर्ण, इन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, तारागण, समुद्र, हिमालय और गंगा आदि श्वेत और रक्त वर्णों में प्रस्तुत होते हैं। बुद्ध के लिए स्वर्णाभ और अग्नि के लिए पीत वर्ण है। नर–नारायण, वासुकि श्याम वर्ण के; दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, पिशाच, जल और आकाश आदि श्याम वर्ण (गहरे नीले वर्ण) के होते हैं। यक्ष, गंधर्व, भूत, पिन्नाग (नाग), विद्याधर, पितर तथा वानर विभिन्न रंगों में अंकित होने चाहिए। रोगी, कुकर्मी, ग्रह–गृहीत, तपस्यारत और क्लेशाविष्टों का वर्ण कृष्ण (असित) होता है। पात्रों की विभिन्न अवस्था के अनुसार (सुख–दुःखात्मक भूमिका के लिए) वर्ण और उपवर्ण का प्रयोग होता है। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इन रंगों के महत्त्व का समर्थन किया है।[३]

विभिन्न रसों के लिए विभिन्न रंगों का भी नाट्यशास्त्र में निर्धारण किया गया है।[४] शृंगार रस के लिए श्याम रंग, हास्य रस के लिए श्वेत, करुण के लिए कपोत, रौद्र के लिए रक्त, वीररस के लिए गौर रंग, भयानक रस के लिए कृष्ण रंग, वीभत्स के लिए नील, अद्भुत रस के लिए पीत रंग वर्णित है।

भगवान् भार्गव की वीरता और सौम्यता का द्योतक गौर, उज्ज्वल, निर्मल वर्ण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय वर्णात्मक रक्त वर्ण के 'प्रसन्नराघव'[५] में वर्णित हैं। नाट्य पात्रों की अंगरचना को उनकी प्रकृति के अनुसार ही रंगों की विधि (कौन–सा रंग किस अर्थ का द्योतक है) को जानकर प्रस्तुत करना चाहिए।[६] पात्र की विविध प्रकृति (धीरोदात्त, उत्तम, मध्यम आदि तथा रति–शोकादि विभिन्न अवस्था) के अनुसार वर्ण और वेशरचना होने पर तद्गत रसों की अनुभूति होती है।[७] जैसे–मलिन वेश में शोक तथा शृंगार में उज्ज्वल वेश।

नाट्य की भाँति संगीत में भी स्वरों के वर्ण नियत किये गये हैं। कमलवर्ण (सा), पिंजरवर्ण (रे), सुवर्ण वर्ण (गा), कुंदप्रभा वर्ण (मा), सितवर्ण (प), पीतवर्ण (ध) और कर्बुर वर्ण (नी)।[८]

रंग और रूप का समवाय संबंध है। जहाँ रूप होगा वहाँ रंग अवश्य होगा। उदाहरणार्थ – एक रंगा रूप, पंचरंगा रूप, बदरंग रूप आदि। जल, स्थल और आकाश पर ऋतु परिवर्तन के अनुसार तथा धूप–छाया से रंग परिवर्तित होते देखे जाते हैं। जैसे – धूप में पत्तों का रंग हल्का तथा रात्रि के अँधेरे में गाढ़ा काला हो जाता है।

---

१. नाट्यशास्त्र, २१/६२-११४
२. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३/२७/१६-२६।
३. ए० एन० टैगोर, गोल्डेन जुबिली वाल्यूम, पृ० २२।
४. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अध्याय ६/४२-४३।
५. जयदेव, प्रसन्नराघव, ४/१५।
६. वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेव च कुर्यादंगस्य रचनाम् - नाट्यशास्त्र
७. नाट्यशास्त्र, २१/२।
८. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ४००।

बाणभट्ट ने संध्या काल[1] तथा प्रातःकाल[2] के वर्णन में उपमाओं द्वारा वर्णन करने में कमाल दिखाया है। धर्मदास ने बाणभट्ट की प्रशंसा में कहा है – **'रुचिरस्वरवर्णप्रदा'** स्वर, वर्ण (रंग) पद सुन्दर है।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने 'वागेश्वरी शिल्प प्रबंधावली' में रंग के चार प्रकार बताये हैं – (१) अमिश्र (२) मिश्र (३) चिक्कण और (४) रुक्ष। पंचतन्त्र में विष्णुशर्मा ने 'चित्रवर्ण' का बगुला पक्षी बनाकर अपने चार मूर्ख शिष्यों को राजनीति का उपदेश समझाया था। किसी को मेघवर्ण का तो किसी को शुभ्र वर्ण तथा कुछ को अन्य चित्रवर्णों को उनके समक्ष रखकर शिक्षा दी थी। रंगों द्वारा ज्ञान देना सरल समझकर ही बालकों को अक्षर मालाओं के ज्ञान में रंगीन पुस्तकें उपलब्ध करायी जाती हैं।

इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि चित्र में 'लावण्य' का कारक वर्णिकाभंग ही है तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि लावण्य रूप, प्रमाण और सादृश्य से प्रकट होकर झिलमिलाता है। उदाहरणार्थ – चित्र में पाँच प्रकार के नेत्र होते हैं। चापाकार, मत्स्योदर समान (४ यव के), नीलकमल (उत्पल) पत्र समान (६ यव), पद्म (लाल या श्वेत) पत्र जैसे (६ यव) तथा शशाकार या शाराकृत (१० यव)। इन नेत्रों के अलग–अलग रंग तथा सादृश्य भी होते हैं। योद्धा तथा नारी के नेत्र बहुधा धनुषाकार, प्रेमिकाओं और कामोन्मत्त पुरुषों के मत्स्योदराकार, सात्त्विक पुरुषों के उत्पल पत्राकार, डरे हुए तथा रोते हुए व्यक्तियों के पद्म पत्राकार और व्यथित एवं कुपित व्यक्तियों के शाराकृति वाले होते हैं। मत्स्योदराकार में संभोग श्रृंगार, उत्पल पत्राकार में शांत, पद्म–पत्राकार में भयानक और वीभत्स और शाराकार में करुण तथा रौद्र ध्वनित होते नेत्र भावदीप्ति भी करते हैं।

उज्ज्वनीलमणि में रूपगोस्वामी ने 'राग'[3] और 'रंग' को एक–एक करके वर्णित किया है। रंगों में अनुराग का लक्षण पंडितों ने व्यक्त किया है, जैसे – 'नीली राग' (प्रगाढ़ प्रेम) इसमें प्रेम का रंग नहीं बदलता। माता का स्नेह, पिता का स्नेह इसी राग के अन्तर्गत है। औषध–विशेष के लिए 'श्यामराग' कहा गया है। बाह्य प्रकट प्रेम को 'कुसुम्भ' राग कहा गया है। यह चित्त को शीघ्र आकर्षित करता है। 'मञ्जिष्ठा राग' (गहरा पक्का लाल रंग) सदैव स्थिर रहनेवाला प्रगाढ़ प्रेम को अभिव्यक्त करता है। यहाँ राग "tone" के अर्थ में है – (१) रंग, (२) आन्तरिक भाव। भावानुसार चेहरे की रंगत बदलती देखी जाती है।

उपर्युक्त छह अंगों में ही किसी भी कलाकृति की सफलता निर्भर है। माध्यमों की विभिन्नता होने पर भी समस्त कलाओं का मूल 'रसानुभव' है। यह रसानुभव – 'रूपभेद' आकार–प्रकार में अन्तर, प्रमाण, अर्थात् यथार्थता तथा अनुपात रेखा और संपूर्ण आकार की व्याख्या, योजना, सुसंगति, 'भाव', अर्थात् रूप के द्वारा व्यक्त किया हुआ हृद्गत भाव या सौंदर्यानुभूति, 'लावण्य' अर्थात् सौन्दर्य भावना की तुष्टि के लिए सौन्दर्य और आकर्षण की खोज; 'सादृश्य' अर्थात् रूप और उसके संकेत का सत्य, 'वर्णिकाभंग' अर्थात् रंगों का क्रम, संयोग और सामञ्जस्य में निहित है। रचना–पद्धति के सम्बन्ध में अरस्तू कहते हैं कि कवियों के व्यक्तित्व के अनुसार ही कवियों के गुणों में अन्तर आ जाता है। गम्भीर कवि की रचनाएँ भी गम्भीर होती हैं। चित्रकला के क्षेत्र में पॉलीग्नोटस अच्छा चरित्रांकन करता है किन्तु ज्यूक्सिस

---

१. अस्तं उपगते च भगवति सहस्र दीधिता परार्णव तटात् दुर्लसन्ति विद्रुमलतेव पाटला संध्या समदृश्यत। - (श्लोक १०५), कादम्बरी कथा।

२. एकदा तु प्रभात संध्याराग लोहिते गगनतलकमलिनी मधुरक्त पक्षसंपुटे मन्दाकिनी पुलिनाद् परजलनिधितलम् अवतरति चन्द्रमसि - कादम्बरी, श्लोक १०६।

३. रूपगोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ३६३-३७०।

में यह नैतिक गुण नहीं है।[1]

मानव एक जीवंत प्राणी है। वह कला में 'रूप' का अन्वेषण कर उसकी गहराई में पहुँचना चाहता है। रूपात्मक मूल्यों में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ कला है। भारत में काव्य, संगीत और वास्तु को परब्रह्म के निकट रखा गया है तथा मूर्ति और चित्र को वास्तु के अंशस्वरूप माना गया है। चित्र को समस्त कलाओं में प्राणभूत समझने के कारण ही यूनानी पौराणिक आख्यानों में भी चित्रकला और शिल्पकला को वाग्देवियों के अधिष्ठान से अलग रखा गया है।[2] क्लाइब बेल और रोजरफ्राय ने चित्रकला के अध्ययन में यह बताया है कि कलागत सौंदर्य का मूल कारण उसका अर्थवत् रूप (सिग्निफिकेण्ट फार्म) है। अर्थवत् रूप का आशय उस व्यवस्था के मेल से है जो हृदय को विचलित या द्रवित करता है।[3] रूप के अन्तराल से भाव का प्रस्फुटित होना ही कला का उत्कर्ष है।

नृत्य, चित्र, मूर्ति, काव्य, वास्तु आदि सभी कलाओं में नौ रसों, वर्णों और देवताओं को स्वीकार किया गया है। चित्र का स्थान काव्य से ऊँचा है क्योंकि चित्र द्वारा जो वस्तु प्रत्यक्ष की जा सकती है वह शब्द द्वारा पूर्णतः कभी व्यक्त नहीं हो सकता। शब्द भी चित्र द्वारा ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। कवि–प्रतिभा की परीक्षा जिस कसौटी से होती है चित्र–प्रतिभा की परीक्षा उसी तरह से की जानी चाहिए। कवि–प्रतिभा और चित्र–प्रतिभा दोनों का किसी एक व्यक्ति में पाया जानेवाला व्यक्ति बिरला ही होगा।[4]

चित्र और संगीत : - संगीत एक त्रिपुरी है। संगीत के रूप को सोमनाथ ने 'राग विबोध' नामक पुस्तक में कहा है कि – रूप उसे कहते हैं जो सुन्दर स्वर और वर्ण–विशेष द्वारा राग को सम्मुख उपस्थित कर देता है। यह रूप दो प्रकार का होता है, नादमय और देवमय। नादमय रूप तो अनेक हैं पर देवमय रूप एक ही होता है।[5] इस प्रकार राग के दो स्वरूप होते हैं – नादमय और भावमय या देवतामय। स्वर विधान राग का शरीर है, तो भाव अथवा प्रकृति उसकी आत्मा है। शास्त्रों में वर्णित राग के देवता पर चित्त इस प्रकार केन्द्रित करें कि राग के नादमय स्वरूप पर उसका स्वरूप उतर आवे। संगीत के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करने के लिए गायक, वादक तथा नर्तक को 'राग में किस स्वर के बाद कौन–सा स्वर लगाया जाय' इसका ध्यान रखना पड़ता है। संगीत में विभावानुभाव संचारी का क्रम इस प्रकार है – 'नाद' से श्रुति का उद्‌भव, 'श्रुति' से स्वर (टोन) का उद्‌भव, 'स्वर' से 'राग' का उद्‌भव और राग से गीत का उद्‌भव। 'नाद' से 'गीत' तक के इस क्रमिक भाव के कारण गीत की आत्मा 'नाद' को माना गया है।[6]

संगीत में ध्वनिरूपात्मक सादृश्य भी है, 'सा' मोर की ध्वनि के समान, 'रे' पपीहे की ध्वनि के, 'ग' भेड़ की ध्वनि के, 'प' कोकिला की ध्वनि के, 'ध' अश्व की ध्वनि के तथा 'नी' हाथी की ध्वनि के समान है। इन स्वरों का प्रतिष्ठान भी मानव शरीर में किया गया है। 'सा' का उद्‌गम स्थान नाभि, 'रे' का हृदय, 'ग' का कंठ, 'म' का तालु, 'प' का नासिका, 'ध' का दंत तथा 'नी' का ओष्ठ है। चित्र

---

१. बचर, राल्फ एण्ज थामस : एरिस्टाटिल थ्योरी ऑफ पोएट्री एण्ड फाइन आर्ट, पृ० १७।
२. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ३।
३. बेल, आर्ट, पृ० १६।
४. न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमिति कर्मवित्।
   यो वेत्ति द्वयमेतत् स हि चित्रकारो वरः।। समरांगण सूत्रधार
५. सुस्वरवर्णविशेषं रूपं रागस्य बोधक द्वेधा।
   नादात्म च देवमय तत्क्रमतककमेकं तु।
६. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ४००-४०१।

की भाँति संगीत में भी शासक चिह्न निर्धारित किये गये हैं।[1]

नायक–नायिकाओं की भाँति राग–रागिनियों के विभावादि के भाव संबंध मिलते हैं। इनके प्रहर उद्दीपन का कार्य करते हैं तथा स्वर भावों का संचार करते हैं। 'राग विबोध' में शृंगार रस का उत्तम उदाहरण कला के षडंगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ दूब की हरी आभा के समान जिसकी कांति है, अपने प्रियतम के चिर–वियोग में असह्य वेदना सह रही है। अतः अपने दुःखी और व्याकुल चित्त को किसी प्रकार शांत रखने के लिए वह एक पट पर अपने पतिदेव का चित्र एकाग्र होकर बना रही है और आँसुओं की धारा से अपने कुच को स्नान को रही है। मानो वियोग की अग्नि को शीतल कर रही हो। जिसका कपोल विरह से पीला पड़ गया है और वह 'स्थिर धम्मिला' काफी दिनों से अपना केश खोले हुए है, उसे बाँधा नहीं है, उसका पूरा शरीर पीला पड़ गया है। ऐसी 'श्री' राग की रागिनी 'धनाश्री' है।[2]

मानव शरीर के रूपक के कारण 'रागमाला' के चित्र बनाये गये। मध्ययुग के रागों के चित्र बनाये गये हैं। दीपक राग में दीपक के प्रज्ज्वलित होने का, मल्हार में बादलों का, विहाग में विरही नायिका का, हिण्डोल में झूले का, काफी गारा पीलू आदि में होली खेलने में तन्मय राधाकृष्ण का, जैवन्ती में प्रार्थी नायक, बहार में प्रेमोन्मत्त नायक–नायिकाओं का, तोड़ी में संगीत मुग्ध हिरण का, श्री, ललित आदि रागों में वीणापाणि सरस्वती का आदि अनेक रागों के चित्रण किये गये।

आलेख्य के छह अंगों का संगीत में अन्तर्भूत हो जाने के कारण संगीत को चित्र रूप में प्रस्तुत करना सरल हो गया, जो सर्वसामान्य के लिए बोधगम्य है। अतः चित्रकला संगीत कला से भी ऊपर है क्योंकि संगीत का अंश उसी स्थान में समाप्त हो जाता है लेकिन चित्र का अंश सदा–सर्वदा बना रहता है।

चित्र और वास्तु : - मानव ने प्रकृति तथा खूँखार जानवरों से बचने के लिए मकानों का आविष्कार किया। भाषा के आविष्कार के पहले मकान ही 'आदिम भाषा' थी। सभ्यता के विकास के साथ–साथ भवन–निर्माण की जटिलता और विविधता बढ़ी। भाषा के आविष्कार के पहले मकान ही प्रतीक था। वास्तुकला में आत्मतत्त्व के बहिर्भूत होने के कारण हीगेल ने इसको प्रतीकात्मक कला कहा है। वास्तु में गठन तथा डिजाइन प्रमुख है। भवन के अन्दर–बाहर सतहों पर जितने भी अलंकरण हैं वही उसका रूपभेद है। वेनिस्टर फ्लेचर ने हिस्ट्री आफ आर्कीटेक्चर में तीन पहलू माना है – (१) वैज्ञानिक तथा भूगर्भशास्त्रीय पहलू पदार्थ को निर्धारित करते हैं जैसे – कहीं मिट्टी, कहीं चट्टानें, कहीं लकड़ी की बहुलायत से मकान भी लकड़ी के ही हैं। (२) विज्ञान की नयी–नयी खोजें, जैसे – फौलाद फेरो–कांक्रीट, प्रिफैब प्लास्टिक आदि भी गठन और डिजाइन को 'तय' करती हैं। (३) जलवायु (भौगोलिक) – शुष्क जलवायु में चपटी छतें और कम–से–कम खिड़कियों वाले घर, बर्फीले या वर्षा वाले स्थानों पर ढालू छतें; धूपवाले देशों में क्षितिजांतर रेखाएँ, ऊँचे स्थानों पर उर्ध्वलंब रेखाएँ आदि रूप तथा शैलियों में फलती–फूलती हैं। वास्तु का प्रमाण इसके उपयोगिता पर पूर्णतया निर्भर है। वास्तुकृति की भव्यता से तन्मीयभवन की क्रिया उपपादित होती है। किसी भी खास तरह के भवन को देखकर हमें उसका बोध तथा सुविधाओं का ज्ञान होता है। उसकी दशा (सिचुएशन) से हमारा संवेगोद्दीपन होता है। आधुनिक कालोनियों, प्राचीन बस्तीवाले इलाके, अस्पताल, होटल आदि में अलग–अलग भाव अंकुरित होते हैं। स्थानिक तथा दृश्य कलाओं में वास्तु स्थानिक, अचल, जड़ आयामोंवाली कला है। चित्रकला और शिल्प

---

१. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ४००।

२. दुर्वार्भ विभाविरहा सहालिखन्ती पटे पति रुदंती।
स्नपितकुचा सितगुल्ला स्थिरधम्मिला धनाश्री स्यात्।।

में पुनर्प्रस्तुतीकरण विद्यमान है किन्तु वास्तु में उपयोगिता। वास्तुकृति के आकार–प्रकार और चतुर्दिक् के वातावरण के फलस्वरूप ही उसकी विषयवस्तु समझी जा सकती है। चित्र के षडंगों का ज्ञान इसमें चित्र को प्राणभूत मानने पर ही हो सकता है इसलिए वास्तु को चित्र और शिल्प का ही एक अंग माना गया है। सर्वाधिक प्राचीन चित्र भित्तियों पर बने चित्र हैं। भारत में हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के दुर्ग आदि भग्नावशेषों एवं मध्य अमेरिका के विशाल कन्दरागृहों से वास्तुकला की सफलताओं का स्पष्ट बोध होता है। 'मानसार ग्रन्थ' के बयालीस अध्यायों में वास्तुकला और इक्कीस अध्यायों में मूर्तिरचना का उल्लेख होने से वास्तु की विशालता का ज्ञान होता है। मूर्तियों की सफल रचना के लिए चित्रकला के रचना–विधान का ज्ञान होना अनिवार्य माना गया है। इकहत्तरवें अध्याय में चित्रकला सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख है तथा चित्रकला सब कलाओं में प्रमुख है, यह भी प्रतिपादित किया गया है।

चित्र और मूर्ति : - मूर्ति निर्माण में चित्रकला के साधनों का यथेष्ट रूप में उपयोग होने के कारण 'मानसार' और 'समरांगण सूत्रधार' में मूर्तिकला और चित्रकला का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्वीकार किया गया तथा मूर्ति–रचना तक्षणी और तूलिका दोनों से होती थी यह भी पता लगता है। प्राचीन काल में भित्तियों पर ही चित्रण किये जाते थे तथा मूर्तियों का प्रयोग मन्दिरों में प्रतिष्ठित करने के लिए या अलंकरण के लिए किये जाते थे इसलिए इन दोनों कलाओं का प्रमुख प्रयोजन है : धार्मिक स्मारक और अलंकरण। मूर्तिकला और वास्तुकला में उपादान सामग्री के एक होने पर भी हीगेल ने मूर्तिकला को सूक्ष्म और उच्च प्रतिपादित किया है। उन्होंने कहा है कि मूर्तिकला – आत्मतत्त्व विषयक वस्तु को संवेद्य रूप आकार में प्रतिरूपित कर सकती है। यह अपनी उपादान–सामग्री को मानवीय रूप–आकार में रूपांतरित करती है। यह आत्मतत्त्व को प्रशांत रूप में प्रतिरूपित करती है और यह आंतर आत्मतत्त्व को किसी भी क्षण प्रदर्शित कर सकती है।[१]

मूर्ति–रचना कला का लक्ष्य शारीरिक अनुभावों, विशेषतया नयनों के अनुभावों (भाव–प्रदर्शनों) के साधन से मानसिक दशाओं को प्रकट करना है।[२] मूर्तियों में 'रूपभेद' सात्त्विक, राजसिक, तामसिक आदि गुणों द्वारा स्पष्ट की जाती है। उदाहरणार्थ – ब्रह्मा रजोगुण स्वरूप है अतएव उनके शरीर का रंग लाल है। उनके चार मुख चार वेदों के, हाथ दिशाओं के, कमण्डल जड़ और जंगम जगत् का अक्षमाला समय का, उनके शरीर पर कृष्णमृग की खाल यज्ञ का तथा उनके सात हंस सात लोकों के प्रतीक हैं।[३] प्रमाण के लिए कहा गया है कि मूर्तिकार को देवों की प्रतिमाएँ तरुण ही बनानी चाहिए, प्रतिमाएँ कभी–कभी बाल सदृश हो सकती हैं, किन्तु वृद्ध सदृश कभी नहीं। किसी भाव को आकार प्रदान करना ही मूर्तियों का उद्देश्य है। मूर्तिकार जिस व्यक्ति की मूर्ति बनाता है उसकी वस्तुमूर्ति बनाता है, भावमूर्ति नहीं, अर्थात् अतीत के संरक्षण की आदिम मानव प्रवृत्ति इसमें पूर्णतः मौजूद है।[४]

मूर्तिकला का व्यापार है तथ्यों को पूर्णतः दृश्य रूप में परिवर्तित करना, तथा चित्रकला प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन का क्षेत्र है। मूर्ति और चित्र दोनों में जीवन और संपर्क और विस्तार के अक्षय भाव की अभिव्यक्ति होती है। सामग्री भेद के कारण चित्र और मूर्ति में भेद किया जाता है। मूर्ति–रचना में चित्र के अंगों का विधान जानना तथा उसे निरूपित करना आवश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि शिल्पी शिल्पकला के माध्यम से अपने को छन्दोमय कर लेता है **'छन्दोमयामात्मानं कुरुते'।**

---

१. 'वेस्टर्न ऐस्थेटिक्स', पृ० ४१८।
२. कान्तिचन्द्र पाण्डेय 'स्वतंत्र कलाशास्त्र', वाल्यूम १, पृ० ६१८।
३. स्कन्दपुराण ३, अध्याय ४६।
४. भारतीय मूर्तिकला, पृ० २८।

चित्र और काव्य :- नाट्य में दृश्य और श्रव्य दोनों गुण होने के कारण नाट्य को ऊँचे स्थान पर रखा गया। नाट्य में काव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। अतः काव्य उच्चकोटि की कला है विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है – चित्र को समझने के लिए नृत्त शास्त्र (रूपक नाटक) को समझना आवश्यक है। क्योंकि नाट्य में सभी चीजें देख–सुनकर समझ ली जाती हैं तत्पश्चात् चित्रों को देखने पर उनके गुण–दोषों का पता लगाया जा सकता है। पुराणों में इस विश्व की रचना को छन्दज सृष्टि कहा गया है। इसके मूल्य में एक विराट् छन्द, ताल, लय या मात्रा है। उसी छन्द से सौन्दर्य–तत्त्व के लिए आवश्यक सामञ्जस्य और सपुंजन, संतुलन एवं संगति का निर्धारण करते हैं। प्रकृति की सभी वस्तुएँ 'प्रमाण' से सुनियत हैं।

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्.काशकाशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस हंसाः।
साभाऽम्भोदमुक्तः स्फुरदमलरुचिर्मेदिनी चन्द्र चन्द्र -
श्चन्द्राङ्.कः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां कालकालः।।

इस श्लोक में जिस प्रकार पादों की आवृत्ति हुई है उसी प्रकार बेलों में भी उनकी आवृत्ति पशु–पक्षियों अथवा पुष्पों के युगल अथवा ऐसे ही आवर्तन के रूप में होती है,
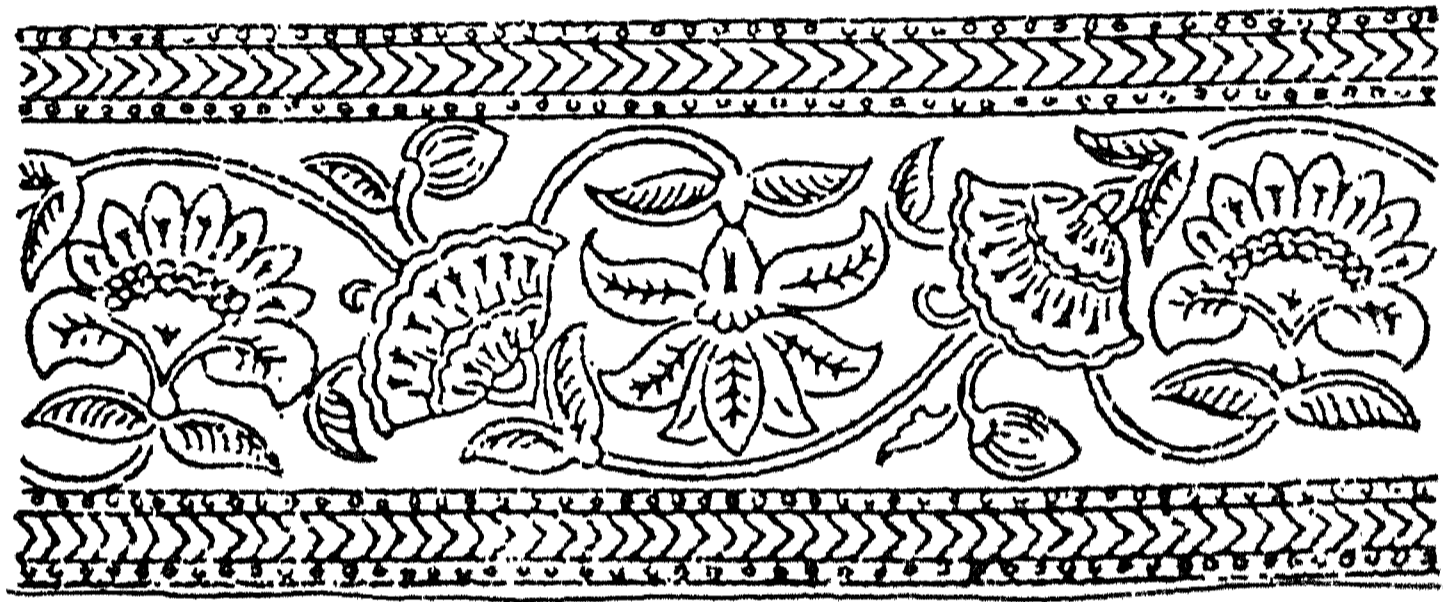
चित्रकला के हाथ को मृणालदण्ड (कमलनाल के समान) और जघन को कदली काण्ड (केले के खम्भे के समान सुडौल और चिकना) दिखाते हैं। इसी प्रकार करकमल, करपल्लव, पदपंकज, कम्बु–ग्रीवा, चंपक अँगुली, बिम्बाधर, अधर, किसलय, कपाट वक्ष, कमलनयन, मीनाक्षी इत्यादि उपमेयोपमान परम्परा से चित्रकला में भी प्रयुक्त होते हैं।

चित्रकला का वैशिष्ट्य

पाश्चात्य विद्वान् पेगेट का मत है कि प्रायः सभी शारीरिक मुद्राओं के साथ–साथ स्वर यंत्र में गति होती रहती है और सहचारी स्वर को अलग करके उसे उस मुद्रा–विशेष का प्रतीक बना लेना स्पष्ट ही अधिक सुविधाजनक और सरल उपाय था। मनुष्य ने रेखाएँ और चित्र खींचना भी शीघ्र ही सीख लिया था। उसकी ध्वन्यात्मक मुद्राओं के प्रतीकों से शब्द, शब्दों के योग से व्याकरण युक्त वाणी का और उसके चित्रमय प्रतीकों से पहले चित्रलिपि और अन्ततः चित्रलिपि से वर्णालिपि का विकास हुआ।

चित्रकला में चित्रकार चित्राभास से चित्रलेखन और चित्रलेखन से सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक चित्रलिपि की ओर बढ़ा। जिसमें रेखा और वर्ण बोलते हैं और चित्रकार के मानस–पटल पर बिम्बित अमूर्त भावों की सांकेतिक अभिव्यक्ति करते हैं।

विचार या भाव चित्र बनकर ही मानस–पटल पर स्पष्ट होता है जिसे साहित्यिक शब्दावली

में बिम्ब–विधान कहते हैं। बिम्ब काव्य का अत्यन्त प्रभावी माध्यम है। चित्रकार थोड़ी–सी रेखाओं से मानो चित्र की भूमिका मात्र प्रस्तुत करने में ही विषय का पूर्णाभास दे देता है। जैसा कि अमरुक शतक ५१, ५२ में रेखान्यास का बहुत ही सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है –

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी।।

(अर्थात् कोई नायक कुपित प्रिया को मनाने में असफल होकर अपने मित्र से कहता है) – उस कृशांगी के समक्ष अपने मुख से दूसरी नायिका के नाम निकल जाने (गोत्र स्खलन) से मैं चकित हो गया और लज्जा (वैलक्ष्य) से नीचा मुख करके भाग्य का मारा मैं कुछ यों ही रेखा खींचनें लगा। किन्तु वह रेखा–न्यास भी स्पष्ट रूप से उस प्रकार का हो गया है वही तरुणी, अपने समस्त अंगों में प्रकट हो उठी।

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थल रुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गद गिरा।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितोवामचरणः।।

तब उसे पहचानकर मानिनी के कपोल फड़कने लगे, उसकी कान्ति लाल हो गयी, क्रोध और प्रणय के आवेग में उसकी वाणी गद्गद हो गयी और उस मानिनी ने अश्रुजल से मलिन होते हुए 'स्पष्ट ही यह अनोखा चित्र है' यह कहते हुए क्रोधपूर्वक ब्रह्मास्त्र जैसे अपने वामचरण को मेरे सिर पर रख दिया।

अधिष्ठान चेतनरूप वस्त्र पर जगद्रूप चित्र को प्रकाशित करने के कारण पंचदशी के एक प्रकरण का नाम 'चित्रदीप' रखा गया है। ललित कलाओं में चित्रविद्या दृष्टि तथा मनोरंजन का विषय होने से सर्वग्राह्य है। वेदान्त दर्शन के गूढ़ सिद्धांतों को जनसामान्य में पहुँचाने के लिए 'पंचदशी' के लेखक ने चित्रकला जैसे माध्यम को अपनाया। मैत्रेयी उपनिषद् में 'आलेख्य' के अर्थ में **'चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरमम्'** (४/२) आया है। अर्थात् चित्रित भित्ति की भाँति मिथ्या किन्तु मनोरम है।

अपने मन के भाव को स्पष्ट करने के लिए प्रकृति तथा विभिन्न तौर–तरीकों के अनुसार लिपियों का जन्म हुआ। ऐसी लिपियाँ अनेक थीं : रज्जु या ग्रंथलिपि, भाव प्रकाशक लिपि, ध्वनि प्रकाशक लिपि, रेखालिपि, अक्षरलिपि और व्यञ्जनमूलक लिपि आदि। मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों का बोध करने के लिए कुछ संकेत रेखाएँ थीं जैसे मैक्सिकन 'इत्ज' को चाकू द्वारा और 'कोत्ल' को सर्प की सुपरिचित आकृतियों द्वारा प्रकट किया गया। आदिम सभ्यता की चित्र रेखाओं ने आगे चलकर एक वैज्ञानिक लिपि को जन्म दिया।

मानसार में चित्र को चित्रभाषा कहा गया है। चित्रकला में किसी पदार्थ या किसी विशेष क्षेत्रफल का 'रूप' में रूपान्तर करने के लिए कुछ गठनात्मक सिद्धान्त लागू किये जाते हैं। जैसे : अनुपात (प्रपोर्शन), समरूपता (सिमेट्री), संतुलन (बैलेंस), सामञ्जस्य (हार्मनी), ताल (रिद्म), विकास (डेवलपमेंट), केन्द्रीयता (सेंट्रलिटी) आदि।[१]

रेखा रूप को जन्म देती है। रेखा में बिन्दु (Point) गति करता है; दायें–बायें, ऊपर–नीचे, सब ओर जिधर चाहे, जैसा चाहे। बिन्दु–जैसा मुक्त स्वच्छन्द गतिमान और ऊर्जा विभव से भरपूर यहाँ कुछ भी नहीं। कलाकार की तूलिका किसी बिन्दु से चलकर रेखा का निर्माण करते हुए रूप की सृष्टि करती है। रेखा की पकड़ और पहचान, वास्तव में, कलात्मक अनुभूति का मूलस्रोत होता है।[२] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है : **रेखा प्रशंसंत्याचार्यः** – आचार्य कला में रेखा की प्रशंसा करते हैं।

रेखा रूप की पहली इकाई है। रेखा द्वारा मनुष्य आकृति को सुनिश्चित करता है। स्वभावानुसार कोण देकर अन्तरानुभूतियों को प्रक्षेपित करता है। रेखाओं के भी अपने–अपने गुण निर्धारित हैं उदाहरणार्थ – क्षितिजीय रेखा परंपरा से विश्रान्ति का गुण माना जाता है। विश्रांति उसका गुण है, जिस प्रकार ताप लाल रंग का। ऊर्ध्वलंब (वर्टिकल) रेखा के गुण ऊर्ध्वारोहण, शान, प्रशांति माने जाते हैं, कोणात्मक रेखाओं के गुण, चढाई, उतार, आकस्मिक परिवर्तन, पार्थक्य आदि माने जाते हैं। ऐंठी हुई रेखाएँ नाटकीय, घुमावदार, पीड़ामयी या चिन्तनलीन गुणों से पूर्ण मानी जाती हैं, तथा तरंगित या विद्युत् रेखाएँ संघर्ष, तनाव, खिंचाव, द्वन्द्व, हिंसा, उलझन आदि को द्योतित करती हैं।

बड़े घुमाव या चाप (कर्व) जो क्षितिजीय तथा अधोमुखी होते हैं, छोटे घुमाव या 'चाप' (कभी–कभी कोण और कभी–कभी क्षितिजीय) प्रसन्न, चंचल, कठिन और उद्विग्न माने जाते हैं।

घुमावदार रेखाओं को नारी के नख–शिख के सादृश्य पर परंपरा से सौंदर्य की रेखाएँ माना जाता है, जिनमें मांसलता, लावण्य, कोमलता के गुणों का आरोप होता है। इसी प्रकार धरातल चित्र में गहराई का बोध कराते हैं; 'आयतन' रेखाओं एवं रंगों से मिलकर पदार्थ का ज्ञान कराते हैं।[३]

'चित्रलक्षण' के प्रथम अध्याय में चित्रकला की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि पुराकाल में भयजित् नामक किसी धर्मपरायण राजा के राज्य में अकस्मात् एक ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु हो गयी। पुत्रशोक से विकल ब्राह्मण, तत्कालीन प्रथा के अनुसार राजा के पास गया और उसने राजा को यह कहकर प्रताड़ित कया कि यदि वह क्षत्रिय है और धर्म तथा ब्राह्मणों पर उसका किंचित् भी विश्वास है तो वह उसके मृतपुत्र को जीवित करे। यह सुनकर उस धर्मात्मा राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने योगबल से यमराज को बुलाया और उसके समक्ष मृत ब्राह्मणपुत्र को जीवित कर देने की प्रार्थना की। किन्तु यमराज ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। फलतः दोनों में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें यमराज की पराजय हुई। पराजित होने पर यमराज ने जब ब्राह्मणपुत्र को जीवनदान देने के लिए इन्कार कर दिया तो स्वयमेव ब्रह्मा ने अवतरित होकर राजा भयजित् को यमराज की पराजय की असमर्थता का कारण बताया और राजा से कहा कि वह ब्राह्मण के मृतपुत्र का चित्र अंकित करे। राजा के द्वारा चित्र बनाये जाने के बाद ब्रह्मा ने उसमें प्राणसंचार कर दिया। तदन्तर ब्रह्मा ने राजा भयजित् से कहा, 'तुमने नग्न प्रेतों को जीत लिया है। आज से तुम्हारा नाम नग्नजित् हुआ। तुम्हारा यह चित्र सृष्टि का पहला चित्र है। मर्त्यलोक में इस कल्याणकारी चित्रकला के तुम पहले आचार्य कहे जाओगे।

---

१. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ५६।
२. कला दर्शन, पृ० ११४।
३. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ६६-६७।

चित्रविद्या से संसार का इसी प्रकार कल्याण होता रहेगा और इसी हेतु तुम मर्त्यलोक द्वारा सदा पूजित होते रहोगे।'

इसी प्रकार चित्रकला की दैवी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए दूसरे अध्याय के विश्वकर्मा–नग्नजित्–संवाद में बताया गया है कि संसार की कल्याण–कामना हेतु ब्रह्मा की प्रेरणा से इन्द्रादि देवताओं ने अपने अस्त्र–शस्त्रों और मुद्राओं सहित अपनी–अपनी प्रतिकृतियाँ बनाकर ब्रह्मा को दीं जिनको ब्रह्मा ने अर्चन–पूजन हेतु मर्त्यलोक में भेज दिया।

चित्रकला के गुण–दोषों की पहचान के लिए डॉ० अवध उपाध्याय ने अपनी 'चित्रकला' नामक पुस्तक में एक रोचक वृत्तान्त दिया है।

जयपुर राज्य के किसी चित्रकार ने एक अबला स्त्री का चित्र बनाया। उस चित्र को देखकर अनेक राजा–महाराजाओं ने चित्रकार को सैकड़ों रूपये देना चाहा; किन्तु चित्रकार ने वह चित्र न बेचा। क्योंकि वह सभी क्रेताओं तथा पारखियों से जब अपने चित्र की विशेषता पूछता तो कोई भी उसकी वास्तविकता को प्रकाशित न कर सकता। दूर–दूर तक घूमकर अन्त में चित्रकार निराश वापस अपने घर आ गया।

उसी गाँव में एक ठाकुर रहता था। उस ठाकुर ने उस चित्रकार से उसका चित्र मँगवाया। चित्र को देखकर ठाकुर ने कह दिया कि चित्र में दर्शित इस नारी के भीतर एक मास का गर्भ है। यह सुनते ही चित्रकार ठाकुर के पैरों पर गिर गया। उसने ठाकुर को अपने सैकड़ों कोस भटकने की कथा सुनायी। अन्त में उसने ठाकुर से अपनी अज्ञानता की क्षमा–याचना कर वह चित्र ठाकुर को ही भेंटस्वरूप अर्पित कर दिया।

नाटक की तरह चित्र में भी आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय के गुण विद्यमान हैं नृत्तकला की तरह चित्रकला में भी त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। चितवन, भाव और अंग व प्रत्यंगों का सब प्रकार से दोनों में साम्य है। राय कृष्णदास जी नृत्त अर्थात् नाट्य के विषय में कहते हैं कि बिना नृत्त के हाव–भाव एवं अंग–भंगी को समझे हुए चित्रों का समुचित अंकन एवं प्रेक्षण असंभव है।

चित्रकला की श्रेष्ठता को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में उल्लिखित मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर में हम देखें तो वह अक्षरशः सत्य है।

इसी प्रमाण को चित्रकला को चित्रकला के षडंग में रखा गया है। काव्यों में ध्वनि द्वारा दीर्घकाल तक अनुरणन बना रहता है। यह श्रव्य–ध्वनि परम्परा है किन्तु चित्र में मानसिक भाव परम्परा बनी रहती है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् (अंक ६) में – **'रेखया किञ्चिदन्वितम्'** से मानसिक भाव के अन्वयन (क्रिया–प्रतिक्रिया) को द्योतित किया गया है।

चित्रकला की ही भाँति काव्य में भी अलंकार तथा शब्दार्थ शक्तियों को उनका रूपभेद माना गया है। उपन्यास और नाटक में 'कार्यावस्था' के अनुसार अनुपात होना चाहिए। क्योंकि केवल आरंभ को आधे से अधिक भाग में और शेष तत्त्वों को बाकी भाग में अंकित करने से अनुपात बिगड़ जायगा। काव्यों में बिंब–प्रतिबिंब भाव चित्रकला में भी निहित है। मानव शरीर की आकृति निर्माण में बीचोबीच से एक ऊर्ध्वलंब (परपेंडीकुलर) खींचा जाय तो शिख के बीच से एड़ियों के अन्त तक हो, तब किसी भी क्षितिजीय धरातल पर बायीं ओर का कोई भी बिन्दु दायीं ओर उतनी ही दूर होगा।[१]

१. रमेशकुंतल मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ६६-६७

अलंकृत, समरूपता में त्रिकोणीय, षट्कोणीय, अन्यकोणीय पैटर्न आदि भी बनते हैं, जैसे – मधुमक्खियों के छत्ते षट्कोणीय अलंकृति के उदाहरण हैं। साहित्य में अनुप्रासों के प्रतिनिधि चित्र बेलों में मिलते हैं जहाँ प्रत्येक पुष्प की आवृत्ति निश्चित अंतर के बाद होती है। उदाहरणार्थ – 'वज्र की जिज्ञासा है – निराकार यथा–निरुक्त न कोई रूप रखता है न गंध, न स्पंद, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणत किया जा सकता है?

मार्कण्डेय जी उत्तर देते हैं कि 'प्रकृति और विकृति वास्तव में परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी उसी के परिवर्तनशील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाय। अतएव उसकी रूप–कल्पना चित्र के बिना सम्भव नहीं' तभी तो कहा है –

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्।।
मांगल्यं प्रथमं ह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।। (३ : ४५ : ३८)

अर्थात् चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ है। यह धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देनेवाली है। जिस घर में इसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहाँ पहले ही मंगल होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला मनीषियों ने मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीतकला, काव्यकला आदि सभी कलाओं में चित्रकला को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है।
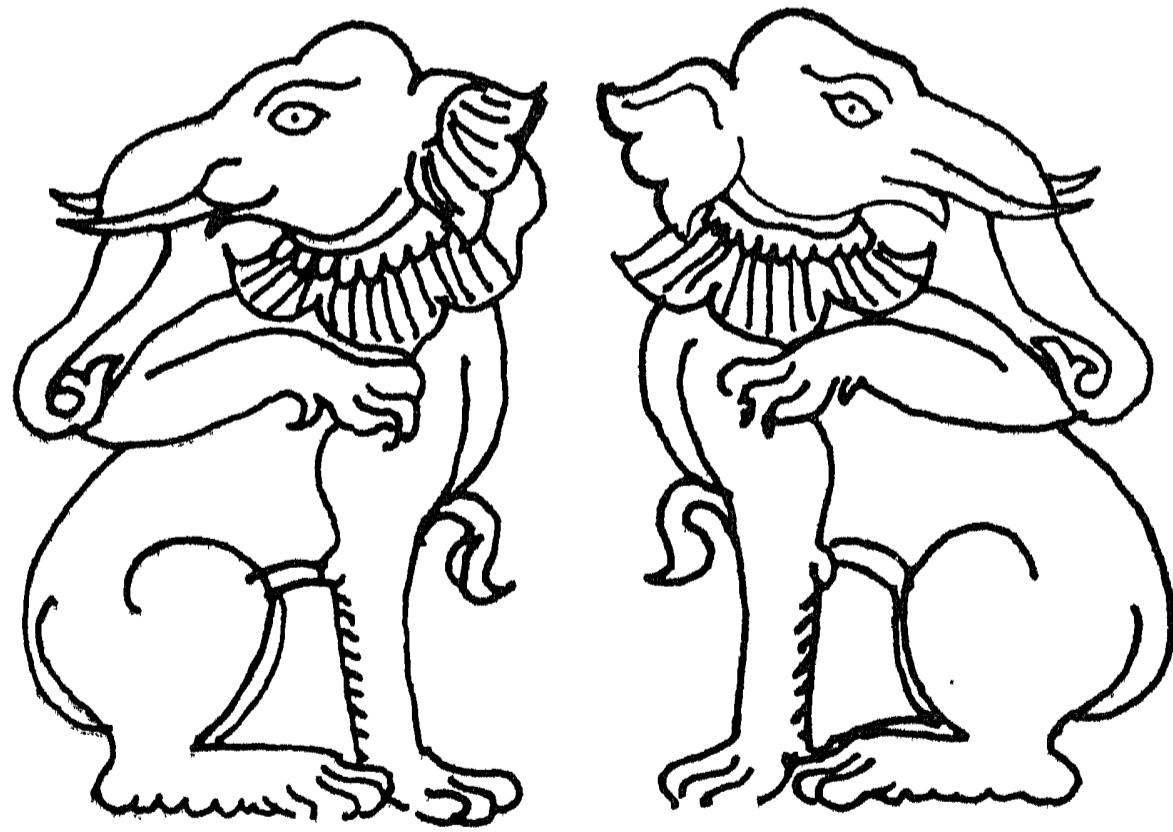
भारतीय संस्कृति में चित्रकला का उद्गम

चित्रकला उत्स एवं उद्गम, पल्लवन तथा प्रतिष्ठा

विस्तार –क्रम में हम प्रथमतः पुरातात्त्विक पृष्ठभूमि पर विचार करना संगत समझते हैं। इस दृष्टि से हमारा ध्यान आदि प्रारम्भ पर केन्द्रित होता है; जो आदिकालीन चित्रकला नाम से अभिहित की जाती है।

आदिकालीन चित्रकला का अध्ययन करने के लिए हम इसे चार भागों में विभाजित कर सकते हैं

(१) प्रागैतिहासिक काल (२) आद्यैतिहासिक काल (३) वैदिक काल (४) पूर्व बौद्ध काल

प्रागैतिहासिक काल

इस काल को विद्वानों ने पाषाण युग माना है। इस समय मनुष्य ने विशेष रूप से पाषाण, लकड़ी तथा मिट्टी का ही प्रयोग किया।

मानव की प्रगति के आधार पर पाषाण युग को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

(१) पूर्व पाषाण युग (Palaolithic Age) ३०,००० ई० पू० – २५,००० ई० पू०
(२) मध्य पाषाण युग (Middle Stone Age) २५,००० ई० पू० – १०,००० ई० पू०
(३) उत्तर पाषाण युग (Neolithic Age) १०,००० ई० पू० – ५,००० ई० पू० तक

इस युग का मनुष्य (quartizite) मनुष्य कहा जाता है। पूर्व पाषाण युग का मानव दक्षिणी भारत में मद्रास सिटी के पास, चिंगलेपुत, अंगोला तथा कुडापा क्षेत्र तक सीमित रहा। क्वार्टीजाइट यंत्र आदि मद्रास सिटी, गुंटूर जिले के अंगोला नामक स्थान और कुडापा में प्राप्त हुए हैं। मैसूर के ब्रह्मगिरि स्थान के उत्खनन से मिले उपकरण पूर्व पाषाणकालीन हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता के अनुशीलन से हमें पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, किन्तु प्रागैतिहासिक संस्कृति के ज्ञान के लिए मात्र शैल या गुहा–चित्र, पत्थर के औजार, अस्त्र और मिट्टी के बर्तन आदि हैं। प्रागैतिहासिक चित्रों की उपलब्धि के प्रमुख स्थान निम्नांकित हैं –

(१) मध्यप्रदेश में महादेव पहाड़ी के पंचमढ़ी नामक स्थान के आस–पास।

(२) मध्यप्रदेश में मन्दसौर जिला, नरसिंहगढ़, सीहोर, रायसेन, होशंगाबाद, सागर, पन्ना, रेवा, अम्बिकापुर, रायगढ़ और बस्तर।

(३) विन्ध्य की कैमूर पर्वतमाला के भीतर शोण नदी घाटी के मिर्जापुर क्षेत्र में।

(४) उत्तरप्रदेश के बाँदा जनपद के मानिकपुर स्थान में।

उपर्युक्त स्थानों का विवरण डॉ० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, डॉ० एस० के० पाण्डे, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० वाकणकर, राय कृष्णदास आदि भारतीय विद्वानों ने दिया है।

नर्मदा नदी की घाटी में पत्थर का गढ़ा हुआ एक गोल यंत्र प्राप्त हुआ है और इसके साथ

दरियाई घोड़े तथा अन्य पशुओं की अश्मीभूत हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार का एक प्राचीन यंत्र गोदावरी नदी की घाटी से भी प्राप्त हुआ है। बुन्देलखण्ड, आसाम (असम) तथा नागपुर की पहाड़ियों, मिर्जापुर, गाजीपुर तथा विंध्याचल की कैमूर पर्वत–श्रेणियों में प्राचीन कला के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पूर्व पाषाण युग का मानव कुडापा तथा मद्रास सिटी के क्षेत्र तक सीमित रहा, परन्तु उत्तर पाषाण युग का मानव सारे भारतवर्ष में फैल गया और बेलारी उसका प्रधान केन्द्र बना। दक्षिण भारत में बेलारी की एक गुफा में एक शिकार का दृश्य तथा जादू के विश्वास के अनेक प्रचलित चिह्न अंकित किये गये हैं। इन चिह्नों में छह कोणों का सितारा (षट्कोण) उल्लेखनीय है। इन गुफाओं की चित्रकला स्पेन की आदिम–चित्रकला के समान ही है।

मद्रास राज्य में स्थित विल्लासरंगम गुफा में कुछ हड्डियों के हथियार प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर जादू के प्रचलन के प्रतीक–चिह्न या चित्र अंकित किये गये हैं।

दक्षिण भारत में स्थित वाईनाड के एकल स्थान में जादू के विश्वास के अनेक चिह्न अंकित हैं। इन चिह्नों में स्वस्तिक का चिह्न, सूर्य के चिह्न और चौखटे खाने (चतुष्कोण) लाल और काले रंग से चित्रित किये गये हैं। ये चिह्न जादू–टोने के प्रतीक हैं। यहाँ पर मनुष्य को सिर पर कुछ पहने हुए चित्रित किया गया है।

मिर्जापुर क्षेत्र में विजयगढ़ दुर्ग के समीप हरनी–हरन गुफा में गैंडे का आखेट करते हुए शिकारियों का रोचक चित्र प्राप्त हुआ है। विजयगढ़ दुर्ग के समीप घोड़मंगर परगना तथा बुढ़ार (Burhar) से भी आखेट के चित्र प्राप्त हैं। कार्बन महोदय ने हरनी–हरन गुफा के चित्रों को बहुत परवर्त्ती मानकर उनका समय दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना है। हरनी–हरन गुफा के चित्रों में आखेटकों की प्रहार करती हुई मुद्राएँ तथा पशु के सींगों के ऊपर उछले निरस्त्र आखेटकों की नाटकीय स्थिति का रोचक चित्रण है।

विन्ध्याचल की पहाड़ियों की खुदाई में उत्तर पाषाण युग के मनुष्य के बनाये चित्र प्राप्त हैं। इन पहाड़ियों में चित्रित चट्टानों तथा गुफाओं के आस–पास पत्थर की चट्टानों या सिलों पर हिरौंजी के घिसे हुए पत्थर प्राप्त हुए हैं जो उस आदि–मानव ने चित्र बनाने के लिए रंग के रूप में प्रयोग किये थे। इन स्थानों पर प्रागैतिहासिक मनुष्य ने अपनी चित्रशाला पूर्ण रूप से स्थापित कर ली थी जिसमें वह रंग को पत्थर या सिल के ऊपर घिसकर चित्र का निर्माण करता था। यहाँ पर जानवरों के पुट्ठों की हड्डी भी मिली है जिसको वह रंग बनाने की प्लेट या तश्तरी के रूप में प्रयोग करता था। इनमें प्रमुख चित्रों के उदाहरण रायगढ़, मिर्जापुर, पंचमढ़ी, होशंगाबाद, ग्वालियर, बाँदा आदि अनेक क्षेत्रों में प्राप्त हुए हैं।

मध्यप्रदेश की रायगढ़ रियासत में महानदी के किनारे पूर्व की ओर स्थित सिंहनपुर नामक ग्राम में ५० चित्रित शिलाश्रय तथा गुफाएँ मिली हैं। ये गुफाएँ एक रेतीली चट्टान में स्थित हैं। इनके द्वार पर कंगारू के असंयत चित्र बने हैं। सिंहनपुर के पास एक सुरंगनुमा गुफा में अधिक पशुओं का अंकन किया गया है, जिसमें घोड़ा, बारहसिंगा, हिरन, साही, अरना भैंसा, साँड, सूँड़ उठाये हाथी तथा खरगोश आदि जानवरों का सजीव अंकन है। यहाँ पर एक गुफा में दीवार पर जंगली साँड़ को पकड़ते हुए और बर्छी से छेदते हुए आखेटकों का एक बड़ा मार्मिक दृश्य है। इस चित्र में कुछ आखेटक चारों ओर से हिंस्र पशु को घेर रहे हैं और कुछ प्रबल पशु की खींस से वायु में उछल गये हैं और कुछ पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। उसी दीवार पर एक दूसरा चित्र मिला है जिसमें एक घायल भैंसा बुरी तरह तीरों से छिदा हुआ दम तोड़ रहा है, उसके चारों ओर भालों आदि से सुसज्जित शिकारियों का दल है। इस चित्र में प्राण

त्यागते हुए भैंसे को आदिम चित्रकार ने बड़ी सफलता से सरल तथा साधारण आकारों में बाँध दिया है। इन चट्टानों के निचले भाग में बहुत–से पत्थर के औजार तथा हथियार भी प्राप्त हुए हैं जिनसे इन गुफाओं को उत्तर पाषाण युग का मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इन चित्रों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक मनुष्य में चित्रण के लिए एक प्रकृति प्रदत्त प्रेरणा थी। उसने इन चित्रों में प्रभावशाली ढंग से गेरुए रंग की तूलिका द्वारा अपने विचारों को पिरोया है। इसी क्षेत्र में कबरा पर्वत, करमागढ़, नवागढ़, खैरपुर तथा बोतालदा में अनेक शिलाश्रय तथा गुफाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें गुहावासी मानव के चित्र प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर क्षेपांकन (Stencil) पद्धति में चित्र बनाये गये हैं। यह जादू के विश्वास के प्रचलन के प्रतीक चिह्नों के कारण यह च्रित्र अति प्राचीन है।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में कैमूर श्रृंखला के अन्तर्गत मिर्जापुर जिले में कोहबर, महड़रिया, भल्डरिया, विजयगढ़, छातो, विंढम, लिखनिया–१, लिखनिया–२, लोहरी, खोड़हवा, रौंप, कंडाकोट, सोरहोघाट, घोड़मंगर, पभोसा (चुनार) आदि स्थान आदिम मनुष्य के प्रमुख केन्द्र थे। मिर्जापुर क्षेत्र में एक सौ से अधिक शिलाश्रय तथा गुफाएँ इन स्थानों पर प्राप्त हुई हैं जिनमें गुहावासी मानव की चित्रकला के प्रमाण सुरक्षित हैं। मिर्जापुर क्षेत्र के अन्तर्गत सहवाइयापथरी, मोहरानपथरी, बागापथरी, लकहटपथरी नामक पहाड़ियों में भी आदिम चित्रों के उदाहरण प्राप्त होने के उल्लेख प्रकाशित हुए हैं।[1] लिखनिया–१ में हाथियों के पकड़ने के दृश्यों को बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। लिखनिया–२ में पशु आखेट के दृश्यों के साथ–साथ नृत्य–वादन में मस्त व्यक्तियों के समूह भी अंकित किये गये हैं। यह चित्र गुफा की छतों तथा भित्तियों पर बनाये गये हैं। यह अन्य स्थान पर लम्बे चोंचवाले पक्षी की आकृति भी बनायी गयी है। विजयगढ़ गुफा में तीन आदमियों को लाल, पीले तथा सफेद रंग से बनाया गया है। इसके अतिरिक्त विजयगुढ़ गुफा में सुअर, गैंडा, बारहसिंगा तथा हिरन आदि पशुओं का चित्रण किया गया है। मिर्जापुर क्षेत्र में स्थित गुफाओं के चित्रों में अधिक स्वाभाविकता और यथार्थता से चित्रित पशुओं में गैंडा, साँभर, हिरन, सुअर तथा बारहसिंगा हैं। यहाँ पर एक साँभर के पकड़ने का दृश्य तथा दूसरे गैंडे के आखेट का दृश्य मार्मिक ढंग से अंकित किया गया है। एक दृश्य में सुअर का आखेट और एक में हिरन का आखेट अंकित किया गया है। इन्हीं आखेट दृश्यों के साथ एक पशु पर कुत्तों का आक्रमण भी अंकित किया गया है। यहाँ एक स्थान पर एक सुसज्जित द्वार पर एक चोंचदार पुरुष बैठा बनाया गया है जिससे प्रतीत होता है कि यह गुफा कोई तन्त्र–यन्त्रशाला है। इस क्षेत्र में अधिकांश चित्र गेरू, हिरौंजी या कोयले से बनाये गये हैं।

रौंप तथा घोड़मंगर गुफा में काकबर्न महोदय ने गैंडे के आखेट–दृश्य अंकित पाये थे। घोड़मंगर में मगर तथा घोड़े भी अंकित हैं। भल्डरिया में भी शिलाश्रयों तथा गुफाओं में काकबर्न महोदय ने (१८८३ ई० में) अनेकानेक पशु–आखेट चित्र अंकित पाये। मिर्जापुर के प्रसिद्ध पिकनिक स्पॉट (स्थल) विंढम में भी प्रागैतिहासिक चित्रकारी से युक्त शिलाश्रय प्राप्त हुआ है।

मनिकापुर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में खुले स्थान में गेरू से बने कुछ चित्र प्राप्त हुए हैं। एक चित्र में पहिये रहित एक गाड़ी और तीन घोड़ों का अंकन है।

डी० एच० गार्डन महोदय ने पंचमढ़ी (मध्य प्रदेश) क्षेत्र से गुहावासी मानव की चित्रकारी तथा चित्रकृतियों को पन्द्रह से अधिक गुफाओं एवं शिलाश्रयों में खोज निकाला। यहाँ पर महादेव पर्वत के चारों ओर अवस्थित डीरोकीदीप, महादेव बाजार, सोनभद्रा, जम्बूद्वीप, निम्बुभोज, बनियाबेरी, मारोदेव, तामिया और झालाई आदि स्थानों में अनेक चित्रित शिलाश्रय तथा गुफाएँ प्राप्त हैं। पंचमढ़ी के शिलाचित्रों में पशु

१. सम्मेलन पत्रिका, कला विशेषांक (सन् १९५८), भारत के कला मण्डप।

तथा आखेट चित्रों के अतिरिक्त सशस्त्र–युद्ध–दृश्यों तथा नृत्य–वादन के चित्र भी मिलते हैं। यहाँ पर 'बाजार केव' में एक विशालकाय बकरी का चित्र है। इस क्षेत्र में मांडादेव गुफा की छत में शेर के आखेट का एक दृश्य अंकित हैं। इस क्षेत्र में इमलीखोह में साँभर के आखेट का दृश्य है। इस क्षेत्र में चट्टानों पर पशु की पंक्तियों के अंकन के साथ–साथ दैनिक जीवन के चित्र भी अंकित किये गये हैं – जैसे अनेकानेक चित्रों में गायों को चराते हुए चरवाहे और शहद इकट्ठा करते हुए मनुष्य दिखाये गये हैं। ये चित्र भारत की निषाद जाति की उन्नतिकालीन संस्कृति के परिचायक हैं। होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) के आदमगढ़ पहाड़ी पर एक दर्जन से अधिक शिलाश्रय प्राप्त हैं। जिनमें हाथी, महिष, घोड़े, साँभर, जिराफ समूह, अस्त्ररोही–अश्वारोही, चार धनुर्धारी आदि क्षेपांकन (Stencil) पद्धति से बनाये गये हैं। यहाँ पर विभिन्न शैलियों में किये गये चित्रण प्रयोगों के पाँच या छह स्तर हैं जो अनेकानेक कालों के द्योतक हैं। आदमगढ़ की एक गुफा में एक हाथी पर चढ़े आखेटकों को जंगली भैंसे का आखेट करते चित्रित किया गया है। यहाँ पर कुछ आखेटक घोड़े पर सवार हैं और कुछ पैदल दौड़ रहे हैं। पाषाण युग से सम्बन्धित आदिम मानव के निवास के चिह्नों को प्रकाश में लाने के लिए पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ पर उत्खनन किया है।

भोपाल क्षेत्र में धरमपुरी गुफा मंदिर, शिमलाहिल, बरखेड़ा, साँची, सेक्रेटेरियेट, उदयगिरि आदि स्थानों में आदिम–चित्रकला के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। धरमपुरी नामक स्थान पर एक शिलाश्रय में गेरुए रंग से अंकित हिरन के आखेट का रहस्यमय चित्रण है। शिकारी के पैरों तक पत्तियों से ढके होने के भ्रमवश हिरन उसके समीप आ गया अंकित किया गया है।

बाँदा क्षेत्र में सरहत, मलवा, कुरियाकुंड, अमवाँ, उल्दन, चित्रकूट आदि स्थानों में शिलाश्रय तथा चित्रित गुफाएँ प्राप्त हुई हैं।

ग्वालियर, शिवपुरी तथा फतेहपुर सीकरी के आस–पास भी आदिम चित्रकला के चिह्न प्राप्त हुए हैं।

बिहार क्षेत्र में चक्रधरपुर नामक ग्राम में आदिम चित्रकला के कुछ उदाहरण प्राप्त हैं। एक चित्र में एक आदमी लेटा है और कुछ आदमी उसके पास बैठे हैं।

श्री वि० श्री० वाकणकर ने मध्यप्रदेश में होशंगाबाद से भोपाल को जोड़नेवाली रेलवे लाइन पर उबैदुल्लागंज स्टेशन से दिखती पहाड़ियों में लाखों वर्ष पूर्व की गुहा भीमबैठका संख्या में ६०० से अधिक हैं। दस किलामीटर लम्बे क्षेत्र में फैली छोटी–बड़ी ४७५ गुहाओं में प्रागैतिहासिक चित्र बने हैं। ये चित्र लाल व सफेद रंगों में बने हुए हैं, पर कुछ चित्र हरे व पीले रंगों में भी मिलते हैं। ये रंग इस प्रदेश के भूगर्भीय जमावों में पाये गये पदार्थों से बनाये जाते थे। रंगीन टुकड़ों को पत्थर पर घिसकर तैयार किया जाता था। गुफाओं की छतों व दीवारों पर चित्र हैं। समतल छतों पर पीठ के बल लेटकर ही चित्र बनाये गये होंगे। अधिकांश चित्र मध्य पाषाण काल के हैं। इन चित्रों में पशुओं का प्राधान्य है।

ऐतिहासिक चित्रों में अम्बिकापुर नगर से लगभग २५ मील दक्षिण–पश्चिम स्थित रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा नामक गुहा में रोचक भित्ति–चित्र प्राप्त हुए हैं। इस गुहा के पास ही सीतामढ़ी नामक दूसरी गुहा है। असितकुमार हालदार तथा विन्सेण्ट स्मिथ ने इन गुहाओं का वर्णन किया है।

इसी विकास–क्रम में आगे चलकर अजंता, बाघ, सित्तनवासल, एलोरा आदि गुहा–चित्रों की परम्परा है।

आद्यैतिहासिक काल

सिंध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में विकसित ताम्रयुगीन संस्कृति के पश्चात् सिंधु नदी की घाटी में एक अन्य उन्नत और समृद्ध नगरीय संस्कृति का विकास हुआ। यहाँ की कलाकृतियों, बर्तनों पर आलेखित अलंकरणों तथा मुद्राओं आदि पर उत्खचित आकृतियों से उनके धर्म के विषय में ज्ञानोपलब्धि होती है। डॉ० फतहसिंह[1] ने कहा है कि : – अभी तक जो कुछ पढ़ने में सफलता मिली है उससे इतना स्पष्ट है कि सिंधु घाटी सभ्यता में ब्राह्मण–ग्रन्थों और उपनिषदों के प्रतीक प्रचुरता से उपलब्ध हैं। ये प्रतीक न केवल हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा चित्रों में पाये गये हैं, अपितु इनका अस्तित्व उन मुद्रा चित्रों पर भी पाया जाता है जो मोहनजोदड़ो की निम्नतर एवं निम्नतम स्तर की गहराई पर पाये गये हैं। मिट्टी के बर्तनों पर सुन्दर अलंकरण और विविध प्रकार की आकृतियों द्वारा उनकी सज्जा चित्रकला के अनुपम दृष्टान्त हैं। सूती और रेशमी वस्त्रों पर कढ़ाई और छपाई भी होती थी, इसके प्रमाण हैं। छोटी मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें लाल मृत्तिका से निर्मित धड़ यथार्थता में बेजोड़ हैं। खड़िया से बनी हुई एक अन्य पुरुषाकृति का वक्ष, चित्र बनाने की चेष्टा करता हुआ–सा प्रतीत होता है। मूर्तियों में एक कांस्य मूर्ति नर्तकी की है। कण्ठहार तथा समस्त भुजाओं को ढके हुए वलय समूह के अतिरिक्त नग्न है, उसकी वेणी एक कलात्मक केशावरण में सुन्दर प्रकार से बँधी हुई है। अपनी एक भुजा कूल्हे पर रखे हुए अर्द्धावनत जंघा के साथ उत्तेजनात्मक मुद्रा में खड़ी है। हड़प्पा निवासी पकी हुई मिट्टी से स्त्रियों की छोटी–छोटी असुन्दर मूर्तियों का निर्माण भी करते थे, जिनका शिरोपरिधान अत्यधिक सुन्दर हुआ करता था। मिट्टी की पकी हुई ऐसी लघु मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनकी पूँछ का सीटी या बाँसुरी बजाने में उपयोग होता था। तबले और ढोल के चित्र भी उत्कीर्णित मिले हैं। सोना, चाँदी, ताँबा आदि के बने आभूषण–ललाट की पट्टी या झालर, कुण्डल, नथ और हार, चूड़ियाँ व बाजूबन्द, कँदोले, पायजेब आदि प्राप्त हुए हैं। प्रसाधन व अंगराग, खेलने के लिए गोलियाँ, गेंद और पाँसे भी मिले हैं। ताँबे की गाड़ी जिसके ऊपर छतरी लगी है जो कि आधुनिक इक्के की तरह है तथा रथ और बैलगाड़ियाँ भी मिली हैं।

सिन्धु नदी की घाटी में विद्यमान इस प्राचीन सभ्यता को खोज निकालने का श्रेय श्री राखालदास बनर्जी और राय बहादुर श्री दयाराम साहनी को है।[2] इन विद्वानों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के विशाल खेड़ों के नीचे दबे हुए प्राचीन भग्नावशेषों का पता लगाया। १६२१ से लेकर अब तक इन खेड़ों तथा सिंधु सभ्यता की अन्य बस्तियों की खुदाई से समृद्ध सभ्यता प्राप्त हुई है। इस सभ्यता का विकास उन–उन भूतलों की खुदाई के अनुसार अनेक चरणों में रखे गये हैं।[3]

(१) मिट्टी के बर्तनों से पूर्व की सभ्यता (जिसका काल तथा रूप अनिश्चित है।)
(२) कुयेटा सभ्यता – ३५००–३००० ई०पू० तक
(३) अमरी – नन्दरानाल सभ्यता – ३०००–१८०० ई०पू०
(४) झोब सभ्यता – ३०००–२५०० ई०पू०
(५) कुल्ली–मेंही सभ्यता – २८००–२००० ई०पू०
(६) हड़प्पा सभ्यता – २६००–२००० ई०पू०
(७) हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा लोथल सभ्यता – २२००–१८०० ई०पू०
(८) झूंकर तथा झाँगर सभ्यता – १५०० ई०पू०

---

१. फतह सिंह : सिन्धु घाटी लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक, पृ० ३।
२. प्रा० भा० इ० का वैदिक युग - सत्यकेतु विद्यालंकार।
३. अविनाश बहादुर वर्मा - भारतीय चित्रकला का इतिहास।

कुयेटा सभ्यता की कला

वजीरिस्तान तथा उत्तरी बलूचिस्तान की खुदाई में कुयेटा क्षेत्र में सर अगुरेल स्टीन को कुछ पकाये हुए मिट्टी के सर ही प्राप्त हुए थे। सिन्धु सभ्यता से मिलती–जुलती ग्रामीण सभ्यता के सबसे पहले चिह्न किला–गुल–मोहम्मद में कुयेटा–सिबी के ४०० गज पश्चिम में प्राप्त हुए हैं। यह मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता से पहले के चिह्न हैं। किवेग की खुदाई में खुरचने के औजार, सेलखली से बने प्याले, कन्नीनुमा आकर के छोटे यन्त्र प्राप्त हुए हैं। दमास्दात के निचले तल में मिट्टी की सिर रहित मूर्तियाँ तथा ऊपरी तल में झोब मूर्तियों से भिन्न शैली में मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके सिरों पर कानों तक चौडे टायरा जैसे आभूषण बनाये गये हैं। झोब में प्राप्त मूर्तियों के सिर काले रंगे हुए हैं तथा सिर पर टायरा सादा ढंग से बनाया गया है।

अमरीनाल की सभ्यता

अमरी, गाजीशाह, पिण्डीवही, लोहरी तथा शाह हसन की खुदाई में अनेक आभूषणों के खण्ड आदि प्राप्त हुए हैं।

झोब सभ्यता की कला

उत्तरी बलूचिस्तान में झोब नदी की घाटी में प्राप्त मिट्टी के बर्तन गहरे बैगनी लाल रंग के बनाये गये हैं तथा पकायी हुई मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हैं। ये भारत की दार्ष्टिक कलाकृतियों के प्रारम्भिक उदाहरण हैं। यहाँ पर पशुओं की मूर्तियों में कूबड़दार साँड़ तथा पीरियानोघुण्डाई के एक मूर्ति खण्ड में घोड़े का अग्रभाग प्राप्त है। इन मूर्तियों की रचना में परिपक्व यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है।

झोब घाटी से प्राप्त स्त्री मूर्तियों को कमर से कुछ नीचे तक ही बनाया गया था क्योंकि इनका निचला भाग सपाट कटा हुआ है। अब तक प्राप्त ये मूर्तियाँ हाथरहित हैं। पीरियानोघुण्डाई, कायुदानी तथा युगलघुण्डाई में प्राप्त मूर्तियों के माथे चिकने हैं, नाक उल्लू की चोंच–जैसी है, आँख की पुतलियों के स्थान पर गहरे छेद हैं और ठोड़ी के ऊपर मुँह को एक छेद या दरार के रूप में बनाया गया है। इन मूर्तियों में छाती की बनावट में पूरी गोलाई है और स्तनों के अग्रभाग (चूचुक) यथार्थ ढंग से बनाये गये हैं।

कुल्ली-मेंही सभ्यता की कला

मकरान के तट क्षेत्र में कुल्ली के कूबड़दार साँड़ प्राप्त हैं। इनमें धारियों के द्वारा रंगों से चित्रित इनके शरीरों के रंग धुँधले पड़ गये हैं। इन साँड़ों के नेत्र तथा सींग के निचले भाग तथा गरदन को भी युक्त चिड़िया, रथ आदि प्राप्त हुए हैं। चित्रमय लिपियों में से ३६६ चिह्नों का प्रयोग अनुमानित है। धातु की बनी हुई नर्तकी की मूर्ति जिसका शरीर नग्न है उस पर बहुत–से आभूषण बनाये गये हैं। सिर के केशों का प्रसाधन बहुत ही सुन्दर है। नर्तन क्रिया में दक्ष होने के कारण यह मूर्ति बिलोचिस्तान से सिंधु देश में लायी गयी होगी।

लोथल

मोहनजोदड़ो से ६०० मील दक्षिण–पूर्व सूरत के समीप लोथल नामक स्थान में १९५३ ई० में उत्खनन के पश्चात् प्रागैतिहासिक अवशेष प्राप्त हुए हैं। मिट्टी के बर्तन, खिलौने, जानवरों की मूर्तियाँ,

बिल्लौरी पत्थर की छुरी, मनके और ताँबे की बनी सामग्री प्राप्त हुई हैं। ताँबे का बना हंस ढलाई की उन्नत कला का परिचायक है। लोथल में एक खिपड़े पर बना हुआ घोड़ा तथा एक कलश पर बनी हुई गौरैया और हिरन की चित्रित आकृतियाँ चित्रकला के प्रचलन की द्योतक हैं।

हड़प्पा सभ्यता की कला

हड़प्पा में लाल पत्थर की बनी एक मनुष्य के धड़ की मूर्ति जो ३–३/४ इंच ऊँची है, कला आलोचकों के आश्चर्य का विषय है। इस मूर्ति को भली प्रकार से ओपा गया था। यह प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली में सुरक्षित है। माँ के साथ जुड़वाँ बालक तथा काले रंग की प्रतिमा का धड़ मात्र भी यहाँ है जो एक पुरुष नर्तक का है और नर्तक अपने दाहिने पैर के बल खड़ा है और उसका हाथ नृत्य की मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है। इसकी ऊँचाई ३–७/८ इंच है जो कि नटराज का आदि रूप है।

झूंकर तथा झाँकर सभ्यता की कला

मोहनजोदड़ो से अस्सी मील दक्षिण में नवाबशाह जिले के अन्तर्गत चन्हूदाड़ो में रंगीन धारियों से सजी हुई ये मूर्तियाँ बड़ी संख्या में सीमाबद्ध क्षेत्रों में कुल्ली, शाहीटीले, मेंहीं–बाँध आदि स्थानों में प्राप्त हैं। यह मूर्तियाँ दो इंच से चार इंच तक लम्बी हैं। इनके पैर लम्बे हैं और कूबड़ प्रधान है जिससे पशु आकृति की रचना शक्तिशाली प्रतीत होती है। बच्चों के खिलौनो के रूप में ये आकृतियाँ काम में आती थीं क्योंकि मेंहीं–बाँध से प्राप्त साँड़ की एक प्रतिमा के चारों पैरों में तथा कूबड़ में एक छेद बनाया गया है। इन छेदों में पकायी मिट्टी के बने पहिये किसी तीली के सहारे लगाये जाते थे। कूबड़ में डोरी बाँधकर इस साँड़ को खींचा जाता था। स्त्री मूर्तियों में शारीरिक अंगों की गठन को केवल उँगलियों की सहायता से दर्शाया गया है। मूर्तियों के नेत्र, बाल, छाती इत्यादि अलग–अलग छोटी गोलियों या बत्तियों से बनाये गये हैं। आभूषण तथा सर की पोशाकें भी इसी प्रकार बनायी गयी हैं और इनमें कमर तक ही शरीर बनाये गये हैं। इन मूर्तियों में चेहरे खुरदरे है और सँकरे माथे तथा नुकीली नोक है। नेत्रों के स्थान पर छोटी–छोटी गोलियाँ अन्दर छेदों में बिठा दी गयी हैं और मुँह नहीं बनाये गये हैं। छातियाँ अधिकांश आभूषणों से ढकी बनायी गयी हैं या उपयुक्त आकार की गोलियों से बनायी गयी हैं और हाथ घुमावदार है। एक मूर्ति में एक स्त्री दो बच्चों को भुजाओं में पकड़े दर्शायी गयी है। इन मूर्तियों में बालों की सज्जा सामान्यतया ऊपर बँधे जूड़े के रूप में की गयी है या कभी–कभी कन्धे पर लटके बाल भी बनाये गये हैं और कानों में शंकुनुमा आभूषण तथा गर्दन में अंडाकार या गोल लटकनदार हार बनाये गये हैं या कभी–कभी मणिकाओं के चौड़े गुलूबन्द बनाये गये हैं।

मोहनजोदड़ो सभ्यता की कला

मिट्टी के बर्तन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। ये बर्तन कुम्हार के चाक पर बनाये गये हैं, और इन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्हार पहले चाक पर बर्तन बनाकर फिर उन्हें चमकाने के लिए विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करते थे और विविध प्रकार की चित्रकारी उसके बाद में की जाती थी। अन्त में उन्हें भट्ठी में पकाया जाता था और इस प्रकार तैयार हुए बर्तन अत्यन्त सुन्दर और मजबूत होते थे। बहुत–से बर्तनों पर उस ढंग की चमक भी पायी जाती है जैसी कि चीनी मिट्टी के बर्तनों पर होती है। यहाँ पर मिट्टी को पकाकर बनायी गयी मोहरें भी प्राप्त हुई हैं जिन पर उभारकर बनायी गयी भैंसे, मेढे, गैंडे, वृषभ, सुअर इत्यादि पशुओं की आकृतियों के साथ लिपि चिह्न भी अंकित हैं। ये मोहरें साधरणतया ३/४ तथा १–१/४ इन्च वर्गाकार हैं

परन्तु कहीं–कहीं गोल या सिलेण्डर आकार की हैं।[1]

मोहनजोदड़ो की खुदाई से हाथी–दाँत का बना हुआ एक फूलदान भी उपलब्ध हुआ है। यह फूलदान बहुत सुन्दर है और इस पर अनेक प्रकार के रेखाचित्र भी उत्कीर्ण किये गये हैं।[2] हाथी दाँत को शिल्प के लिए प्रयुक्त किया जाता था, यह बात इस फूलदान से सूचित होती है। नग्न मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हें नग्न रखा गया था। क्योंकि स्त्री–मूर्तियों पर तो कमर से जाँघ तक सर्वत्र वस्त्र प्रदर्शित किया गया है तथा पुरुष–मूर्ति भी वस्त्र हुए मिली है। झुनझुने, सीटियाँ (पक्षी के रूप में), पुरुष तथा स्त्री आकृतियाँ, पहियों से प्राप्त मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इसी स्थल पर बाद में दूसरी जाति या बसी जो भूरे रंग के मिट्टी के बर्तन बनाती थी। इस जाति की सभ्यता को झाँगर सभ्यता के नपम से पुकारा गया है। मिट्टी के बर्तन पर साँप, मोर बत्तख तथा ताड़ वृक्ष आदि के चित्र अंकित हैं। इस आलेख की पृष्ठभूमि काली है और लाल रंग से चित्रकारी की गयी है। ज्यामितिक अभिप्रायों में वर्गाकार खाने, परस्पर काटती रेखाओं, वृत्तों या पत्तियों, वृक्षों, पक्षियों (मोर), हिरन, बकरी, गीदड़ आदि के अभिप्राय लाल या काली मिट्टी के बर्तनों पर चित्रित हैं। मानवाकृतियों के चित्रों में मछुए या माता तथा बालक को सरल आकारों में बनाया गया है। यह चित्रकारी अधिकांशतः लाल, काले या सफेद रंग से की गयी हैं।

मिट्टी के खिपड़ों या मोहरों पर रेखाएँ खोदकर भी चित्र बनाते थे। एक खिपड़े पर नाव का चित्र उत्कीर्ण है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की मिली हुई जो मूर्तियाँ, आभूषण तथा काँसे और मिट्टी के बहुत–से नमूने प्राप्त हुए हैं, कारीगरी और कला–कौशल में वे अपने समय की सब जातियों में अग्रगण्य थे। ये लोग अपने उत्कर्ष के दिनों में मिस्र, फारस और मेसोपोटामिया तक व्यवहार करते थे और यहाँ से उनका माल ताइग्रस और यूफेट्स के मैदानों में पहुँचता था। यहाँ की कारीगरी की कलात्मक वस्तुएँ और सौन्दर्य प्रसाधन सुमेरिया और मेसोपोटामिया, मिस्र और बेबिलोनिया में आदर और चाव से ग्रहण किये जाते थे।[3]

वैदिककाल

पुरातत्त्व के अलावा प्राचीन संस्कृति का ज्ञान हम सर्वप्रथम वेदों में ही देखते हैं। 'कोषीतकी ब्राह्मण' (२६/५) में नृत्य, गीत और वादित्र का सामूहिक नाम 'शिल्प' था। कला के विभिन्न माध्यमों से सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त करनेवाला वैदिक युग अपने ढंग का अकेला था जिसका प्रभाव हम गुप्त युग के शैव और वैष्णव मन्दिरों की द्वार–चौखटों पर मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की उभरी हुई मूर्तियों पर अंकित पाते हैं। ऋग्वेद में यज्ञशालाओं के चारों चौखटों पर हिरण्यमयी द्वार–देवियों (द्वारो देवीः) की अलंकृत आकृतियों के अंकन का उल्लेख है, जिसे पाणिनि (५०० ई० पू०) ने प्रतिकृति कहा है। यही प्रतिकृति शब्द मुगल चित्रकारों की भाषा में 'शबीह' तथा अंग्रेजी में 'पोट्रेट पेंटिंग' के नाम से प्रचलित हुआ है। यह अर्द्धचित्र (भास्कर्य) थी।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के मुद्रा चित्रों में सृष्टिदर्शन और विश्वदर्शन के तथ्य प्रकट होते हैं। इस संस्कृति के लोग पीपल, साँड़ या नाग की पूजा करते थे। वेद में पीपल का वृक्ष विश्व–सृष्टि

---

१. आर्ट आफ दी वर्ल्ड इण्डिया, ले० हरमन गोएत्ज, पृ० ३०।

२. प्रा० भा० सा० का इतिहास - सत्यकेतु विद्यालंकार।

३. भारतीय संस्कृति का इतिहास - आचार्य चतुरसेन, मुद्रक तथा प्रकाशक - रस्तोगी एण्ड कम्पनी, प्रथम संस्करण मेरठ १६५८।

का प्रतीक बताया गया है। (१०. ३१. ७) में स्वर्ग और पृथ्वी को विश्वरूपी अश्वत्थ से बना बताया गया है। ऋग्वेद के 'उषा सूक्त' में (उषासूक्त १. ११३) उषा देवी की रमणीय रूप–रचना के लिए जो कल्पना की गयी है वह चित्रकारों के चित्रांकन का आधारस्वरूप है जो उषा देवी नित्य–प्रति नवीन सौन्दर्य से अलंकृत होकर मर्त्य प्रजाओं के लिए अमृत का दान करती हुई हिरण्य रथ में बैठकर आकाश में संचरण करती हैं। उसके लिए ऋषियों ने 'सुमेके' (सुन्दर शरीरवाली), 'चित्रा' (सुन्दर वर्णवाली व विचित्र वर्णवाली) इत्यादि शब्द प्रयुक्त किया है। इसी सूक्त में उषा और रात्रि (नक्तोषसा) जो प्रकाश और अंधकार की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं उन्हें एक ही शब्द 'विरुपे' से संबोधित किया गया है। जिस प्रकार सृष्टि क्रम में 'समानबन्धू' उषा और रात्रि के संयोग का क्रम है, उसी प्रकार प्रकाश और अंधकार (छाया–प्रकाश) चित्रांकन का आधार है। चित्र में ऐसा दिखलाते ही उसके उजले पक्ष का भी बोध हो जाता है। प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य, देवशिल्प से मानवी चित्रकार निरंतर प्रेरणा लेता रहता है। उन सौन्दर्यप्रेमी एवं कलाप्रवण ऋषियों ने रात्रि और उषा के शब्द–चित्र रचे। संभव है इन ऋषियों ने इनका रेखांकन भी किया हो। वेदमंत्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रतीकात्मक अर्थों द्वारा कला को परमेश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना गया है। स्वस्तिक, चक्र, पूर्णकुम्भ, कमल आदि का कलात्मक संप्रेषण वैदिक काल में हुआ। उसे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की भद्रात्मक भावना से युक्त माना गया। अतः उस कला को नैसर्गिक पद प्राप्त हुआ तथा समाज और साहित्य में उसकी महत्ता बढ़ी।

ऋग्वेद में रूपों के निर्माण का उल्लेख प्रायः आता है। बढ़ई को त्वष्टा कहा गया है। तक्षणकर्म द्वारा विविध वस्तुओं को रूप प्रदान करना त्वष्टा द्वारा होता था (त्वष्टा रूपाणि प्रिंशसु)। इसी प्रकार लोहार (कर्मार) के व्यवसाय का भी उल्लेख हुआ हैं। कहा है कि जैसे लोहार अपनी भट्ठी के सम्मुख बैठकर धातुओं को गलाता है वैसे ही ब्रह्मणस्पति प्रजापति सब देवताओं के रूपों को ढालता है।[1]

आर्य लोग अपने निवास के लिए प्रासादों का निर्माण करते थे। ये प्रासाद काष्ठ शिल्प के सुरुचिपूर्ण उदाहरण हुआ करते थे। निश्चित ही इनकी दीवालों को सजाने के लिए अलंकरणों या, चित्रों का अंकन होता होगा। पिशंगाश्वा, अरुणाश्वा[2] (पीले तथा लाल रंग के घोड़े) रंगों का भी अच्छा ज्ञान था। तीसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक भारती–आर्य जाति भारत में रहने लगी। दूसरी शताब्दी ई० पू० तक वैदिक साहित्य की रचना समाप्त हो जाती है और इसका स्थान बौद्ध धर्म ले लेता है। बौद्ध कला की महान् विरासत, गुहाभीतों पर चित्र रूप में उरेही प्राप्त होती है। यहाँ पर छत पर पलास्तर चढ़ाकर विधिवत् भित्ति–चित्रण प्रणाली में चित्र बनाये गये हैं। यहाँ पर पशु–पक्षी, स्त्री–पुरुष, मकान, तालाब, पुष्प आदि वस्तुओं का अंकन श्वेत, लाल तथा काले रंगों से किया गया हैं। जोगीमारा गुहा–चित्र सबसे पुरातन और भीत–चित्रों के प्रथम उदाहरण हैं। जोगीमारा के गुहा–चित्र जैन धर्म से सम्बन्धित माने गये हैं। जोगीमारा गुहाभीतों पर गहरे अक्षरों के कुछ लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें एक नर्तकी और एक मूर्तिकार की प्रेमकथा का वर्णन किया गया है।[3]

पेशेवर लोगों के हाथों से विभिन्न कलाओं का विकास हुआ, इन पेशों को पाणिनि ने जोंनपदीय वृत्ति कहा है। इनमें से कुछ नाम–नाबाज (नादिक), ज्याकार (धनुषाकार), पाणिध (ताल देनेवाले संगीतकार), दिलकारी (बेंत का कार्य करनेवाले), मणिकार, रजयितु (रंगरेज), वयतृ (बुनकर), सूर्पकार (सूप बनानेवाले) एवं वीणागाथिन (वीणावादक) आदि हैं।

---

१. ब्रह्मणस्पतिरेताः स कर्मार इवाधमतः ऋग्वेद, १०, ७२, २।

२. ऋ० ५/४७/४।

३. असितकुमार हाल्दार, ललित कला की धारा, पृ० ६४।

जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति और परम्परा वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में संगृहीत हैं ठीक वैसे ही रामायण, महाभारत और पुराणों में उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान और अनुश्रुतियाँ संकलित हैं। पाणिनि के काल में कार्षापण, निष्क, पण, माप और शाण (एक लघु ताम्र सिक्का) नामक मुद्राओं का प्रचलन था। कलाओं में वास्तु, अलंकरण, दैनिक प्रयोग की वस्तुएँ–पहनावा, प्रसाधन आदि का विवरण भी मिलता है। प्रागैतिहासिक रेखाचित्रों को बौद्धयुगीन गुहा–चित्रों से शृंखलाबद्ध करने की रेखाचित्र परम्परा का कोई प्रमाण नहीं है। शैल–चित्रों की परम्परा भीत–चित्रों के रूप में परिवर्तित होने का लिखित् प्रमाण उपलब्ध है।

पूर्व बौद्धकाल - २०० ई० पू०-७०० ई० पू० तक

पूर्व बौद्धकाल में चित्रकला के विकास पर दृष्टिपात करने से कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि स्वयं बुद्ध ने अपने अनुयायियों को चित्रकला की ओर प्रवृत्त न होने का उपदेश दिया था। बौद्ध साहित्य से चित्रकला के प्रचलन का ज्ञान हम तत्कालीन साहित्य से ही जान सकते हैं। 'आचरांग सुत्त' (२. २. १३) में बौद्ध भिक्षुणियों, जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्रशालाओं में जाने तथा ऐसे स्थानों पर टिकने के लिए कठोर प्रतिबन्ध लगाया गया था।

ईसा से पूर्व छठी शती से मौर्यकाल की कला के दर्शन हमें राजगृह के महादुर्ग, लौरियानन्दनगढ़ के मिट्टी के स्तूप, काष्ठस्तम्भ और मातृदेवी की सुनहले ठप्पे से छपी हुई पन्नी, पिपरहवा स्तूप से प्राप्त स्फटिक की शरीर धातु–मंजूषा और उसी स्तूप से प्राप्त अन्य माणिक्य और नग तथा चिकने कड़े पत्थर के मातृदेवी की पूजा के लिए बनाये गये श्रीचक्र में होते हैं। तक्षशिला से प्राप्त वस्तुएँ भी प्राक् मौर्यकाल की अवधि में आती हैं।

तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक के क्षेत्र में प्राप्त काले, बैगनी, सलेटी और सफेद रंग के बलुआ पत्थर की बनी चपटी और कुछ मोटी चकरियाँ (श्रीचक्र) भूदेवी या मातृदेवी की पूजा से सम्बन्धित हैं। बीच में प्रायः चौड़ा छेद भी मिलता है। इनके ऊपर मातृदेवी की मूर्ति उत्कीर्णित है – साथ में फूल–पत्ती और पशु आकृतियाँ भी हैं। ज्यामितीय रेखांकनों और फूल–पत्ती की लतरों का चित्रण भी प्राप्त हो जाता है। अजंता और बाघ के कला–मण्डपों में उरेही गयी कलाकृतियाँ, विश्व–कला में रेखाओं के सुलेखन, रंगों के प्रयोग की विभिन्न परिपाटियों के रूप में अलौकिक हैं।

दूसरी शताब्दी ई० पू० से लगभग तीसरी शताब्दी ई० के पश्चात् तक का युग 'आक्रमणों का युग' कहा जा सकता है। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् मगध और मध्यदेश पर शुंग–वंश तथा दक्षिणापथ में सातवाहन वंश का विस्तार था। कुषाणराज कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध धर्म ने बहुत उन्नति की, शैव और वैष्णव धर्म भी उन्नति की दिशा में बढ़े। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखनेवाले महर्षि पतंजलि शुंग के समकालीन थे।

'महाभारत' और 'रामायण' का संकलन भी इसी युग में हुआ। भास द्वारा लिखित प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, मालविकाग्निमित्र, प्रतिमा नाटक आदि संस्कृत के ग्रंथ इसी युग के हैं। आचार्य अश्वघोष द्वारा लिखित 'बुद्धचरितम्' नामक महाकाव्य तथा नाटक इसी काल के हैं। 'मृच्छकटिक' के लेखक कवि शूद्रक सातवाहन शासनकाल में हुए। 'नाट्यशास्त्र' के लेखक भरतमुनि, 'कामसूत्र' के रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल के हैं।

राजा हाल स्वयं एक समर्थ कवि एवं सिद्ध लेखक थे। 'गुणाढ्य' प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल का था।

बौद्ध और जैन साहित्य को भी विकास का अवसर मिला। षट्दर्शनों का जो रूप वर्तमान समय में उपलब्ध है उसका निर्माण भी इसी काल में हुआ। वैद्यक और ज्योतिष–शास्त्र के उन्नयन को भी बल मिला। चरक संहिता के लेखक आचार्य चरक कनिष्क के समकालीन थे। नागार्जुन वैद्यक के आचांर्य, सिद्ध रसायन शास्त्री, लोहशास्त्र के विज्ञ, रसायन विज्ञान के मूर्द्धन्य पंडित थे। उनका जनन विज्ञान पर भी एक ग्रंथ है। ज्योतिष–शास्त्र की अद्वितीय पुस्तक गर्ग संहिता, जिसके रचयिता गर्गाचार्य थे, इसी काल की कृति है।

शुंग काल के साँची और भरहुत उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भरहुत के विशाल बौद्ध स्तूप की अलंकृत वेदिका शुंग सम्राटों की कीर्ति कथा की परिचायक है। साँची स्तूप की चित्र–विचित्र द्वार–पट्टिकाएँ भी इसी काल की अनुपम शिल्प कृतियाँ हैं। उदयगिरि की गुफाओं में अर्द्धचित्र देखने को मिलता है। अजन्ता की नवीं तथा दसवीं गुहा का अलंकरण शुंग युग में हुआ। कालिदास (ई० पूर्व प्रथम शती) इसी काल के हैं। कालिदास ने विभिन्न घरों, द्वारों, महलों तथा भित्तियों पर चित्रण की परम्परा का बखान किया है। प्रेमियों को प्रेम सन्देश भेजने के लिए चित्रों का उपयोग होता था। विरहिणी यक्षिणी द्वारा अंकित प्रवासी पति (यक्ष) का आकृति चित्र (मेघदूत) तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यन्त ने शकुन्तला का आकृति चित्र बनाया है। इस काल के साहित्य में चित्रकला प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

राजशेखर ने लिखा है कि अवन्ति देश, पारियात्र, दशपुर और कुन्तल देश के राजा सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में प्राकृत को व्यवहार की भाषा के रूप में प्रचलित कर रखा था। हाल की 'गाथा सप्तशती', गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और भरत का 'नाट्यशास्त्र' इसी काल की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

अजन्ता के अतिरिक्त सातवाहन की चित्रकला के अवशेष वेदसा और पीतलखोरा की गुहाओं में प्राप्त होते हैं।.... प्रमुख गुहा के सम्मुख अठपहलू स्तम्भों और प्रकोष्ठ के चौबीस अठपहलू स्तम्भों पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों के चित्र बने हुए थे। किसी स्थानीय शासक द्वारा इस गुहा की सफाई तथा जीर्णोद्धार कराते समय उसमें अंकित चित्रों को बड़ी क्षति पहुँची।[१] पीतलखोरा की भग्न गुहाएँ (चैत्य), खानदेश जनपद के चालीस गाँव स्टेशन से १२ मील दक्षिण की ओर स्थित हैं।

प्राकृत भाषा की कथाकृति 'तरंगवती' में बृहत्कला प्रदर्शनी के आयोजन का उल्लेख है। जैन धर्मावलम्बी श्री पालित इसके लेखक हैं। सातवाहन युग की मुद्राओं में त्रिकूट, षट्कूट और दशकूट आकृतियाँ, 'उज्जैनी' तथा 'सूर्य' चिन्हांकित चतुर्वृत्त मुद्राओं में 'बिन्दु' और 'स्वस्तिक' की संयोजना और उनकी वर्तुलाकार एवं वर्गाकार बनावट आदि उनकी कलाप्रियता के परिचायक हैं।

कुषाणकालीन भारतीय कला 'गान्धार कला' के नाम से विख्यात है। गन्धार कला मूर्तिशिल्प के रूप में प्राप्त है। इस शैली का कला–जगत् में विशिष्ट योगदान है। भारत में ग्रीक सामरिकों के आक्रमण तथा आगमन से नयी जिज्ञासाएँ पनपीं और नये रचना प्रकार प्रकाश में आये। जैसे – वास्तुकला और तक्षण कला (मूर्तिकला) के क्षेत्र में यवन–कला के प्रभाव दिखायी पड़े। ई० पू० प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्ञान–कला–केन्द्र तक्षशिला में निर्मित एक देव मन्दिर के ऊँचे यवन–स्तम्भ और कुछ भवन। कनिष्क के शासनकाल में अश्वघोष, चरक, आर्यदेव, नागार्जुन, कुमारलब्ध, पार्श्व और वसुमित्र आदि महान विद्वान्, कवि और दार्शनिक थे। इसके शासनकाल में गन्धार कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

कुषाणकालीन भारतीय चित्रकला का स्वरूप मध्य एशिया की तत्कालीन कृतियों के द्वारा अनुमानित किया जा सकता हैं जिसके प्रमाण दन्दानउइलिक एवं बालावस्ते आदि में उपलब्ध हैं।

१. **वर्गेस : केव टेम्पुल्स आव वेस्टर्न इण्डिया, पृ० १३०-१३१।**

बालावस्ते से प्राप्त चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय में है। तृतीय–चतुर्थ शता ई० का इस बुद्धाकृति में वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह है। वासुकि से परिवेष्टित मेरु पर्वत और नीचे सागर की लहरें अंकित करके सागर–मन्थन का दृश्य अंकित किया गया है। चन्द्रमा, कमल, अग्नि, वज्र आदि चिन्ह इस आकृति को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करते हैं।

मध्य प्रदेश के भेलसा (विदिशा) जिले में उदयगिरि की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। इनमें ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित चित्र बने हुए हैं। सभी गुफाएँ गुप्तकालीन कला के सुन्दर नमूने हैं। इस काल में चीन की चित्रकला में भारतीय प्रभाव से भित्ति–चित्रण टेकनीक में वहाँ भी बौद्ध धर्म का चित्रण आरम्भ हुआ। इस समय की चित्रकला में चीनी शैली का जन्म हुआ।

श्री राय कृष्णदास ने मानी नामक एक चित्रकार का उल्लेख किया है जिस पर भारतीय प्रभाव था। मानी का प्रभाव ईरानी कला पर बताया जाता है।

मीरान (अफगानिस्तान) में दो भग्न मन्दिर मिले हैं जिनमें भित्ति–चित्र भी हैं। इनमें से एक में बेस्सन्तर जातक की बौद्ध कथा अंकित है। यह चित्र संभवतः चौथी शती ईसवी का है।

१६०८ ई० में बौद्ध लामा तारानाथ ने तिब्बती भाषा में 'भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उसकी पाण्डुलिपि तिब्बत में उपलब्ध हुई है। इसके १३७वें तथा १३८वें पृष्ठ पर 'प्रतिमा निर्माताओं का इतिहास' शीर्षक से तारानाथ ने चित्र तथा मूर्ति निर्माताओं का संक्षिप्त–सा उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है –

प्राचीन काल में मानवीय कलाकारों में चमत्कारिक शक्ति थी और उनकी कलाकृतियाँ अद्‌भुत होती थीं। उनके रूप यथार्थ का भ्रम उत्पन्न कर देते थे। तथागत के परिनिर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् तक इस प्रकार के कलाकार मानवीय रूप में अवतरित हुए और उन्होंने मगध में उपासना हेतु महाबोधि, मंजुश्री एवं दुंदुभीश्वर आदि आठ प्रतिमाओं का निर्माण किया। अशोक के समय यक्ष कलाकारों ने आठ चैत्यों तथा वज्रासन की भीतरी दीवारों की रचना की थी तथा नागार्जुन के समय नाग कलाकारों ने अनेक प्रतिमाओं का सृजन किया था। इस प्रकार देव, यक्ष तथा नाग कलाकारों की प्रतिमाओं ने अनेक वर्षों तक लोगों में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न किया। समय के प्रभाव से इनकी कला भी समाप्त हो गयी और कला के रहस्यों को जाननेवाला कोई भी कलाकार न रहा।

इसके पश्चात् बहुत समय तक कलाकारों की व्यक्तिगत प्रतिभा पर आधारित अनेक शैलियों का प्रचलन रहा। इस समय आकृति–चित्रण की कोई व्यवस्थित परम्परा न चल सकी। तदुपरान्त सम्राट् बुद्ध के समय एक चित्रकार बिम्बसार हुआ जिसने अनेक भव्य एवं विशाल प्रतिमाओं तथा चित्रों की रचना की, जिनकी तुलना पूर्वकाल के देव कलाकारों से की जा सकती थी। अनेक चित्रकार उनके अनुगामी हुए। बिम्बसार का जन्म मगध में हुआ था अतः इस शैली के सभी चित्रकार, चाहे वे कहीं जन्में हों, मध्यदेश की शैली के अनुयायी कहलाये।

सम्राट् शील के समय एक अद्वितीय कलाकार हुआ जिसका नाम श्रृंगधारी था। इसका जन्म मारु प्रदेश (मारवाड़) में हुआ था। उसने यक्षों की परम्परा में अनेक प्रतिमाओं तथा चित्रों की रचना की। इसके शिष्यों को प्राचीन पश्चिमी कला–सम्प्रदाय की परम्परा में माना जाता है।

सम्राट् देवपाल तथा श्री धर्मपाल के समय वरेन्द्र क्षेत्र एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कलाकार धीमान् हुआ। उसका पुत्र 'बित्तपाल' था। ये नाग शैली के अनुयायी थे। पिता और पुत्र के अनुयायियों

की शैली में पर्याप्त अन्तर आ गया। पुत्र बंगाल में रहता था किन्तु उसके शिष्यों की कला मध्यदेशीय परम्परा में गिनी जाने लगी। इसका कारण यह था कि पुत्र की शैली के अनुकर्त्ता प्रधानतः मगध में ही थे। पिता के शिष्यों को पूर्वी परम्परा का अनुयायी माना गया।

नेपाल की प्राचीन कला पश्चिम भारत की शैली के ही समान थी। मध्ययुग की कलाकृतियाँ नेपाल शैली की कही जाती हैं, यद्यपि ये पूर्वी भारत की कला से मिलती–जुलती हैं। परवर्ती युग में नेपाल की कोई अलग परम्परा नहीं दिखायी देती।

कश्मीर में भी प्राचीन भारत शैली तथा आरम्भिक केन्द्रीय शैली की परम्पराओं का अनुकरण हुआ था। पीछे से हसुराज नामक कलाकार ने वहाँ मूर्ति तथा चित्र रचना की नवीन विधियों का आविष्कार किया। इसी को कश्मीर की कला कहा जाता है।

जहाँ–जहाँ बौद्ध धर्म प्रचलित रहा वहाँ उत्तम कलाकार कार्य करते रहे। जो क्षेत्र म्लेच्छों के अधिकार में आ गये वहाँ प्रतिमा निर्माण कला का पतन हो गया। तीर्थंकरों (जैनों) के प्रभाव क्षेत्रों की कला भी निम्नकोटि की थी। यही कारण है कि जिन प्राचीन कला शैलियों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके अवशेष अब नहीं मिलते।

दक्षिण भारत में भी अनेक कलाकार हुए। सब जय, पराजय तथा विजय नामक तीन आचार्यों का अनुकरण करते रहे।

प्राचीन काल में भारत में कई विदेशी प्रभाव भी आये। सिन्धु घाटी की कला पर मेसोपोटामिया का प्रभाव माना जाता है। अशोककालीन कला पर यूनानी प्रभाव के साथ–साथ ईरानी आदि प्रभाव भी आये। सन् ५२ ई० में ईसा के शिष्य सन्त लूका द्वारा चित्रित मरियम तथा शिशु ईसा का काष्ठफलक पर चित्रित एक चित्र सन्त टामस भारत लाये थे जो टामस माउण्ट मद्रास के 'आवर लेडी आफ एक्सपेक्टेशन' नामक चर्च में सुरक्षित है।

इस प्रकार ज्ञात पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मानव के धरतीय पर आगमन के साथ ही चित्रकला का उद्गम हुआ जो मानव मस्तिष्क की उपज थी। यह कला आरंभिक अवस्था में सामान्य और भोथरी रही, धीरे–धीरे उसमें निखार आता गया और एक समय ऐसा भी आया जब चित्रकला अपने पूरे विकास पर पहुँच गयी जिसका प्रमाण अजंता और एलोरा में अंकित चित्र हैं।

का
विकास

दृश्य रूपों की पहली इकाई चित्र है। शब्द में चित्र के तत्त्व होते हैं। प्रकृति ने केवल मानव को ऐसा मानस दिया है जिसमें हरेक चित्र को स्पष्ट किया जा सकता है। आदिकाल से मनुष्य जब शब्द या भाषा का निर्माण नहीं कर पाया था तब भी वह किसी–न–किसी वस्तु से किसी भी आधार पर आरेखित कर अपने भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता था। प्रागैतिहासिक कलावशेषों से मानव हृदय की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों की विशद जानकारी मिलती है। ललित कलाओं में चित्र के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि रही होगी जिसका अनुमान प्राप्त चित्रित गुहाओं से लगाया जा सकता है। भारत के अनेक स्थानों में ये गुहा चित्र प्राप्त हैं। चित्र निर्माण का ज्ञान निश्चय ही प्राचीन मानवों में विद्यमान रहा जिसका अनुमान संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर सहज ही हो जाता है। परम्परा का निर्वाह करनेवाला भारतीय साहित्य चित्रकला का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

वैदिक युग में चित्रकला

वेद विश्व साहित्य का सबसे पुराना ग्रन्थ है। आर्य लोग इसे अनादि, अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानते हैं। इसलिए वैदिक युग हम उस युग को मानते हैं जिसमें गृत्समद, अत्रि, वशिष्ठ, कण्व आदि ऋषियों ने वेद मंत्रों का दर्शन किया तथा वैदिक सूक्तों के अभिप्राय को स्पष्ट किया।[1] वैदिक युग से ही प्रकृति के साथ–साथ पुरुष भी कलागत भावों के परिसर में धर्म या तत्त्व की दृष्टि से 'पुरुष' की धारणा अतिशायिनी है। इस तरह कला के अनेक लक्षण और चिन्ह वैदिक मंत्रों में प्राप्त होते हैं। यज्ञ–वेदियों में रेखाकृतियों का संयोजन ही चित्रकला के प्रादुर्भाव का द्योतक है। पुरुष के साथ प्रकृति के भिन्न–भिन्न रूपों का सृजन देखने से उनके चित्रांकन प्रयास का अनुमान होता है। निश्चय ही यहीं से चित्रांकन की परम्परा प्रारम्भ हुई। ऋग्वेद के 'उषा सूक्त' (१/११३) में उषा देवी की रूप–रचना का वर्णन है। स्वस्तिक, चक्र, पूर्णकुम्भ, कमल आदि कलात्मक संप्रेषण वैदिक काल में हुआ। कलाकारों ने कलाकृति का निर्माण 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (ऋग्वेद १०/१३१/१) के रूप में किया। 'छायातप'[2] की दार्शनिक व्याख्या चित्रकला के छाया एवं प्रकाश का द्योतक है। 'चित्रभित्तिरिव मनोरमम्'[3] चित्रित भित्ति की भाँति मिथ्या किन्तु मनोरम है।

कहा गया है कि वेदों को समझने के लिए इतिहास और पुराणों के अभिप्राय को समझना अत्यावश्यक है। अल्पश्रुत (जिसे अनुश्रुति का ज्ञान न हो) मनुष्य से वेद डरता है, कहीं वह मुझ पर प्रहार न कर दे, अर्थात् मेरे अर्थ का अनर्थ न करे।[4] पुराणों में संकलित अनुश्रुतियाँ निश्चय ही बहुत प्राचीन हैं क्योंकि पुराण के पाँच लक्षण बताए गये हैं।

---

१. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० २६।

२. कठोपनिषद् (१/३/१, २/३/५), मुण्डकोपनिषद् (३/१/१), पंचतंत्र (मित्र संप्राप्ति, १३४)।

३. मैत्रेयोपनिषद् (४/२)।

४. इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहण्येत्। विभेत्यल्प श्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है, सृष्टि के विविध मन्वन्तर (काल–विभाग) कौन–से हैं, इन विविध मन्वन्तरों में किन वंशों ने शासन किया और इन वंशों व राजाओं के चरित्र क्या थे – इन सबका वर्णन पुराणों में वर्णित है।[४] पुराणों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत को भी वैदिक साहित्य के अनुशीलन के लिए उपयोगी माना गया है। पुराणों में चित्रकला सम्बन्धी प्रचुर सामग्री विद्यमान होने से हमें वैदिक युग की चित्रकारियों पर भी पूर्ण रूप से विश्वास कर लेना चाहिए। पुराण काल में चित्रकला पर अधिकाधिक बल दिया गया। गुप्तकालीन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रसूत्र के नौ अध्यायों में चित्र–निर्माण विधि, चित्र प्रशंसा, चित्रकार द्वारा शुभ मुहूर्त में चित्रांकन प्रारम्भ करना, विधि–विधान, रंग–निर्माण प्रक्रिया, भूमि बंधन, रस, भाव आदि का विस्तार से वर्णन है। अजन्ता में वर्णित षड्दन्त जातक में अंकित हाथियों की जल–केलि, स्तम्भ पुत्तलिका, शंख पद्म मोटिफ, उड़ते दिव्य गायक गंधर्व, विरही यक्ष बादलों में उड़ते, वाद्य बजाते किन्नर–किन्नरी, नाग–नागिनी आदि का वर्णन कालिदास के ग्रन्थों में आया है। सित्तनवासल गुफा में चित्रित कमलवन सरोवर का साम्य बाणभट्ट की 'कादम्बरी' के कमलवन से किया जा सकता है। 'दिव्यावदान' के भवचक्र का अंकन अजंता गुफा १७ के बाहरी बरामदे की बायीं भित्ति पर हुआ है। 'ललित विस्तर' में वर्णित सिद्धार्थ की दी जानेवाली कलाओं का अंकन भी अजंता की १७वीं गुफा में है। 'शिल्प शास्त्र' में वर्णित मृत्तिका आदि लेप, लेपद्रव्य, वज्रलेप, सुधालेप, रंग, वर्तिका, तूलिका आदि का उपयोग इन गुहाओं में हुआ है जिसका स्पष्टीकरण रसायन–शास्त्रियों ने कर दिया है। इस प्रकार कलाओं के सभी लक्ष्यों की प्राप्ति चित्रकला द्वारा संभव थी और है, इसकी भी पुष्टि हो जाती है।

(क) पुराण साहित्य

पुराणों की संख्या १८ है[२] तथा इनके भी बहुत–से उपपुराण हैं। भारतीय कलावंतों के साधना पक्ष पर बौद्ध और योग दर्शन के साथ–साथ उपनिषदों एवं पुराणों का प्रभाव भी प्राप्त होता है।

मपुराण – इसके उत्तरखण्ड (२२१/१–११) में केरल राज्य के मंत्री की पुत्री के पास एक 'चित्र–पुस्तिका' थी जिसे उसने राजकुमारी हेमगौरांगी को दिखलाया। तब राजकुमारी ने निश्चय किया कि उसमें चित्रित तीर्थों का वह अवश्य भ्रमण करेगी। इसी पुराण के सृष्टिखण्ड (४३/४४६) में कहा गया है कि भगवान् शंकर के क्रीड़ागृह की भित्ति पर पालतू मयूरों और राजहंसों के भव्य चित्र अंकित थे।

स्कन्दपुराण – पुरी, प्रासाद आदि के वर्णन में चित्रकर्म (प्रासादीय चित्र) का कहीं–कहीं उल्लेख मिलता है। इस पुराण के नागरखण्ड में वर्णन है कि राजकुमारी रत्नावली जब विवाह योग्य हो गयी थी तो उसके पिता अनर्तराज ने सुयोग्य वर की खोज के लिए दूर–दूर देशों में अपने चित्रकारों को भेजा था। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि वे प्रत्येक सुयोग्य राजकुमार का चित्र चित्रित कर उसके समक्ष उपस्थित करें। चित्रकारों द्वारा लाये गये चित्रों को देखकर राजकुमारी ने अपने लिए वर का चुनाव किया था।

मत्स्यपुराण – इसके १२६–१३०वें अध्यायों में असुर शिल्पी मय द्वारा निर्मित त्रिपुर भवन का विशद वर्णन है जिसको अनेक चित्रशालाओं से युक्त बताया गया है।

अग्निपुराण – इसमें मूर्तिकला के सम्बन्ध में जो प्रमाण तथा अनुपात उल्लिखित हैं वही सब

---

४. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्तन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्।।

१. (१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) शिव (५) भागवत (६) नारदीय (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्य (१०) ब्रह्मवैवर्त (११) लिंग (१२) वराह (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड़ (१८) ब्रह्माण्ड।

चित्रकला में प्रयुक्त होते हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराण – एक स्थापत्य शिल्पी शूद्र का पुत्र व्यावसायिक चित्रकार था।

भागवतपुराण – इसमें उषा–अनिरुद्ध के प्रेम विवाह (१०/२/६२) की कथा है। उषा की सखी चित्रलेखा ने अनेक राजकुमारों का चित्र अंकित किया था जिसमें अनिरुद्ध का भी चित्र था, जिसे देखकर उसने स्वप्न दृष्ट अपने भावी पति को पहचान लिया और अंततः उससे विवाह हुआ।

हरिवंशपुराण – इसके ५५वें सर्ग में बाणासुर की पुत्री उषा और अनिरुद्ध के मिलन की कथा है। उषा को उदास देखकर उसकी सखी चित्रलेखा ने संसार भर के प्रसिद्ध पुरुषों का चित्र अंकित करके उसके सम्मुख प्रस्तुत किया, जिन्हें देखकर उसने अपना मनोभिलषित प्रियतम पहचान लिया। इस कथानक में चित्रकर्तृ चित्रलेखा का उल्लेख मिलता है। २४वें सर्ग में कृष्ण और रुक्मिणी की प्रणय कथा का वर्णन है –

कृष्णं भीष्मसुताचित्र भित्तौ नारद चित्रकृत।
वर्णरूपवयोविद्धं विलिख्य बहिरुधयौ।।४४।।
विलिख्य पट्टके स्पष्टं रुक्मिण्या रूपमद्भुतम्।
हरयेऽदर्शयद्गत्वा चित्तसंमोहकारणम्।।४५।।
दृष्ट्वा चित्रगतां कन्यां श्यामां स्त्रीलक्षणाञ्चिताम्।
पप्रच्छ हरिरित्येवं द्विगुणादरसंगतः।।४६।।
कस्येयं भगवन् ! कन्या विचित्रा पट्टके त्वया
दुष्करं मानुषीं क्षिप्त्वा विचित्रासुरकन्यका।।४७।।

अर्थात् नारद–रूपी चित्रकार, रुक्मिणी के हृदय–पटल पर वर्ण, रूप तथा अवस्था से युक्त कृष्ण का चित्र अंकित कर चले गये। तत्पश्चात् नारद ने चित्रपट पर रुक्मिणी का विभ्रम उत्पन्न करनेवाला रूप अंकित किया और उस चित्रपट को श्रीकृष्ण को दिखाया। उस चित्रगत कन्या को देखकर कृष्ण ने उक्त कन्या के सम्बन्ध में नारद से जिज्ञासा की। नारद को चित्रकृत कहने का तात्पर्य सम्भवतः चित्रकार से हो सकता है।

इस पुराण के एकादश सर्ग में कहा गया है कि चक्रवर्ती भरत के यहाँ निन्यानबे हजार चित्रकार उसकी निधि थे – **'चित्रकार सहस्त्राणि नवतिर्नवाभिः सह'।।१२६।।** इससे निष्कर्ष निकलता है अधिक–से–अधिक लोग चित्रकला की जानकारी रखते थे।

इसके ५६वें सर्ग में भगवान् नेमिनाथ के गिरनार पर्वत पर बिहार के प्रसंग में गुह्य जाति के देव कुंकुम (केसर पुष्प) के रस से नाना प्रकार के बेल–बूटे बनाकर अपने चित्रकर्म की कुशलता को प्रकट करते थे।

गुह्यकाश्चित्रपत्राणि चिन्वेत कौङ्.कुमै रसैः।
चित्रकर्मज्ञतां चित्रां स्वामाचिख्यासवो यथः।।५६।।४३।।

अन्यत्र भी मण्डप की चित्रभित्ति रत्नमयी लता के चित्रों से सुशोभित थी – **'युक्तो रत्नलता चित्रभित्तिभिः'** (५६/६२)। आठवें सर्ग में उल्लेख है कि कितनी ही देवियाँ मरुदेवी के अक्षर आलेख्य (चित्र) आदि कला–कौशल की प्रशंसा करती थीं (**'अक्षरालेख्य..। कलाकौशलमन्यास्स् प्रशंसन्ति**

समन्ततः'।।४३।।) चित्रादि कलाओं में कुशल व्यक्ति प्रशंसित होते थे।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण – यह (३री–४थी शती) में रचित ग्रन्थ विष्णुपुराण का परिशिष्ट है। इसके तृतीय खण्ड में अध्याय ३५–४३ तक 'चित्रसूत्र' प्रकरण को संवादात्मक रूप में वर्णित किया गया है जिसमें चित्र–सम्बन्धी अनवरत परिचय है।

चित्रसूत्रम् भारतीय चित्रकला के विधि–विधान एवं नियमों को जानने एवं समझने के लिए उत्तम ग्रन्थ है लेकिन चित्रसूत्रकार का कहना है कि चित्रसूत्र को भलीभाँति समझने के लिए सर्वप्रथम नृत्तशास्त्र (नाट्यशास्त्र) का अध्ययन कर लेना चाहिए क्योंकि नृत्त एवं चित्र दोनों का विषय समान है। दोनों दृश्य कलाएँ हैं और इन दोनों की भावाभिव्यक्ति एवं अंग–प्रत्यंग की भंगिमाओं एवं मुद्राओं में सब प्रकार से साम्य है।

जिस प्रकार भावाभिव्यक्ति एवं नृत्त (अभिनय) के लिए हस्त मुद्राएँ बतायी गयी हैं वैसे ही चित्र के लिए भी अपेक्षित हैं।

दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः।।
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।।६।।
त एवं चित्रे विज्ञेया नृत्तंचित्रं परं मतम्।।
नृत्ते प्रमाणं येनोक्तं तत्प्रवक्ष्याम्यतः शृणु।।७।।

चित्रसूत्र में मार्कण्डेय मुनि ने राजा वज्र की चित्रकला सम्बन्धी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान किया है। इसके छोटे–छोटे अनुष्टुप छन्दों में चित्रगत गंभीर भाव भरे हुए हैं। भारतीय चित्रकला–साहित्य में चित्र की परिभाषा तथा विधि–विधान इत्यादि की प्रौढ़ परम्परा को प्रदर्शित करनेवाला यह एक अनुपम ग्रन्थ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मार्कण्डेय मुनि ग्रन्थ के समझने का रहस्य बतलाते हुए कहते हैं – **'बिना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्।'**

अर्थात् नृत्तशास्त्र के अभ्यास के बिना चित्रसूत्रम् को समझना–इसका अर्थ लगाना कठिन है। आगे चित्रसूत्रकार का कहना है कि स्त्रियों का यथोचित स्थान पर यथोचित आभूषण पहनने की भाँति ही चित्रकार को रेखा, रूप और रंग का ज्ञान आवश्यक है।

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्त्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः।।

भारतीय चित्रकला की व्यापकता और इसके विधि–विधान का नौ अध्यायों में विस्तृत वर्णन है। (१) आयोमाच्छायमानम् (२) प्रमाणाध्याय (३) सामान्यमानम् (४) प्रतिमालक्षणाध्याय (५) क्षयवृद्धयध्याय (६) रंगव्यतिकर (७) रंगवर्तना (८) रूपनिर्माणम् और (६) श्रृंगारादिभावयुक्तादि। अन्य अध्यायों में भी रूप निरूपित है। रेखा में चित्र मूर्तिमान होता है। ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी का भार और साज–सज्जा (राज्योचित कर्तव्य) राजा से ही जाना जाता है (राजा पर निर्भर है) वैसे ही माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण से सम्पन्न जीवित प्राणी की भाँति साँस लेता हुआ–सा जो चित्र है वही चित्र शुभ लक्षण वाला है।

'चित्रसूत्र' अध्याय ३५ में शरीर की ऊँचाई के अनुसार पाँच प्रकार के पुरुष माने गये हैं। यथा – हंस, भद्र, मालव्य, रुचक और शशक। इसी प्रमाण के अनुरूप देवता, मनुष्य आदि अंकित किये जाते थे। अ० ३५ से ३६ तक विभिन्न अंगों के प्रमाण, शरीर मुद्राओं (ऋज्वागत आदि स्थान) के माप का

वर्णन है। अध्याय ४० में लेप्यकर्म, वज्रलेप और रंग बनाने की विधि दी गयी है। अध्याय (४१. १) में सत्य, वैणिक, नागर और मिश्र इन चार प्रकार के चित्रों को मुख्य माना गया है। जगत् की वस्तुओं का तद्वत् चित्रण करने के साथ ही उसमें थोड़ी कल्पना का समावेश करके चित्र को प्रस्तुत करना ही 'सत्य' है, जिसे सुकुमार से प्रमाण तथा आधार से युक्त तथा (नितम्ब से नीचे के) लम्बे अंगों वाला होना चाहिए। जो चित्र चतुरस्त्र, सुडौल एवं परिपूर्ण हो, न लम्बा हो, न उत्कट आकृति वाला हो परन्तु आधार एवं प्रमाण से युक्त हो, उसे 'वैणिक' कहते हैं। जिसके सभी अंग दृढ़ एवं पुष्ट हो और न गोल हों न उत्कट उसे 'नागर' चित्र कहते हैं। स्वल्प मालाओं एवं आभूषणों से युक्त चित्र 'मिश्र' कहलाता है। वर्तना भी तीन प्रकार की कही गयी है :– पत्रवर्तना, आहैरिक वर्तना और बिन्दुवर्तना। चित्र में सादृश्य दिखाना ही चित्र की विशेषता है –

'चित्रे सादृश्यकरण प्रधानं परिकीर्तितम्'

जैसे किसी सरोवर का चित्र खींचना है तो उसमें मछली, कछुए – जैसे जल–जन्तुओं तथा सेवार, कमल तथा पक्षियों का चित्रण करना सादृश्य चित्रण है।

अध्याय ४२ में मनुष्य, देव, दानव आदि के 'रूप निर्माण' का वर्णन है और 'ऋतुचित्र' बनाने की बहुत प्रशस्त नियमावली दी गयी है। संध्या, उषाकाल, रात्रि आदि प्रकृति चित्रों के निर्माण करने के नियम और विधान भी चित्रसूत्र में दिये गये हैं। रात्रि का अंकन करने के लिए आकाश में चन्द्रमा, तारे, सोते हुए व्यक्ति, चोरी करते चोर, अर्द्धरात्रि में कृष्णाभिसारिका नायिका, डाकिनी आदि का अंकन करने का निर्देश है। (अ० ४३) में 'नवरस चित्रण विधान' में युद्ध, श्मशान, करुणा और अमंगल के चित्र अपने घर में कदापि नहीं लगाना चाहिए, किन्तु राजसभा और देवमन्दिरों में सभी रसों के चित्र रखे जा सकते हैं। आवासगृहों में श्रृंगार, हास्य, शान्त रस के चित्र लगाना चाहिए। निधिश्रृंग, विद्याधर, हाथ में निधियों को लिये हुए मतंगज, गरुड़, ऋषि इत्यादि मांगलिक पदार्थों को घरों में सदा चित्रित करना चाहिए। **'चित्रकर्म न कर्त्तव्यमात्मना स्वगृहे नृप'** (४३. १७) चित्रकार को अपनी चित्रकारी को स्वयं अपने घर में ही नहीं सीमित रखना चाहिए। बल्कि दर्शकों के सम्मुख एवं प्रतिस्पर्धाओं में रखकर यश एवं धन का अर्जन करना चाहिए।

तृतीय खण्ड के चालीसवें अध्याय में चित्र का दोष बताते हैं –

दौर्बल्यबिन्दु रेखत्वमविभक्तत्वमेव च।।७।।
बृहदण्डौष्ठ नेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च।।
मानवाकारता चेति चित्रदोषाः - प्रकीर्तिता।।८।।

रेखा में बिन्दु की दुर्बलता और उसी तरह अविभक्तता (एक–दूसरे का समान न होना) बड़े होंठ, अण्ड (पुल्लिंग) और नेत्र एक दूसरे के अविरूरु हो मानवाकार चित्र में अण्डकोश से एक सीधी रेखा (ब्रह्मरेखा) खींची जाती है जिसमें बिन्दु गति करता है जितनी बायें उतनी ही दायें भाग में भी अंगों का विन्यास हो और यदि एक–दूसरे से विरुद्ध (विपरीत) दिखायी देंगे तो वह चित्र दूषित है (चित्रदोष है)। इसी तरह चित्र के गुण भी हैं।

स्थान प्रमाण भूलम्बो मधुरत्वं विभक्तता।।
सादृश्यं पक्षवृद्धिश्च गुणश्चित्रस्य कीर्तिताः।।६।।

आधार, प्रमाण (परिमाप), भूलम्ब (यथोचित) हो, मधुरता (लावण्य), विभक्तता (समान रूप से

ऊँचा–नीचा, मोटा–पतला), सादृश्य (समान आकृति) और पक्षवृद्धि (एक–एक पक्ष की वृद्धि) ये चित्र के गुण हैं। ४१वें अध्याय के ८३वें श्लोक में चित्र को स्थापना, समय, देश और अवस्था के अनुरूप बनाया जाय तो वह प्रशंसनीय होता है –

यथादेयं यथाकालं यथादेशं यथावयः।
क्रियमाणं भवेद्धन्यं विपरीत मतोऽन्यथा।।८३।।

बयालीसवें अध्याय में चित्र के लिए नौ रस बताये गये हैं –

श्रृंगारहासकरुणवीर रौद्र भयानकाः।।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव चित्ररसाः स्मृताः।।१।।

श्रृंगार, हास, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त नौ रस कहे गये हैं। आगे रसों के अनुसार आकृतियों का अंकन–स्वरूप बताया है –

तत्र यत्कान्तिलावण्यलेखा माधुर्य सुन्दरम्।
विदग्धवेशाभरणं श्रृंगारे तु रसे भवेत्।।२।।

जिसमें कान्ति, लावण्य–खचित माधुर्य आदि गुण, सुन्दर, विदग्ध (बुद्धिमान, तेजस्वी) वेश (रूप) तथा आभूषण से युक्त हो वह श्रृंगार रसवाला है।

यत्कुब्जवामन प्रायमीषद्विकट दर्शनम्।
वृथा च हस्तं संकोच्य तत्स्याद्धास्यकरं रसे।।३।।

जो कुबड़ा, बौना, देखने में थोड़ा विकटप्राय (अलग–सा) हो और हाथ को व्यर्थ में घुमाता हुआ (हँसने के उपयुक्त कार्य) हो वह हास्य रसवाला है।

याञ्चाविरहासन्नत्यागविक्रय व्यसनादिषु।
अनुकम्पितकं यत्स्याल्लिखेत्तत करुणा रसे।।४।।

याचना, विरह, आसन्नत्याग (वियोग), व्यसन आदि में विक्रय (बिकना), अनुकम्पा (कृपा में रहना) जिसमें लिखा हो वह करुण रसवाला है।

पारुष्यविकृति क्रोधविषरत्यर्था न दूषणम्।
दीप्रशस्त्राभरणवत्कृतं रौद्ररसे भवेत्।।५।।

कठोरता, विकृत रूपवाला विष के समान क्रोध से काला (हिंसात्मक भाव) जहरीला, युद्ध के अस्त्रों को आभूषण के समान धारण किया हुआ हो वह रौद्र रसवाला है।

प्रतिज्ञागर्भशौर्यादिष्वर्थेष्वौदार्य दर्शनम्।
सस्मयं सुभ्रुकुटिवद्धीरं वीररसेऽद्भुतम्।।६।।

शौर्य (स्थायीभाव) आदि प्रतिज्ञा से युक्त, देखने में उदार, वीरता से भौंहों का सिकुड़ना, वीरता में युक्त अद्भुत रस है।

यद्यत्सौम्याकृतिध्यानधारणासन बन्धनम्।
तपस्विजन भूयिष्ठं तत्तु शान्ते रसे भवेत्।।१०।।

सौम्य आकृति, ध्यान में आसन लगाये हुए, तपस्वीजन की तरह भूमि पर बैठा हुआ वह शान्त रसवाला होना चाहिए। इस तरह घरों में श्रृंगार, हास्य और शान्त रस से युक्त चित्र हों तथा राजभवन और देवमन्दिरों में सभी रसों से युक्त चित्र हों।

चित्र की प्रशंसा में उल्लेख है – जिस प्रकार पर्वतों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, मनुष्यों में राजा प्रधान है, वैसे ही कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करनेवाली है। जिस गृह में उसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहाँ मंगल होता है।

गरुड़पुराण – अ० ४५, ४६, ४७, ४८ में भवन निर्माण, दुर्ग–निवेश, पुर–प्रवेश, उद्यान–भवन और प्रतिमा विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार हमारे पुराणों में चित्रकला के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

'चित्रसूत्र' की ही भाँति चित्रकला सम्बन्धी चार और ग्रन्थ है। (१) समरांगण सूत्रधार, (२) अभिलषितार्थ चिन्तामणि या मानसोल्लास, (३) अपराजितपृच्छा और (४) शिल्परत्न। नग्नजित् का 'चित्रलक्षण' तथा कुछ अनुपलब्ध ग्रन्थ के नाम प्राप्त हैं जैसे - नारदशिल्प, शिवतत्त्वरत्नाकर, शिल्पशास्त्र, प्रजापतिशिल्प तथा सरस्वतीशिल्प आदि।

समरांगण सूत्रधार – ११वीं शती में परमार राजा भोज द्वारा रचित वास्तुकला के इस ग्रन्थ में ८४ अध्याय हैं जिसमें ७०–८३वें अध्याय तक में मूर्तिरचना विधि के प्रतिपादन के बीच–बीच में चित्ररचनाविधि की भी व्याख्या है। सत्तरहवें अध्याय में शिव के प्रतीकस्वरूप अनेक प्रकार के लिंगों को बनाने का विधान है। इकहत्तरवें अध्याय में चित्रकला सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण है। चित्रकला सब कलाओं में प्रमुख है। सभी वर्ग के व्यक्ति इस कला से आनन्दित होते हैं। भित्तियों, पट्टों अथवा वस्त्रों पर चित्रों को आँकना चाहिए। प्रतिपाद्य विषयों का भी वर्णन है। बहत्तरवें अध्याय में प्रधानतया उस भूमिबन्ध अर्थात् भित्तितल के बाह्यतल को विभिन्न प्रकार की तूलिकाओं द्वारा एक विशेष प्रकार के प्रलेप से बनाने की विधि और उसकी उपादान सामग्रियों का भी वर्णन है। इसके साथ–साथ गीले रंगों की रचनाविधि का भी उल्लेख है। तिहत्तरवें अध्याय में प्रसंगानुकूल भूमिबन्ध विधान में विभिन्न प्रकार की तूलिकाओं में उपयोज्य प्रलेप को बनाने की विधि का वर्णन है। चौहत्तरवें अध्याय में भूमिबन्ध के विभिन्न भागों को अंकनीय चित्र के विभिन्न अंगों को चित्रित करने के लिए कलाकारों को निर्देश दिया गया है। पचहत्तरवें अध्याय में 'मानों' अर्थात् 'परिमाणों' का उल्लेख है। परन्तु ग्रन्थ के छिहत्तरवें अध्याय में मूर्तियों की विलक्षणताओं का और सतहरत्तवें अध्याय में इस बात का विशदरूप से वर्णन है कि देवों तथा अर्धदेवों की आकृतियों के विभिन्न अंगों की रचना किस प्रकार से करनी चाहिए और उनकी रचना में कौन–से रंगों का प्रयोग वांछनीय है। इकहत्तरवें अध्याय के (१४–१५) में चित्रकर्म के आठ अंग माने गये हैं – (१) वर्तिका, (२) भूमिबन्धन, (३) रेखा–कर्म, (४) लक्षण, (५) कर्षकर्म, (६) वर्तनाकर्म (७) लेखकरण और (८) द्विकर्मक। यह भी कहा गया है कि शास्त्रानुसार कर्म अथवा कर्मानुसार शास्त्र जानने से ही काम नहीं चलता। दोनों का ज्ञान अनिवार्य है और दोनों का सम्यक् ज्ञान रखनेवाला चित्रकार ही श्रेष्ठ होता है।

अभिलषितार्थ चिन्तामणि या मानसोल्लास – चालुक्यवंशीय नरेश सोमेश्वर का १२वीं शती का 'मानसोल्लास' नाम का ग्रन्थ मैसूर विश्वविद्यालय से १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। **'सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत्'** (६३६)। दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति सादृश्य को लिखना विद्धचित्र है तथा **'दृश्यमानस्य चेतसः'** सादृश्य का अनुभव चित्रकार अपने मन में करता है।

'आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते। आकारमात्रसम्पत्त्वे तदविद्धिमिति स्मृतम् (६४०–६४१)' आकस्मिक कल्पना अथवा स्मृति पर आधारित रेखांकन को अविद्ध चित्र कहते हैं।

श्रृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते।।६४१।।

भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम्।
सद्रवैवर्णकैर्लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः।।६४२।।

रस चित्रों की रचना विचक्षण या निपुण चित्रकार करते हैं। श्रृंगारादि नव–रसों के चित्रण को रस–चित्र कहते हैं जिसे चित्रकौतुककार अर्थात् चित्र को अच्छी तरह समझनेवालों ने 'भाव–चित्र' नाम दिया है।

'चूर्णितैर्वर्णकैर्लेख्यं धूलिचित्रं विदुर्बुधाः'। रंग के चूर्ण को भुरककर या पानी में घोलकर भूमि पर चित्रांकन किया जाता है जिसे 'धूलि चित्र' कहते हैं।

आजकल जिस प्रकार सोना लगाकर चित्र को घोंटा जाता है, कुछ इसी प्रकार की विधि का सोमेश्वर ने भी उल्लेख किया है। इस समय चित्र को सुअर के दाँत से घोंटा जाता था। लेखक ने धारागृहों (स्नानागारों) को जलक्रीड़ा करते हाथियों एवं बन्दरों के मिथुनों से तथा अन्य स्थानों को स्त्री–पुरुषों के मिथुनों से अलंकृत करने का भी निर्देश किया है। अभिलषितार्थ का क्रम कुछ परिवर्तित करके ही मानसोल्लास की रचना की गयी है। इसके प्रथम अध्याय (१३४–१३६) में रंगों एवं प्रकाश की अनुभूति का सुन्दर वर्णन किया गया है –

'चन्द्रकिरण के समान चमकते हुए वास्तु से युक्त महल बनवाना चाहिए। उसमें कहीं महीन जालियों से प्रकाश आता हो, कहीं चारों तरफ इतना खुला हो कि कमरा पूरे प्रकाश से भर जाय, कहीं ऐसा हो कि किंचित्मात्र भी प्रकाश न हो, उसमें जाने से बिल्कुल रात ही जान पड़े। कहीं ऐसा हो कि अँधेरे में दीपों से कमरा प्रकाशित रहता हो, जिसमें मतवाले हाथियों के चित्र बने हों, जिसमें सोने के स्तम्भ लगे हों, कहीं–कहीं चन्दन के स्तम्भों से सुशोभित हो, कहीं–कहीं रत्नों से जटित स्तम्भ मन का हरण कर रहे हों। वहाँ का फर्श काँच–मणि स्फटिक के समान चमकदार बनाया गया हो, उसकी दीवारों पर नाना प्रकार के सुन्दर चित्र बने हों।'

रंग–निर्माण के विषय में कहा है – श्वेत रंग के लिए शंख का चूर्ण, शोण रंग के लिए हिंगुल, रक्त वर्ण के लिए लाक्षारस, लोहित रंग के लिए गैरिक, पीत रंग के लिए हरिताल, कृष्ण रंग के लिए कज्जल – इस प्रकार श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण ये चार शुद्ध रंग सभी में प्रयुक्त होते हैं।

सुनहरे रंग के निर्माण की विशेष विधि बतायी गयी है। शुद्ध सोने के पत्र को पत्थर के खरल में खूब घोंट डाले। तत्पश्चात् उसे काँसे के कटोरे में जल के साथ खूब हिलायें। बार–बार जल को गिराकर नये जल से उसे तब तक धोया जाय, जब तक मिट्टी या पत्थर के कण उसमें से निकल न जायँ। पानी के साथ मिलाने से सोने के कण भारी होने के कारण नीचे बैठ जाते हैं और पत्थर के कण ऊपर आ जाते हैं। इस कारण पानी के साथ स्वर्ण–कण नहीं बहते, केवल प्रस्तर–कण बह जाते हैं। बाल सूर्य के समान इस स्वर्ण चूर्ण को वज्रलेप में मिलाकर सुनहरा रंग तैयार करे। जब चित्र में लगाया गया रंग सूख जाय, तब शूकर दन्त से उसे धीरे–धीरे खूब घोंटे, जब तक कि वह बिजली के समान चमकने न लगे।

चाक या पेस्टिल रंग को वर्तिका अथवा कर्णिका कहा गया है। उसके निर्माण की विधि भी

बतलायी गयी है।

काजल को भात के साथ खूब घोंटकर कर्णिका के समान बत्ती बना ले। इस बत्ती से दीवाल (आधार) पर चित्र का प्रारूप बनाये।

शंखचूर्ण, मिश्री (सिता), वज्रलेप ओर 'चन्द्रसमप्रभ' श्वेत जस्ताभस्म (जिंक आक्साइड) से भित्ति बार-बार लीपी जाती थी और स्वच्छ दर्पण तुल्य हो जाने पर चित्रकार उस पर आलेखन करते थे।

इसमें चार शुद्ध वर्ण (मूल रंग) और नाना प्रकार के मिश्र वर्ण बनाने की प्रक्रिया स्वर्ण प्रयोग विधि का निम्नोन्नत प्रदेशों में छाया-प्रकाश आदि वर्तना विधि को बतलायी गयी है। लेखनी तीन प्रकार की होती थी – स्थूल, मध्य और सूक्ष्म। 'चित्रसूत्र' की परम्परा के अनुसार सोमेश्वर भी नवस्थान (ऋज्वागतादि) तथा तालमान का वर्णन करते हैं।

मानसार ग्रन्थ – इसमें सत्तर अध्याय हैं, बयालीस अध्यायों में वास्तुकला का और इक्कीस अध्यायों में मूर्ति-रचना कला का प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ में मूर्तियों की सफल रचना के लिए चित्रकला के रचना-विधान का ज्ञान होना अनिवार्य रूप से आवश्यक माना गया है। क्योंकि मूर्तिकला-रचना-विधान में विभिन्न देवों, देवियों के शरीरों और उनके वस्त्रों के रंगों का निरूपण किया गया है। जैसे ब्रह्मा का पूरा शरीर सुनहरे रंग का, विष्णु का श्याम रंग का, उनके वस्त्रों का पीत रंग का, शिवमूर्ति का लाल रंग का और उनकी ग्रीवा के वामभाग में कालकूट विष के चिन्ह को बनाना आवश्यक कहा गया है। इसी प्रकार से मानसार में बौद्ध, जैन तथा अर्द्धदेवों की मूर्तियों के शरीर तथा उनके वस्त्रों के रंगों का बहुत वर्णन है। इसके अनुसार प्रथम चित्राचार्य वर्धकी है।

अपराजित पृच्छा – इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता, पत्र एवं कंटक के अनुरूप नागर, द्राविड़, वेसर कलिंग, यामुन तथा व्यन्तर नाम की छह चित्रशैलियों का प्रतिपादन है। यह मध्यकालीन कृति है तथा समरांगण सूत्रधार का परवर्त्ती है। चित्रशास्त्र के प्रतिपादन में इसकी कुछ नयी देन है। **'चित्र मूलोदभवं सर्वं त्रैलोक्य सचराचरम्'** इन तीनों लोकों में चित्र ही इस चल और अचल जगत् की उत्पत्ति का कारण है।

शिल्परत्न – यह कृति १६वीं शती की है फिर भी मध्यकालीन उत्थानों का इस ग्रन्थ में पूर्ण ब्यौरा प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र के क्षेत्र और विषय दोनों का ही संकेत है। चित्र के प्रकार, आधार, वर्ण, लेखन विधि तथा लेखनी, मान एवं मुद्रादि के साथ साथ वर्णों एवं विन्यासों पर सम्पूर्ण विवेचन प्राप्त है। यह ग्रन्थ उत्तर भारत के मुगलशासक अकबर के काल का है। द्राविड़ परम्परा वाले इस ग्रन्थ के ४६वें अध्याय का नाम है। केरल की चित्र-परम्परा का शास्त्रीय रूप चित्रलक्षण में ही लिपिबद्ध हुआ है। श्रीकुमार का यह ग्रन्थ कुछ परिवर्तन के साथ प्राचीन शिल्पशास्त्रों तथा आगमों पर ही आधारित है। इसमें निम्नलिखित विषय वर्णित हैं – चित्र की परिभाषा, उपयुक्त विषय, भित्ति निर्माण एवं लेप, मूल रंग को बनाने की विधि, भित्ति को चिकना बनाना, आरम्भिक रेखांकन, रंग और रीति, तूलिका निर्माण विधि, द्वितीय रेखांकन, नवस्थानक रेखा, चित्र के प्रभाव, अन्तिम रेखांकन, लाल रंग के भेद, चित्रों की घुटाई, रंगों में मिलानेवाले बाह्य पदार्थ, मिश्रित रंग तथा वर्जितचित्र-विषय।

चित्र तीन प्रकार के होते हैं – चित्र, अर्द्धचित्र, चित्राभास। संसार में जो कुछ भी जंगम और स्थावर (प्रकृति और पुरुष) है उनको उनके स्वभावानुसार चित्रित करना तथा शरीर के सभी अंगों के

सादृश्य को प्रस्तुत करने को ही चित्र कहते हैं। भित्ति से लगे हुए (चिपका–सा प्रतीत होनेवाला) चित्र को अर्द्धचित्र (रिलीफ) कहते हैं। तूलिका (ब्रश) से बनाये गये चित्र को शिल्पवेत्ताओं ने चित्राभास नाम दिया है।

चित्र और अर्द्धचित्र को मिट्टी, चूना, कठोर पत्थर, लोहा या काठ से बनाया जाता है। इन द्रव्यों का प्रयोग देखे और सुने गये के अनुसार ही करना चाहिए तथा चित्राभास की रचना सुधा (चूना) से चिकनी की हुई भित्ति के ऊपर अनेक रंगों से तथा अनेक युक्तियों से सभी स्थानों पर करना चाहिए। इसको अन्दर और बाहर की सभी भित्तियों पर युक्तियुक्त (उचित) एक मार्ग पर ही चित्रण करना चाहिए।

यहाँ पर अच्छे विचारों (मन्त्रों) वाले तथा महान् आकृतियों (मूर्तियों) सहित मंगलकारी कथाओं का चित्रण करना चाहिए। मनुष्य के निवास–गृहों पर नग्न आकृतियों तथा तपस्वी की लीला का चित्र नहीं होना चाहिए। आगम, वेद, पुराणों में कही गयी कथाओं को नाना वर्णों द्वारा न ही अधिक न्यून (कम) और न ही बहुत अधिक रमरणीय लिखने योग्य चित्रों को चित्रित करना चाहिए।

इस प्रकार उचित आकार, रस और भाव आदि क्रियाओं से युक्त वह चित्रकर्त्ता (चित्रकार) और भर्त्ता (गृहनिवासी) दोनों के लिए कल्याणकारी फल देनेवाला होता है। इसके विपरीत चित्र बनाने से विपरीत फल मिलता है। अतः दोनों लोकों में सुख की इच्छा रखनेवालों को विपरीत फल–वाले चित्र नहीं बनाने चाहिए।

चित्र बनाने की प्रक्रिया को अज्ञानी लोगों के लिए हितकारी बताते हुए आगे कहा गया है कि भित्ति को सबसे पहले पूर्ण रूप से सुधा (चूने का गाढ़ा लेप) से धवलित करना चाहिए।

आकृति (कुड्य) बनाने का विधान स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पेस्ट (मक्खन) बनाकर ब्रश द्वारा आकृति विधान करना चाहिए। आकृति विधान करनेवाले इस पेस्ट को जले हुए काठ (राख) तथा शंख के चूर्ण एक भाग (चतुर्थांश) सुधा चूर्ण, बालू को गुड़ जल से गीला करे। तत्पश्चात् बालू तथा सुधा के परिमापानुसार काठ की राख में पके हुए केले का फल पीसकर मिलाना चाहिए। इस पिष्ट प्रमाण में चूने को डालकर कठौते में एक माह तक मिलाना चाहिए।

उचित परिमाप वाले लोहे अथवा काठ के ब्रश द्वारा, ब्रश के पीछे के भाग से ऊँचे और नीचे प्रदेश को अलग–अलग करके समतल पर उस पिष्ट (तैयार किया हुआ पेस्ट) से क्रम से धीरे–धीरे लिखना चाहिए।

ब्रश से लिखे हुए उस भाग को जल से धोकर सूख जाने पर ही चित्रार्थ रंग लगाना चाहिए। काठ पर चित्रण करने के लिए सुधा लेप न लगाकर चिकना करने के तुरन्त बाद ही रंग लगाना चाहिए।

सफेद, पीला, लाल और काला ये शुद्ध रंग हैं। इसी प्रकार श्याम रंग भी शुद्ध है। इन रंगों को बनाने का विधान आगे बतलाते हैं।

शंख, शुक्ति (सीपी) आदि का चूर्ण, सफेद मिट्टी का चूर्ण तथा सुधा से तैयार किया गया कुड्य ये सफेद रंग हैं। इनमें कैंथा और नीम से निचोड़े गये रस को मिलाकर काठ या भित्ति पर आलेप करना चाहिए। दीवाल को चिकना करने के लिए शाखोटक की छाल अथवा केतकी के पत्तों का रस बार–बार लगायें।

रंग बनाने के लिए उस सुधा चूर्ण को नारियल जल में भींगा कर गर्म पानी से गूँथें। दर्पण

के ऊपरी सतह के समान चिकने काष्ठफलक, वस्त्र अथवा सफेदी की हुई दीवाल पर इस रंग द्वारा चित्र–लेखन करना चाहिए।

पुराने ईंटों के चूर्ण तथा गोबर के चूर्ण में ठण्डा पानी मिलाकर बनायी गयी तीन अंगुल लम्बी किट्ट लेखनी (Crayon) द्वारा भित्ति पर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग, लता, वृक्षादि, पर्वत, सागर आदि आकृतियों को सुखपूर्वक प्रसन्न मुद्रा में शुभ मुहूर्त में स्वस्थचित्त होकर पुनः – पुनः स्मरण करके चित्रित करना चाहिए जैसा कि सुना, देखा या मन से निश्चित किया गया है। रेखांकन में त्रुटि होने पर नये कपड़े से मिटाकर सम्यक् प्रकार से लिखना चाहिए।

पीला रंग पर्वत, नदी आदि में से लायी हुई पीले रंग की धातु को शुद्ध जल से धोकर चूर्ण करके तथा पत्थर के ऊपर पीसकर पानी से भरे बर्तन में मुहूर्त (Moment) भर रखना चाहिए। उस बर्तन में पंक को छोड़ते हुए ऊपर के जल के सारभूत अंश को निर्मलता प्राप्त होने तक बार–बार गिरायें। अन्त में बचे हुए भाग को धूप में सुखाकर रंग तैयार कर लेते हैं। इसी तरह लाल रंग भी बनाना चाहिए। काला रंग बनाने के लिए दो घट लें। नीचे के घट में तेल की बत्ती का दीप जलाकर तथा ऊपर औंधा करके रखनेवाले घट के अन्दर के भाग में सूखे गोबर के चूर्ण से लेप करके रखा जाय। दीपशिखा से निकले हुए काजल को घट के उदर भाग से निकालकर ऊपर कहे गये तरीके द्वारा ही काला रंग भी बनाना चाहिए। इन रंगों को नीमरस के जल में गूँथकर सुखाकर पाउडर तैयार कर ले। हरा रंग बनाने के लिए श्याम धातु को रातभर जल में भिगोकर कैंथे के जल द्वारा निर्मित करना चाहिए।

तूलिका (लेखनी) स्थूल (सादी), मध्यम और सूक्ष्म (पतली) तीन प्रकार की होती हैं। उसका दण्ड छह जौ के बराबर परिमाप में हो। जौ के आकार में आठ अंश आगे और आठ अंश पीछे के भाग में वर्तुल होना चाहिए। बछड़े के कान से निकाले हुए बाल के द्वारा स्थूल लेखनी बनानी चाहिए। बकरी के पेट से उत्पन्न बाल से मध्यम तथा छछुंदर की पूँछ के अग्रभाग के रोम से सूक्ष्म ब्रश बनाया जाता है। यह बाल या रोआँ लेखनी के अग्रभाग में संयुक्त करना चाहिए। प्रति रंग के अनुसार तीन (स्थूल, मध्य, सूक्ष्म) प्रकार की लेखनी होनी चाहिए। इस प्रकार प्रतिवर्ण नौ लेखनियों की आवश्यकता होती है। लाल रंग से चित्रण करने के लिए पहले मध्यम लेखनी से भित्ति पर पीला रंग लगाकर तथा कपड़े से पोंछकर उसके बाद ही लाल रंग अच्छी तरह से लगाना चाहिए।

ब्रह्मसूत्र, बहिः सूत्र, पक्षसूत्र ये तीन सूत्र रेखाएँ आकृतियों के निर्माण में पहले खींचनी चाहिए। ये तीन खड़ी रेखाएँ हैं जो नाक के अग्रभाग और नाभि के मध्य से बीच की रेखा को पैर से लेकर सिर तक खींचा जाना चाहिए। यह रेखा ब्रह्मसूत्र नामक है। ऋजु, अर्द्धऋजु, साचिक, द्वयर्द्धाक्षी, भित्तिक ये पाँच मुख्य स्थान हैं। पीछे से दिखायी देनेवाले (परावृत) चार स्थान हैं। इस प्रकार कुल नौ स्थान हैं।

ब्रह्मसूत्र से बहिःसूत्र में ऋजु स्थान में छह–छह अंगुल के बीच में खींची गयी लाइन से मानव स्वरूप की सामने की आकृति स्पष्ट हो जाती है। यहाँ कान–नाक और मस्तक एक अंगुल के बराबर हो। एक–एक पैर में चित्र के नियमानुसार ऋजुस्थानक अंगुलि दिखायी दे। पैर का पीछे का भाग नहीं दिखायी दे। ब्रह्मसूत्र और पक्षसूत्र के अन्तराल में अर्द्धऋजु स्थानक बीच की रेखा और दो किनारे की रेखा आठ अंगुल में है जो एक–दूसरे से चार अंगुल के अन्तर (Distance) में हो। जो रेखा आँख के ऊपर के अंग से, कान के बगल से और वक्ष के बीचो–बीच होते हुए जाँघ भाग से होकर घुटने के एक तिहाई भाग को काटता हुआ पैर के पीछे भाग के अन्त से पैर के अँगूठे के मूल तक बनाया जाता है। बहिःसूत्र को ऊपर से प्रदेश के वक्ष चुचुक को छूता हुआ घुटने के ५वें भाग से होते हुए दूसरे पैर के तलवे तक

सामने के भाग में बनाया जाय।

दोनों रेखाओं के बाद (सामने के स्वरूप के लिए) पक्षसूत्र में ब्रह्मसूत्र के बीच की रेखा को कहते हैं। मस्तक से होते हुए भौंह के बीच से नाक के अग्रभाग को छूता हुआ नाक विवर से बाहर, नाभि–विवर से बाहर लिंग के बीच में से जाता हुआ पीछे के भाग से पैर की ऐड़ियों को छूता है। यह मध्य रेखा की प्रकृति है।

साचिक स्थान में बीच की रेखा से दो अन्य रेखाओं में ब्रह्मसूत्र के अनुसार एक किनारे की रेखा दस अंगुल की दूरी पर और दूसरी दो अंगुल की दूरी पर (नजदीक ही) हो।

किनारे की पहली रेखा मस्तक से आँख के अन्तभाग को छूती हुई गाल से कन्धे के किनारे से होता हुआ एक अंगुल के अन्तर में स्तन से और आधा अंगुल की दूरी पर नाभि से स्पष्ट रूप से जाँघ के जोड़ के बाहरी किनारे से और अणि देश से निकलती हुई पैर से होती हुई दूसरे पैर के अँगूठे के मूल तक बनाना चाहिए।

बीच की रेखा सीमान्त (माँग) से दोनों भौंहों के बीच से होकर नासा–विवर के बीच से तीन अंगुल दृढ़ (दाढ़ी) के पीछे से, नाभिरन्ध्र के मध्य से अण्डाशय के बाहरी भाग से घुटने के गोल (मण्डल) से नख प्रान्त तक क्रम से ब्रह्मसूत्र बनाना चाहिए।

तीसरी रेखा मस्तक के पीछे से, कान के समीप से, गला से, कन्धे के जोड़ के गड्ढे से, वक्ष प्रदेश के ऊँचे भाग चूचुक मण्डल के बीच से होती हुई नितम्ब के बीच से दो अंगुल छोड़कर कलाई से होती हुई ऐड़ी के पीछे तक हो।

द्वयार्द्धाक्षिक स्थान में मध्य रेखा के फासले में एक तरफ एक अंगुल का अन्तर और दूसरी तरफ ग्यारह अंगुल की लम्बी रेखा क्रम में होनी चाहिए।

पार्श्वसूत्र = १ अंगुल की किनारे की रेखा – केशान्त से, नाक के अग्रभाग से, काँख से और नाभि से होती हुई घुटने के बीच से पैर के अँगूठे की जड़ में समाप्त हो।

ब्रह्मसूत्र = बीच की रेखा – सीमान्त से होकर भौंहों के मध्य, मूँछ प्रदेश से एक अंगुल हटकर काँख से होती हुई, नाभि से, अण्डाशय के निकट से एक अंगुल छोड़कर पीछे छिपी हुई पैर के अँगूठे के ऊपरी प्रदेश (तलवे के ऊपर से) छोटी उँगली के जोड़ तक बनानी चाहिए।

दूसरी समीपस्थ रेखा सिर से होकर पीठ से निकलती हुई कलाई से तर्जनी को छूती हुई सामने के पैर के ऐड़ी के पास समाप्त हो।

भित्तिक स्थान में दो ही रेखा होती है। ब्रह्मसूत्र दिखायी नहीं देता है। पीठ के ऊपर से वैसे ही कन्धे पर से कुहनी से लेकर ऐड़ी के पीछे के समीप तक होती है। दूसरी रेखा ब्रह्मसूत्र से फासले में सिर के अन्त से सामने तीन यव (३/८ अंगुल) होनी चाहिए।

नाक के जड़ से दो यव (१/४ अंगुल) के फासले में, मूँछ प्रदेश की परिकल्पना एक यव (१/४ अंगुल), मुँह के बीच की रेखा आधा यव (१/१६ अंगुल) ठोढ़ी में एक अंगुल, ठोढ़ी की गोलाई में पाँच यव (५/८ अंगुल) ठोढ़ी की गोलाई का नाप २ अंगुल और गले के जोड़ से १ अंगुल की दूरी से रेखा (ब्रह्मसूत्र) खींचनी चाहिए।

स्तन के लाल चूचुक प्रदेश से अण्डाशय के अग्रभाग के जड़ से होता हुआ दो अंगुल कूर्च (घुटना और जाँघ का मध्य भाग) के मध्य से पक्षसूत्र बनाना चाहिए।

दूसरी पक्षसूत्र (अन्य किनारे की रेखा) को हथेली के फासले से एक गोलक (२ अंगुल) से अधिक तथा भुजा के जड़ की दूरी २ अंगुल और हथेली को दो अंगुल होना चाहिए।

भुजा के बीच के प्रदेश को ५+४=१४ यव १६/८ से अधिक या कभी–कभी आधा अंगुल और बढ़ाकर किया जा सकता है।

कमर और नितम्ब की रेखा दो अंगुल, नितम्ब को तीन अंगुल, कमर के ऊपर की रेखा को चार अंगुल बनाना चाहिए। यह रेखा कुहानी से कमर के निकट से होती हुई काञ्ची में दो अंगुल और जंघा में तीन अंगुल बनानी चाहिए।

नितम्ब के ऊपरी प्रदेश में चार अंगुल स्फिज मण्डल (नितम्ब के घेरे में) १ यव बनाना चाहिए। नितम्ब के नीचे का भाग एक अंगुल अथवा उससे अधिक दूरी पर जाँघ के बाहर से रेखा को बनाना चाहिए। जाँघ की रेखा घुटने के जोड़ को छूकर जब नीचे की ओर (घुटने और टखने के बीच) हो तब दो अंगुल के जोड़ से अधिक हो। घुटना और टखना के बीच का स्थान केवल दो यव ऊपर होनी चाहिए।

आधे अंग का प्रदर्शन और आधा अंग दीवाल के भीतर होना चाहिए।

रेखांकन के उपरान्त रंग भरने चाहिए तथा निम्नोन्नत आदि विशेषताओं को छाया प्रकाश तथा कोमल–कठोर प्रभाव सहित विन्यस्त करके मनोहर चित्र की रचना करनी चाहिए। किसी वर्ण को पतला भरने से उज्ज्वलता तथा गाढ़ा भरने से हल्की श्यामलता आ जाती है। पीले रंग में श्यामलता के लिए लाल रंग का प्रयोग होता है। बाहरी रेखा काले रंग की अत्यन्त महीन रेखा से बनानी चाहिए। नख आदि के स्थान पर रंग को छूरी से खुरच देते हैं।

सिन्दूर हल्का लाल, गेरु मध्य लाल तथा लाक्षारस (लाह का रस) गहरा लाल होता है। गेरु तथा सिन्दूर को पत्थर के ऊपर पीसकर जल मिलाकर गाढ़ा कर ले। मैनसिल पीली होती है। इसको गाढ़ा करने के लिए बिना जल के पीसे तथा जल मिलाकर पाँच दिन रख दे। नीम का जल डालकर और अच्छी तरह से मिलाकर लेप (भरने के उद्देश्य को) और लेखन प्रक्रिया करनी चाहिए।

सुवर्ण का रंग बनाने के लिए बारीक स्वर्णपात्र (सोने का तबका) को पानी तथा बालू मिलाकर धीरे–धीरे रगड़ना चाहिए। बार–बार गँदला जल और बालू का अंश धोकर शुद्ध जल मिलाते रहने से अन्त में अत्यन्त बारीक सुवर्ण–पंक अत्यन्त उज्ज्वल हो जायगा। इसे वज्रलेप में मिलाकर उचित लेखनी (ब्रश) से चित्रित करे। चित्र के स्वर्ण सूख जाने पर उसे शूकर दन्त से घोंटकर प्रभायुक्त कर लेना चाहिए; अथवा जहाँ–जहाँ सुनहरा रंग लगाना हो वहाँ वज्रलेप लगाकर कोमल स्वर्णपत्र को दृढ़ता से लगा दे। फिर उसे कपड़े से अच्छी तरह माँजकर चमका देना चाहिए।

वज्रलेप बनाने के लिए भैंस के चमड़े को जल में उबालकर नवनीत के समान मुलायम कर लेना चाहिए। उसके पश्चात् इसकी छोटी–छोटी गोलियाँ बनाकर कड़ी धूप में सुखा लेनी चाहिए। प्रयोग के लिए इन्हें गरम जल में घोलकर रंग में मिलाते हैं। कैंथा और नीम से निकले हुए गोंद को भिन्न–भिन्न रंगों में मिलाना चाहिए। एक–दूसरे के योग से उत्पन्न भिन्न–भिन्न रंग–भेद भी कहे गये हैं।

सफेद और लाल रंग के मिलाने से गौर छवि (गुलाबी) होती है, सफेद, काला और पीला को बराबर भाग में मिलाने पर शारच्छवि (हरा) रंग होता है। सफेद और काला समान मात्रा में मिलाने पर गजवर्ण (Elephant gray) बनता है। लाल और पीला रंग मिलाने से बकुल फल की तरह रंग बनता है। यह अग्नि की तरह कान्तिवाला अग्निवर्ण बहुत प्रसिद्ध है। पीले में दो गुना लाल रंग (एक भाग पीला और दो भाग लाल) रंग बनता हे। सफेद में दोगुना पीला मिलाने पर बादामी (पिंगल) रंग तैयार होता है। काले में दोगुना पीला मिलाने से जल का रंग तैयार होता है। वैसा ही मनुष्य का वर्ण (रंग) होना चाहिए। हरिताल में हरा रंग मिलाने से सुआपंखी रंग होता है। लाक्षारस में ईंगुर (सिंदूर) मिलाने से अतिरिक्त (गहरा लाल) रंग बनता है। लाक्षारस में काला मिलाने से जामुनी, लाक्षारस में श्वेत मिलाने से जातिलिंग (जायफल) और इसी में सिंदूर भी मिला देने पर उत्तम रंग तैयार होता है। काला और नीला को समान मात्रा में मिलाने पर केशवर्ण बनता है। चूने से पुते हुए दीवाल में इन मिश्रित रंगों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन रंगों का युक्तिपूर्वक संयोजन करके चित्र बनाना चाहिए।

चित्र दो प्रकार के होते हैं – गीले रंगों वाले रस–चित्र तथा सूखे रंगों वाले धूलि–चित्र।

आकार मात्र को खींचना ही चित्र नहीं है। दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान सादृश्य दिखना ही चित्र है। घरों आदि की भित्तियों पर श्रृंगार रस वाले लक्ष्य और लक्षण से युक्त चित्रों की रचना करनी चाहिए जो प्रत्येक दृष्टि से मनोहर हो।

'शिल्प रत्न' के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुख्यतः चित्र–रचना के तकनीक से सम्बन्धित है यह ग्रन्थ। उसकी पद्धतियों का उपयोग केरल प्रदेश की तत्कालीन चित्र–रचनाओं में हुआ है। आकृतियों के रूपगत विश्लेषण तथा सामग्री के रासायनिक परीक्षणों द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

चित्रलक्षण[१] (नग्नजित्-कृत)

यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है। इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद प्राप्त है। इस तिब्बती अनुवाद को सन् १९१३ ई० में जर्मन भाषा में और १९७४ में अंग्रेजी भाषा में परिवर्तित किया गया। सन् १९७६ में यह अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ जिसमें तीन अध्याय और कुल ११४६ पंक्तियाँ हैं।

प्रथम अध्याय (१-४३१)

प्राचीन काल में भयजित् नाम का एक राजा था। उसके राज्य में सब सुखी थे। प्रकृति में नियमानुसार ऋतु परिवर्तन आदि होते थे। धन–धन्य की कमी नहीं थी। चारों वर्ण अपने–अपने धर्म का पालन करते थे। एक बार एक ब्राह्मण उसकी सभा में आकर अत्यन्त दुःखित होकर बोला कि राजन् तुमने अवश्य ही कोई दुष्कर्म किया है जिसके कारण मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है। राजा ने यमराज को बुलाया और उससे ब्राह्मण–पुत्र को जीवित करने को कहा। यमराज ने जन्म तथा मृत्यु को कर्माधीन बताते हुए उसे जीवित करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इस पर राजा तथा यमराज में युद्ध हुआ। ब्रह्मा ने आकर दोनों को शान्त किया और राजा को ब्राह्मण पुत्र का चित्र बनाने की आज्ञा दी। चित्र बन जाने पर ब्रह्मा ने उसमें प्राण संचार कर दिया। ब्राह्मण अपने पुत्र को लेकर प्रसन्नता से घर लौट गया। तत्पश्चात् ब्रह्मा ने राजा को उपदेश दिया और चले गये। तत्पश्चात् राजा नग्नजित् (भयजित्) ने ब्रह्मा

---

१. B.N. Goswamy and A.L. Dahmen - Dallpiccola : An early Document of Indian Art - The chitralaksana of Nagnajit.

के समीप जाकर चित्र–रचना के सभी नियमों को जानने की इच्छा जाहिर की।

ब्रह्मा ने कहा कि सृष्टि में सर्वप्रथम वेद विद्या प्रकट हुई। तत्पश्चात् पूजा हेतु चित्रकला को आवश्यक जानकर मैंने प्रथम चित्र बनाया है। इसके पश्चात् जो भी मनुष्य आकृति बनायेंगे, वे चित्र कहे जायँगे। मैं इसके सभी नियमों को विस्तारपूर्वक बताता हूँ। जिस प्रकार पर्वतों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, मनुष्यों में राजा उत्तम है उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में मिलती हैं। सभी मणि पर्वत पर निर्भर हैं, सभी नक्षत्र सूर्य पर निर्भर हैं, सभी ऋषि और देवता ब्रह्मा पर निर्भर हैं, उसी प्रकार समस्त शिल्प चित्रकला पर निर्भर है। किस प्रकार सभी वस्तुओं के चित्र बनाने चाहिए, किस भाँति मनुष्यों तथा ऋषियों, मुनियों, नागों, यक्षों, राक्षसों, प्रेतों, असुरों तथा पिशाचों की आकृतियाँ बनानी चाहिए, उनके नियम ध्यानपूर्वक सुनो।

द्वितीय अध्याय (४३२-५२७)

ब्रह्मा ने राजा को चित्र विद्या के विषय में बताते हुए कहा कि बहुत पहले इस सृष्टि में कुछ भी नहीं था, केवल अन्धकार छाया हुआ था। उस अन्धकार को चीरते हुए एक सुनहरा अण्डा प्रकट हुआ। इस अण्डे में से सृष्टिकर्ता स्वयं उद्भूत हुआ जिससे ॐ का शब्द, वेद ज्ञान आदि उत्पन्न हुए फिर अन्य नाम–रूप धारी सृष्टि उत्पन्न हुई, जातियाँ, उपजातियाँ, स्मृति, नियम आदि की रचना हुई और धर्म (Law) की स्थापना हुई। सृष्टिकर्ता उसके पश्चात् ध्यान में लीन हो गये। उनके प्रभाव से सृष्टि के सम्पूर्ण देवता आदि को दिव्य तथा सुन्दर स्वरूपों की प्राप्ति हुई और उनके शरीर अनेक शक्तियों, आयुधों, सुन्दर वस्त्रों तथा अलंकरणों आदि से सुशोभित हुए। उन्होंने अपने ऐसे अद्भुत रूपों के स्वयं चित्र बनाये। इन चित्रों को देखकर वे बहुत आनन्दित हुए और ब्रह्मा का गुणगान करने लगे। उन्होंने अपने चित्रों में दिव्य शक्तियाँ भर दीं। ब्रह्मा ने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा कि आज से तीनों लोकों में तुम्हारे द्वारा बनाये चित्रों के माध्यम से तुम्हारी पूजा होगी। जो शुद्ध हृदय से पूजा करेंगे उन्हें उसका श्रेष्ठ फल प्राप्त होगा। पूजा के निमित्त तुम्हारे बनाये चित्रों के संसार में अनेक नाम होंगे। यह सुनकर देवगण अत्यन्त आनन्दित हुए और अपने–अपने निवास–स्थानों पर चले गये।

हे राजन् ! जब तुम मेरे द्वारा बलि तथा पूजा हेतु चित्र–रचना के अनुपात आदि के निर्देश प्राप्त कर चुकोगे तब तुम्हारा यश चारों ओर फैल जायगा। स्वभाव, आयुध तथा अनुपात आदि को ठीक–ठीक जानना परम आवश्यक है। राजन् ! चित्रकला में प्रमाण देव–पूजा पर आधारित है। प्रमाण ऐसा होना चाहिए जो नेत्रों को भी सुखकर प्रतीत हो।

तृतीय अध्याय (५२८-११४६)

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बनाये गये चित्र–रचना के नियम–असुर, नाग (नागेन्द्र), राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, वादन तथा जरितर (संगीतज्ञ), पिशाच, प्रेत, कुम्बान्ध तथा विद्याधर, मनुष्य, अमानुष एवं राजाओं को निम्न प्रमाणानुसार बनाये।

प्रमाण–अणु, बालाग्र, लिक्षा, यूक (जूँ), यव तथा अँगुल एक–दूसरे से क्रमशः आठ गुने होते हैं। अंगुल को एक इकाई प्रमाण समझना चाहिए (जैसे कि चार यव का अर्थ आधा अंगुल हुआ)।

विस्तार का अर्थ लम्बाई है। चौड़ाई (आयाम) इसकी तुलना में छोटी होती है। अब मनुष्यों तथा राजाओं के प्रमाण सुनो। चक्रवर्ती राजा न्यग्रोध वृक्ष की भाँति सुडौल, अपने ही अंगुल से **१०८** अंगुल प्रमाण वाला होता है। मुख मण्डल के तीन भाग करें–मस्तक, नासिका तथा चिबुक। (प्रत्येक) **४** अंगुल,

लम्बाई १२ अंगुल, केश सहित १४ अंगुल, उष्णीय ४ अंगुल लम्बा तथा ६ अंगुल चौड़ा, कान २ अंगुल चौड़े तथा ४ अंगुल लम्बे, कर्ण–छिद्र आधा अंगुल चौड़ा तथा १ अंगुल लम्बा, नेत्र भी कान की लम्बाई वाले हों। कानों की लोंग (Lobes) का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। भौंह ४ अंगुल लम्बी तथा दो यव मोटी एवं द्वितीया के चन्द्रमा के समान होती है। नर्तकों, क्रोधी तथा चीत्कार करते हुए पुरुषों की भौंह चापाकार होती है। भय तथा शोक में भौंह नासापुटों से निकलती प्रतीत होती है और आधा मस्तक घेर लेती है। मध्य भौंह से केशों की दूरी २ १/२ अंगुल, नेत्रों की लम्बाई दो अंगुल, दोनों नेत्रों के मध्य भी उतना ही (२ अंगुल) अन्तर, पुतली को नेत्र के १/३ भाग में बनाना चाहिए। नेत्रों को पूरे–पूरे मुख–मण्डल के अनुसार ही उचित अनुपात में अंकित करना चाहिए। उत्पल नेत्र ६ यव, मत्स्योदर १ अंगुल, पद्म–पत्र ६ यव, कौड़ी के समान नेत्र १० यव ऊँचाई वाला होता है। राजाओं और ऋषियों के नेत्र बाँस के धनुष के समान (नासिका के गड्ढे की ओर अधिक गोल तथा बाहर की ओर कुछ लम्बे तथा नुकीले) बनाने चाहिए। कामियों तथा स्त्रियों के नेत्र मत्स्योदर, साधारण नेत्र उत्पल–पत्र, भयानक नेत्र पद्म–पत्र तथा पीड़ित एवं क्रोधी व्यक्ति के नेत्र कौड़ी के समान बनायें। नेत्र चमकदार, दुग्ध की भाँति स्वच्छ, कानों पर रक्तिम, पुतली काली और बड़ी शुभ होती है। दृष्टि ३६ प्रकार की होती है। नासिका ४ अंगुल लम्बी, २ अंगुल उठी हुई, नथुने नीचे की ओर ढलानयुक्त तथा २ अंगुल बड़े और ६ यव चौड़े होने चाहिए। दोनों नासापुटों के मध्य दो यव स्थान होना चाहिए। ऊपर का होंठ १ अंगुल, नीचे का आधा अंगुल, लम्बाई ४ अंगुल, नासिका प्रणाली आधा अंगुल, उनका वर्ण बिम्बफल के समान लाल तथा आकृति धनुषाकार होनी चाहिए। होंठों के किनारे किंचित् ऊपर की ओर मुड़े हुए मुस्कानयुक्त होने चाहिए। चिबुक दो अंगुल ऊँची, ३ अंगुल चौड़ी, ग्रीवा ४ अंगुल, तीन रेखाओं सहित हो तथा पात्रानुसार उसमें अन्तर कर दिया जाय। कपोत ५ अंगुल, जबड़ा ४ अंगुल, गण्ड ४ अंगुल हों। मुख चतुरस्त्र हो, स्पष्ट सीमांकित सुन्दर शुभ–चिन्हों सहित। यह त्रिकोण अथवा दलानयुक्त न हो, न क्रुद्ध हो, न गोल। साधारण पुरुषों का मुख–मण्डल कैसा भी हो सकता है।

काटे तथा उदर के मध्य दो अंगुल की दूरी हो, कन्धे ६ अंगुल चौड़े, ८ अंगुल लम्बे, वक्ष दो भागों में विभक्त, लिंग ६ अंगुल लम्बा, नितम्ब १८ अंगुल हो। कण्ठ से नीचे वक्ष सपाट होता है पर वक्ष से नीचे सपाट नहीं होता, नाभि से लिंग तक पुनः सपाट होता है। कटि १४ अंगुल, चूचुक एक–एक यव, उनके चारों ओर श्यामलता २ अंगुल, अण्डकोश ६ अंगुल, जंघा की लम्बाई २५ अंगुल, घुटने ४ अंगुल, टखने ४ अंगुल, पैरों का निचला भाग मध्य में ६ अंगुल, नीचे ४ अंगुल, घुटनों के ऊपर दोनों मिलाकर ८ अंगुल, जंघाओं का घेरा १२ अंगुल, मांसल तथा मध्य में उभारयुक्त होना चाहिए। सुन्दर तथा चिकनी पिंडलियाँ हों। दोनों पैर १४ अंगुल, लाख की भाँति लाल आभा वाले, चक्र आदि से चिन्हित चरणतल, हंस के समान जालपाद अँगुलियाँ, ५ अंगुल चौड़ा पंजा, अँगूठा २ अंगुल चौड़ा तथा ६ अंगुल घेरेवाला हो। अन्य अंगुलियाँ एक अंगुल छोटी हों। जालपाद का आकार सुन्दर हो। अर्द्धचन्द्र के समान कान्तिवाले नख़ हों, उनका रंग कुसुम्भी हो। हथेली ७ अंगुल लम्बी, ५ अंगुल चौड़ी, मध्यमा ५ अंगुल, तर्जनी तथा अनामिका समान लम्बाई वाली तथा मध्यमा के नाखून तक, कनिष्ठा सबसे छोटी, अंगुष्ठ ४ अंगुल तथा हाथ भी जालपाद होने चाहिए। हथेली पर श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त्त तथा चक्र के चिन्ह होने चाहिए। हथेली कोमल तथा किंचित् गड्ढेदार हो, अँगुलियाँ सुन्दर हों, मांसलता हो तथा नसें दिखायी न दें। बाहु १८ अंगुल ऊपर तथा १८ अंगुल नीचे होनी चाहिए। चौड़ाई ऊपर ५ अंगुल, कुहनी ३ अंगुल, कलाई ४ अंगुल हो। कन्धे गोल तथा १८ अंगुल चौड़े हों। हथेली सहित पूरी लम्बाई ४८ अंगुल, आकार सुन्दर तथा घुटनों तक लम्बे हाथ होने चाहिए। केशान्त से ग्रीवा ६ अंगुल, दोनों खवों की पीछे से चौड़ाई १६ अंगुल, दोनों खवों के मध्य की दूरी १० अंगुल होनी चाहिए। पृष्ठास्थि ६ अंगुल, पसलियों की मध्य रेखा २० अंगुल लम्बी

२ अंगुल चौड़ी तथा मध्य में कटि जैसी लगती है। स्त्रियों में यह कटावा नहीं दिखायी देता। उसके मध्य उदर तथा चौकोर तथा ६ अंगुल। यहाँ से नितम्बास्थि ४ अंगुल होती है। नितम्ब ८ अंगुल होते हैं। ये बहुत उभरे हुए नहीं बनाने चाहिए न बहुत सपाट। इनकी चौड़ाई ७ अंगुल होती है।

लक्षण—दाँत एक जैसे आकारवाले, पास—पास, शुद्ध श्वेत, चमकदार, मोती जैसे, दूध जैसे, कमलनाल जैसे, हिम के समान ४० की संख्या में बनाने चाहिए। मसूढ़े, तालु तथा जिह्वा लाल हों, कुन्द कली की भाँति चमकती छोटी—छोटी कीलें हों। कमल की पंखुड़ी जैसी जीभ मृदु स्वर, गजराज की भाँति गम्भीर, अश्वराज की भाँति स्वर मेघ गर्जन की भाँति निःसृत हो।

उत्तम पुरुषों के शरीर में पिण्डलियाँ, जंघाएँ, जननेन्द्रिय, पार्श्व, भुजमूल, कान तथा नथुन, ग्रीवा, मुख तथा कपोल रोम—रहित होते हैं। मानुषी रूप देवताओं के दाढ़ी—मूँछ नहीं बनाते तथा उन्हें सोलह वर्ष की आयु का दिखाते हैं। मनुष्यों तथा राजाओं के केश तरंग के समान तथा रंग में अति नील होने चाहिए। चक्रवर्ती को पिघले हुए सुवर्ण, पूर्ण विकसित कमल, उज्ज्वल चम्पक पुष्प की भाँति बनाते हैं।

उसकी हाथी अथवा हंस जैसी गति, वृषभ जैसी तीव्र बुद्धि, सिंह जैसी शक्ति, राजहंस जैसा ऐश्वर्य दिखाना चाहिए। उसका नाट्याचार्य के समान शिक्षा व्यवहार, निष्कलंक वर्ण, उज्ज्वल, मलिनताविहीन, सुन्दर गन्धयुक्त तथा दर्पण के समान चिकना शरीर हो; मणियों के समान चमकते उज्ज्वल वस्त्र तथा अत्यन्त तेजवान् आभा दिखाये। पूर्ण चन्द्रमा की स्वच्छ छवि की भाँति उसे एक आभा—मण्डल के साथ चित्रित करे। वह सर्वांग सुन्दर हो। पूर्णचन्द्र जैसा मुख, छल्लेदार बाल, चिकनी पलक, ऊँची नासिका, मोती जैसे दाँत, नीलाभ नेत्र, प्रकाश विकीर्ण करती जैसी दोनों भौंहों के मध्य ऊर्णा, शंख जैसी ग्रीवा, चिकना वक्षस्थल, सिंह के समान शरीर—विन्यास, आवर्तयुक्त गहरी नाभि, कोषगत वस्तिगुह्य (गुह्य प्रदेश को उसके कोष में समेटे हुए), हाथी की सूँड़ के समान जंघाएँ, कछुए के समान एँड़ी, जालपाद अँगुलियाँ, अर्द्धचन्द्र जैसे नख, कोमल कर—पद—तल, शुभचिन्हयुक्त, समविभक्तांग तथा हंस के समान उत्तम गतिवाला पुरुष चक्रवर्ती होता है।

अन्य प्रकार के मनुष्यों के प्रमाण तथा लक्षण उन्हीं के अनुरूप होने चाहिए। उन्हें न अधिक लम्बा और न अधिक नाटे कद का बनाये। उन्हें भी सुन्दरता से अंकित करे। उनका अध्ययन ऋषियों की आकृतियों से आरम्भ करें।

बलि, भास्कर, राम तथा अग्निधर के चित्र भी तदनुसार बनाये। साधुओं को उनसे दो अंगुल छोटा, मालव्यों को ४ अंगुल छोटा, व्यंजनों को ८ अंगुल छोटा तथा गिरिधरों को १० अंगुल छोटा बनाये। इनके अंगों के अनुपात राजा की ही भाँति सामञ्जस्यपूर्ण होने चाहिए।

रूप अंकित करने के सम्बन्ध में शिल्पशास्त्रों की संख्या १२ हजार है जिनमें नारी से उत्पन्न व्यक्तियों के लक्षण बताये गये हैं। इनके पाँच भेद है। चक्रवर्ती का प्रमाण जान लेने के पश्चात् इनमें से किसी भी आकृति को बनाया जा सकता है क्योंकि साधु १०६ अंगुल, व्यंजन १०० अंगुल, मालव्य ४ अंगुल अधिक (अर्थात् १०४ अंगुल) तथा गिरिधर ९८ अंगुल होते हैं। इनके तथा अन्य प्रकार के रूपों के अंकन में मनुष्य को स्वयं ही प्रमाण आदि स्थिर कर लेने चाहिए। सिर, पीठ, नाभि, वक्ष, कटि, जंघा तथा पैर असुन्दर नहीं बनाने चाहिए। सामन्तों, मध्य वर्गों तथा निम्न जातियों को भी उन्हीं के अनुरूप बनाना चाहिए।

स्त्रियों का अंकन भी पुरुषों के प्रमाणों को ध्यान रखकर करना चाहिए। वे सुन्दर तथा पवित्र

दिखायी दें। उन्हें समूह में दिखाये तथा सीधी खड़ी मुद्राओं और पूर्ण यौवन सहित चित्रित करे।

अश्वघोष (१०० ई० पू०)

'बुद्धचरित' (श्लोक २२/२३) में कहा गया है कि नारी, चाहे वह चित्रलिखित हो या सजीव, प्रत्येक दशा में पुरुषों के हृदय का हरण कर ही लेती है। (३५/२६) में रूप और इसके प्रतिघातों पर आश्रित विविध संज्ञाओं को उसने छोड़ा और रूप में रहनेवाली बुराइयों को समझा; यहाँ चित्रकला के 'रूपभेद' का वर्णन है। 'सौन्दरानन्द' (७/४८) में 'चित्र प्रदीप' (चित्रित दीप) और (१५/३६) में **'स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियं। तथा कृत्वा स्वयं स्नेहं संगमेति जने जनः'** कहा है जिसका अर्थ है कि जैसे स्वयं रचित चित्रित नारी से चित्रकार अनुराग करने लगता है वैसे ही मानव, मानव से स्वयं स्नेह एवं संगति करता है। सौन्दरानंन्द के कथानक का चित्रण अजन्ता गुहा नं० १६ में अंकित किया गया है। इस काव्य में नन्द की दाढ़ी की तूलिका बनाकर उसकी पत्नी के द्वारा अपने मुख पर विशेषक-रचना का उल्लेख किया गया है। नन्द जब भिक्षु बन जाता है और वसन्त ऋतु आती है तो उसे अपनी पत्नी का स्मरण हो आता है। उस समय बुद्ध उसे शिक्षा देते हैं कि चित्रकार एक स्त्री का चित्र बनाकर स्वयं उसकी रक्षा करता है (संसार भी इसी प्रकार का मायाजाल है)।

बुद्ध चरित में स्त्रियों का अपने शरीर पर गीले अनुलेप से चित्रण करने की बात कही गयी है। इस कार्य में पुरुष उनकी सहायता करते थे। बुद्ध के स्वर्ण-सिंहासन पर बज्रमणि के भक्ति-चित्र अंकित होने का उल्लेख मिलता है। इस समय शालभंजिकाओं की आकृति बहुत लोकप्रिय थी जिसके परिणामस्वरूप खिड़की के सहारे सोती हुई स्त्री की उपमा तोरणशालभंजिका से दी गयी है।

श्री राजशेखर सूरि (वि० सं० १४०५) – 'प्रबन्ध कोश' में चित्रकला की बाणभट्ट द्वारा प्रशंसा की गयी है – **'अन्यदा कोऽपि चित्रकृद् भूपरूपं लिखित्वा उपभूपं गतः। बाणभट्टेना श्लाघिता तत्कला। नृ[illegible]स्तेन रंककलक्षं लेभे। लेप्यमय बिम्बचतुष्टयं च कारितम्। एकं मथुरायाम्। एकं मोढेर[illegible]मअहिल्लपुरे। एकं गोपगिरौ। एकं सतराकाख्यपुरे। तत्र तत्र प्रतिष्ठाः प्रभावना[illegible]ः। अन्यदपि बह्वकारि'**।[1] (४०) अर्थात् कोई राजा के रूप को चित्र में लिखकर राजा के समीप ले गया। बाणभट्ट ने उस कला की प्रशंसा की। राजा ने भी अंकित कलाओं (राजा के योग्य अंकित एक-एक कला) का सुख प्राप्त किया। इस आलेखन का चार बिम्ब (उसी तरह की अन्य प्रतिकृति) बनवाया तथा एक मथुरा में, एक अहिल्लपुर में, एक गोपगिर में, एक सतारका नाम के नगर में, उस कला की प्रतिष्ठा और प्रभाव हेतु प्रतिष्ठित कराया। अन्य भी बहुत-सी जगहों पर इस कला को बढ़ाने हेतु प्रचार किया।

'कला कलापाख्य च शास्त्रं निबद्धं'[2] अर्थात् जगह-जगह इस कला का प्रसार-प्रचार किया और शास्त्रों में भी निबद्ध किया।

इनके अन्य ग्रन्थ प्रभावक चरित वि० सं० १३३४, प्रभावक चि० (१३६१), विविधतीर्थ कल्प (१३८६) आदि प्राप्य हैं।

पंचदशी का 'चित्रदीप प्रकरण'

विद्यारण्य मुनि (१२वीं-१३वीं शती) कृत 'पंचदशी' वेदान्त दर्शन की महानतम् कृति है। इसमें १५ प्रकरण है। 'चित्रदीप' नामक छठें प्रकरण में चित्रशास्त्र के विधानों के अनुसार ब्रह्मतत्त्व पर विचार

---

१. बाणभट्ट सूरि प्रबन्ध, पृ० ४१।

२. अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध, पृ० ६१।

किया गया है। वेदान्त दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए चित्रकला को ही उपयुक्त समझा गया। **'यथा चित्रपटे..........अवस्था चतुष्टयम्'** (१११) जिस प्रकार पटचित्र की चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, उसी प्रकार परमात्मा की भी चार अवस्थाएँ जाननी चाहिए। पटचित्र की चार अवस्थाओं के नाम हैं। धौत, घट्टित, लांछित और रंजित।

किसी अन्य द्रव्य के संयोग के बिना स्वभावतः शुभ्र 'धौत' भात के माँड़ से लिप्त, 'घट्टित' स्याही की रेखाओं से देव–मनुष्य आदि की आकृतियाँ जिस पर अंकित हो वह 'लांछित' और यथोचित रंगों से युक्त 'रंजित' पटचित्र कहलाता है।

चित्रकार चित्रांकन योग्य वस्त्र के भूमिबंधन के लिए सफेद धुले कपडे पर अन्न का लेप (भात के माँड़ का लेप) करते हैं **'स्याद् घट्टितो विलेपनात्'।** परमात्मा जब चित्स्वरूप की स्थिति में रहता है तो ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त जितने भी चेतन (जंगम), अचेतन (स्थावर) प्राणी तथा पर्वत, नदी आदि जड़ पदार्थ हैं, वे ही ऊँच–नीच भाव से इस रूप में विद्यमान रहते हैं, जैसे वस्त्र पर चित्र। श्लोक (६/६) में – **'चित्रधारेण वस्त्रेण सदृशा'** यहाँ चित्रपट के लिए चित्राधार शब्द है।

लांछित चित्र में वर्णपूरित (रंजित) करने को मुगल चित्रकार 'गदकारी' कहते हैं। **'मष्याकारैर्लाञ्छितः'** स्याही से अंकित आकार।

श्लोक ६/४ में बतलाया गया है कि चित्रकार को चित्रांकन के लिए उसी प्रकार चिंतन, मनन, ध्यान की आवश्यकता है जिस प्रकार ब्रह्म ध्यान के लिए साधक को। ब्रह्मसूत्र (३/२/१८) द्वारा ब्रह्म के रूप के प्रतिरूप (अर्थात् रूप पर) के सन्दर्भ में आत्मा को बहुआयामी रूपों (सर्वरूपों) में व्यक्त किया गया है जिनको चित्रकार चित्र–रचना की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान में सर्वरूप न समाविष्ट होकर कोई भी एक रूप अभिव्यक्त हो जाता है। उस रूप में अपने प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब की झलक स्वतः वर्तमान रहती है। यही सृष्टि श्रेष्ठता की परिचायक है। श्लोक (६/२३) में **'चित्प्रतिबिम्बितः'** का अर्थ चिदाभास है। चिदाभास चित्रकला के षडंग के लिए आया है।

श्लोक ६. २८६. २६० में **'[illegible]र्पितम्'** माया अपने आत्म चैतन्य के ऊपर जगत् रूपी चित्र को अंकित करके जगत् की सृष्टि करती है।

पारस्कर मुनि (प्रथम शती ई० पू०) ने कहा है कि जिस प्रकार चित्रकर्म में धीरे–धीरे अनेक रंग (राग) उन्मीलित होते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणत्व प्राचीन संस्कारों से।

ज्योतिष – में समस्त क्रियाएँ बिन्दु–शून्य के आधार पर चलती हैं, जो निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रतीक है। बिन्दु दैर्घ्य और विस्तार से रहित अस्तित्ववाला माना गया है। यद्यपि परिभाषा की दृष्टि से स्थूल है, पर वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म, कल्पनातीत, निराकार वस्तु है। केवल व्यवहार चलाने के लिये हम उसे कागज या स्लेट पर अंकित कर लेते हैं। आगे चलकर यही बिन्दु गतिशील होता हुआ रेखा–रूप में परिवर्तित होता है। अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म से **'एकोऽहं बहुस्याम'** कामना रूप उपाधि के कारण माया का आविर्भाव हुआ है उसी प्रकार बिन्दु से एक गुण दैर्घ्य वाली रेखा उत्पन्न हुई है। अभिप्राय यह है कि भारतीय ज्योतिष में बिन्दु ब्रह्म और रेखा माया का प्रतीक है। नभमण्डल में नक्षत्रों के विभिन्न समूह से मेष, मिथुन, कन्या, धनु इत्यादि राशि के आकार–प्रकार का अंकन ज्योतिषाचार्य अपने ग्रन्थों में करते हैं।

ज्योतिषशास्त्र में सामुद्रिक लक्षण बतलाये गये हैं। ये सामुद्रिक लक्षण स्त्री–पुरुष के आदर्श सौन्दर्य के मापदण्ड हैं। ऊँचा ललाट, धुनषाकार भृकुटि, कमलनयन, शुक–नासिका, कम्बुकंठ, कपाटवक्ष

(पुरुषों का), सिंहकटि, मृणालदण्ड के समान लोचदार बाहु, क्षीणकटि (नारियों की) उत्तम मानी जाती है। सिंह–कटि पुरुष राजा होता है और वानर या ऊँट की भाँति कटि वाला धनी होता है। चित्रसूत्र (३७/४/६) में राजाओं को हंस प्रमाण में, महापुरुष लक्षणयुक्त, हाथों में तीन सुन्दर रेखाऐं तथा चन्द्रखंड के समान नुकीले शस्त्र–चिन्हों को अंकित करना चाहिए, भौंहों के मध्य मंगलमय ऊर्णा (घुमावदार) लोम, बुद्ध मूर्तियों में गोल तिलक के रूप में बनाना चाहिए जो स्पष्टतः सामुद्रिक लक्षण है।

घुँघराले, श्याम, पतले, स्निग्ध, दक्षिणावर्त केश, धनुषाकार, मत्स्योदर या नीलोत्पल अथवा पद्मपत्र सदृश नेत्र शुभ माने गये हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त हंस, भद्र, मालव्य, रूचक और शशक प्रमाण के पुरुष तथा उनके अंग–प्रत्यंगों के नाप के अनुसार भी वे शुभाशुभ कहे गये हैं। प्रमाणयुक्त रमणीय रूप का चित्रांकन इसी आधार पर पुष्ट होता है।

(ख) काव्य साहित्य

रामायण (६०० ई०पू० - ५०० ई०पू०) – वाल्मीकि रामायण में जिन चित्रों का वर्णन है वे अपने आप में कोई स्वतन्त्र कलाकृतियाँ नहीं थीं। उनका उपयोग प्रायः दीवारों, कक्षों और रथों, भवनों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। रावण के पुष्पक विमान में[१] स्वर्ण खचित चित्रकारी की गयी थी। सादृश्य के लिए **'वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु'**[२]आया है। चित्र के लिए तैयार किया गया एकदम चिकना आधार होता है वैसे ही धनुष **'इमे च धनुषी चित्रे श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने'**[३] आया है। जिस शिविका पालकी में बालि का शव श्मशान–भूमि में ले जाया गया था, वह पक्षियों, वृक्षों तथा अद्भुत पदातियों के चित्रों से चित्रित थी **'दिव्या.........पक्षिकर्म भिरा चित्रां द्रुमकर्म विभुतिषताम्, अचितां........ जालवातायनान्विताम्'**[४] चतुर शिल्पियों ने उस पालकी को बहुत सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया था। उसमें सिद्धों के विमान जैसी जालियाँ और झरोखे बने थे। उसका प्रत्येक भाग सुघड़ बनाया गया था, दारू पर्वत की भाँति वह विशाल और रमणीय थी। रावण का शव भी ऐसी पालकी में ले जाया गया था जिसमें सुन्दर पुष्प चित्रित किये गये थे।[५] हाथियों के मस्तक[६] तथा रमणियों के कपोलों[७] पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। योद्धाओं की पताकाओं पर तरह–तरह की आकृतियाँ चित्रित रहती थीं। धूम्राक्ष के रथ में मृगों और सिंहों के मुख बने हुए थे।[८] इन्द्रजित् का रथ स्वर्ण–विभूषित तथा अर्द्धचन्द्रों और मृगों से समलंकृत था। रावण के रथ में पिशाच–वदन चित्रित थे। राम के प्रासाद में भित्ति–चित्र उत्कीर्ण थे।[९] लंकानगरी के तोरण बेल–बूटों से सुशोभित थे।[१०]

महाभारत (६०० ई०पू० - ५०० ई०पू०) – उषा–अनिरुद्ध की प्रेमकथा के प्रसंग में चित्रकला का उल्लेख है कि राजकुमारी उषा ने स्वप्न में एक सुन्दर युवराज को अपने साथ वाटिका में विहार करते देखा और वह उससे प्रेम करने लगी। अतः प्रातः राजकुमारी उषा युवराज की स्मृति में दुःखी

---

१. कांचनचित्रांगम (६/१२१/२४) वाल्मीकि रामायण।
२. ३. ४५. २६ वा० रा०।
३. कि० का० २/१६।
४. २१/११, २२/१२, २१/१३ कि० का०।
५. पताकाभिश्च चित्राभिः सुमनोभिश्च चित्रिताम् ६/११/१०६।
६. गजाः परमभक्तिभिः ३. १५. १५।
७. सपत्ररेखाणि सरोचनानि वधूमुखानीव नदीमुखानि ४. ३०. ५५।
८. मृग सिंहमुखैर्युक्तम् ६. ५१. २८ रामा०।
९. सूत्कीर्ण भक्तिभिः २. १५. ३५ रामा०।
१०. लतापंक्ति विराजितैः ५. २. १८ रामा०।

होकर एकान्त में चली गयी। जब उसकी परिचारिका 'चित्रलेखा' (चित्र का अर्थ है एक चित्र) को इस घटना का ज्ञान हुआ तो उसने समस्त देवताओं, महापुरुषों तथा उस समय के युवराजों के छवि चित्र स्मृति के आधार पर बनाकर उषा के सम्मुख प्रस्तुत कर दिये। उषा ने स्वप्न में देखा राजकुमार का चित्र पहचान लिया। यह चित्र कृष्ण के प्रपौत्र अनिरुद्ध का था और इस प्रकार दुःखी राजकुमारी यह व्यक्ति–चित्र देखकर प्रसन्न हो उठी। यह प्रसंग चित्रकला का अति उत्तम उदाहरण है।

महाभारत में स्थापत्य के साथ–साथ चित्रकला भी अपने चरमोत्कर्ष पर थी। सभा–भवन अनेक प्रकार के चित्रों से, बहुत धन से विश्वकर्मा द्वारा अतीत सुन्दर निर्मित की गयी थी तथा वह उत्तम द्रव्यों से युक्त प्राकार एवं तोरण वाला था।[१]

महाभारत[२] में सत्यवान के संबंध में कहा गया है कि उसका चित्राश्व नाम मिट्टी का घोड़ा बनाने तथा भित्ति पर घोड़े का चित्र अंकित करने के कारण पड़ा।

रूपभेद की विभिन्नता पर महाभारत में प्रकाश डाला गया है जो चित्रकला का प्रधान अंग है। वहाँ रूप के १६ प्रकार बताये गये हैं जिनके ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, नानाकोण (जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण आदि) गोलाकृति, अण्डाकृति, श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैगनी) तथा नाना वर्णो के मिश्रित रूप, रक्त पीतादि एक–एक स्वतंत्र वर्ण रूप, कठिन, चिक्कण, श्लथ (सूक्ष्म, कृश, स्निग्ध, स्वल्प) पिच्छल (फिसलाहट पैदा करनेवाले) मृदु (जैसे शिरीष पुष्प) दारुण (जैसे लोहे का भीम) छोटे–बड़े, मोटे–पतले, कटे–छँटे, गोल, काले, सफेद, एकरंगे, पंचरंगे आदि हैं।[३]

अष्टाध्यायी – व्याकरणाचार्य पाणिनि (८०० – ५०० ई० पू०) ने अपने अष्टाध्यायी[४] में चारुशिल्प के अन्तर्गत ललित कला (चित्र, मूर्ति, नृत्य, संगीत, वाद्य) तथा कारु शिल्प में उपयोगी अर्थात् हाथ से शिल्प या उद्योग करनेवालों के लिए कारि शब्द का प्रयोग किया है।[५] सौन्दर्य विधान, रूप समृद्धि, मनोरंजन एवं विनोद आदि के साधन की ओर शिल्पियों का विशेष ध्यान था। ये शिल्पकार श्रेणीगत समुदाय में रहा करते थे। सम्भवतः ये ही जातिरूप में परिणत हो गये।

स्वस्तिक, स्रुवा, अंकुश, बाण, कुण्डल आदि प्रतीकों को पशुओं पर किस प्रकार चिन्हित किया जाय, इसका उल्लेख पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में किया है। गायों के कान, पूँछ, पीठ, प्लीहा, उदर आदि पर ये चिन्ह लगाये जाते थे। ये चिन्ह भारत की प्राचीन मुद्राओं पर भी प्राप्य हैं। शिल्प शब्द का प्रयोग वाल्मीकि रामायण में चित्र, मूर्ति आदि के लिए आया है। पालि तथा बौद्ध ग्रन्थों में शिल्प के लिए 'सिप्प' शब्द मिलता है। धीरे–धीरे आगे चलकर यह चारु और कारु शिल्प ही ललित कला में बदल गया।

अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०) – कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कारु शब्द का प्रयोग मिलता है।[६] 'धर्मस्थीय' नामक अधिकरण में कारुक शिल्पियों की नामावली तथा उनके कार्यों की भी तालिका दी गयी है।

नाट्यशास्त्र – (प्रथम शताब्दी ई० पू०) आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में कलाओं के व्यापक

---

१. बहुचित्रा बहुघना सुकृता विश्वकर्मणा, सभारूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान्मयः ३. २७ महाभारत।

२. ३/२६३/१३ महाभारत।

३. १८४. ३३. ३४ महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म।

४. ३. १/१४६। ३/ २/ ५५। ४/ ४/ ५६ अष्टाध्यायी।

५. अष्टाध्यायी ४. १. १५२।

६. कारुशिल्पिनः २. ३६। २. ४३। २७ अर्थशास्त्र।

स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया गया है। वे कहते हैं –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्मनाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।। १. ११६

न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प, न विद्या, न कोई कला, न योग और न कार्य जो नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो। प्रेक्षागृह की भित्तिचित्र पर सुधालेप करना चाहिए।[१] भित्ति पर सुधालेप हो जाने तथा सब ओर से परिमार्जित, समतल, शोभायुक्त हो जाने के उपरान्त उन पर चित्रांकन करना चाहिए। चित्रकारी में स्त्री–पुरुष युगल के अंकन तथा लताबन्ध आदि भोगों वाली रतिक्रीड़ा के चरितों का मनोरम आलेखन होने को उचित माना गया है।[२] कामसूत्र से तथा अजंता एवं खजुराहो की मूर्तियों से 'लताबन्ध' 'आलिंगन पाश' का एक प्रकार है।

रस प्रकरण में विभिन्न रसों के अनुरूप वर्णों की संकल्पना की गई है। **'श्यामो भवति श्रृंगारः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः'**[३] श्रृंगार का श्याम, हास्य का शुक्ल तथा करुण का कपोत और रौद्र का रक्त वर्ण है। वीर रस का रंग गौर (उज्ज्वल), भयानक रस का कृष्ण (काला), वीभत्स का नीलवर्ण और अद्भुत रस का पीत वर्ण कहा गया है। **'स्वच्छपीताशमाद्भुतौ'** से शम का रंग निर्मल होता है तथा **'सितो नीलाश्च पीताश्च चतुर्थो रक्त एव च। एते स्वभावजा वर्णा.....'**[४] इन चारों वर्णों के मिश्रण से विभिन्न उपवर्णों की सृष्टि होती है।

'चित्रलक्षण' की भाँति नाट्यशास्त्र में भी (ऋज्वागत, साचीकृत, पार्श्वागत, पृष्ठागत आदि नौ स्थान) तथा नृत्त हस्त (नृत्य की हस्तमुद्राएँ चतुर्थ अध्याय में बतलाये गये हैं) वर्णित हैं। अध्याय ६ में नृत्य की मुद्राएँ कटकामुख, लताहस्त (लता के समान हाथ), चतुर, खटकामुख, पताका, त्रिपताका, करिहस्त, सर्पशीर्ष, सिंहमुख, मृगशीर्ष इत्यादि मुद्राओं का वर्णन है। इनके करणों (रेचित, अंचित, स्वस्तिक, समनख, वलित, ललित, वैशाखरेचित, परिवृत्त, लोलित आदिकरण) का चित्रकला में भी प्रयोग होता है।

१८वीं सदी में नाट्यशास्त्र की राग–रागिनियों पर बहुत–से चित्र बनाये गये। नाट्यशास्त्र का 'भाव' विवेचन चित्र–कला में सजीवता लाता है।

कामसूत्र (२री - ३री शती) – गुप्तकाल में महर्षि वात्स्यायन द्वारा यह ग्रन्थ लिखा गया था। बाद के साहित्यकार कालिदास, हर्ष, माघ, दण्डी, भास आदि के नायक–नायिकाओं पर वात्स्यायन–वर्णित आदर्श प्रेम की साधनभूत चौंसठ कलाओं की छाप लगी।

यशोधर की 'जयमंगला' (१३वीं शती) इस पर की गयी प्रथम टीका है। इसमें प्रथम अधिकरण अध्याय ३ की टीका में आलेख्य (चित्र) के 'षडंग' को एक श्लोक में बतलाया गया है, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त था। वे निम्न है –

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव, लावण्य योजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्र षडंगकम्।।

(१) रूपभेद – दृष्टि का ज्ञान।

---

१. नाट्य शास्त्र २. ३४।
२. नाट्य शास्त्र २. ६०-६१।
३. वही ६. ४२-४३।
४. वही ६०, ६५।

(२) प्रमाण – ठीक अनुपात, नाप तथा बनावट।
(३) भाव – आकृतियों में दर्शक को चित्रकार के हृदय की भावना दिखायी दे।
(४) लावण्य योजना – कलात्मक तथा सौन्दर्य का समावेश।
(५) सादृश्य – देखे हुए रूप के समान आकृति।
(६) वर्णिकाभंग – रंगों तथा तूलिका के प्रयोग में कलात्मकता।

वात्स्यायन ने इन चतुःषष्ठी कलाओं का अभ्यास कन्या को एकान्त में करना चाहिए ऐसा कहा है। ये कलाएँ अनुरागजनक एवं आत्मविनोदार्थ होती थीं। इनका अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिए क्योंकि ये कलाएँ[1] सुभगा, सिद्धा, सुभंगकरणी हैं, स्त्रियों को प्यारी हैं। इन चौंसठ कलाओं के दो वर्ग हैं

(१) ललित कला (२) इतर कलाएँ तथा कौशल।

च० अ० नागरक वृत्त प्रकरणम् में बहिः प्रकोष्ठ की सज्जा का निर्देश है। इसमें शय्या के समीप चित्रफलक और वर्तिका समुद्गक रखने का उल्लेख है। वर्तिका समुद्गक–यह क्रेआन, तूलिका, रंग इत्यादि चित्रकला सामग्री रखने की मंजूषा थी।

बालोपक्रमण प्रकरण (तृ० अ०) में युवक प्रेमी द्वारा अपनी प्रेयसी कन्या को रंग का डिब्बा (पटोलिका) उपहार में देने का वर्णन है, जिसमें अलक्तक (चित्रांकन के लिए लाख का लाल रंग), मनः शिला (मैनसिल), हरिताल (पीतवर्ण), हिंगुल (सिंदूरी रंग), श्याम (हरित या नील) रंग आदि रखे जाते थे

'पटोलिकानामलक्तकमनः शिलाहरितालहिंगुलकश्यामवर्णकादीनाम्।' अंतःपुरिकावृत्तप्रकरण (५. ६) में वर्णन है कि अंतःपुर में प्रीति के लिए मिलन का चित्र बनाना चाहिए – **'यत्र संपातोऽस्यास्तत्र चित्रकर्म्म ...द्युक्तस्य...।।१६।।** राजा अपनी प्रेयसी को अपने प्रासाद में बुलाकर वहाँ की चित्रशाला आदि रमणीय वस्तुओं को दिखलाये[2] – **मणिभूमिकां.....चित्रकर्मणि क्रीडामृगान.....पुरस्ताद्वर्णितानि स्युः।'** नायिका के सामने नायक उसके चित्र अथवा मूर्ति का चुम्बन करके अपना प्रेम प्रकट करे – **'बालकस्य चित्रकर्मणः प्रतिमायाश्य चुम्बनं संक्रान्तकमालिंगनं च।।३/२६।।'**

नायक अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए उसी के अनुरूप चित्र दिखाये (अ० ४)। दूतीकर्मप्रकरण में नायिका को दूती आख्यान–पट के चित्र दिखाकर, रसमयी रोचक कहानियाँ सुनाकर और उसकी प्रशंसा करके उसको प्रसन्न करे – **'सैनां शीलतोऽनुप्रविश्य आख्यानक पटै-..... तांरञ्जयेत्'** यशोधर ने लिखा है – **'यमुपदिश्याख्यानकानि चित्रलिखितानि।'** अर्थात् सम्पूर्ण कथाएँ चित्र–लिखित होती थीं। एक ओर से खोलकर तथा दूसरी ओर से लपेटते हुए या पूरा फैलाकर दिखाया जाता होगा।[3]

कुट्टनीमत काव्यम् (८वीं शती) – दामोदर गुप्त कृत इस ग्रंथ में आलेख्य को बहुत प्रमुखता दी गयी है – **आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय।।३०६।।** – विदुषी कहे जाने

---

१. नन्दिनी सुभगा सिद्धा सुभंगकरणीति च।
नारीप्रियेतिचाचार्यैः शास्त्रेप्वेषा निरुच्यते।। २. १०. ३८।
२. ५. ५. १६ वा० का०।
३. पंचदशी ६. १३१।

की अभिलाषा से वार–वनिताएँ भले ही चित्रकर्म में प्रवृत्त हो सकती हैं किन्तु यदि वे किसी के प्रेम में विरह–विनोदन के लिए चित्र बनायें तो उनके लिए यह वर्जित है।

'चित्रादिकलाकुशलः स्मरशास्त्रविचक्षणे वृषप्रकृतिः'[1] वृष जाति के लोग व्यावहारिक कार्यकलापों में कुशल होने के साथ ही चित्रकला आदि में निपुण होते थे। इसमें वत्सराज का चित्र अंकित करती हुई मंजरी नामक नायिका की कामदशा में कम्प, रोमाञ्च, स्वेद आदि का वर्णन है –

वत्सपतिमालिखन्ती कामावस्थां क्रमेण भजमाना।
वेपथुपुलकस्वेदैरावहति विसंष्ठुलं हस्तम्।।८०७।।

समरभट के पास नाना प्रकार की चित्रित ढाल होने का वर्णन है – **'विविधविलेपनखरटितचक्रकवर-खंगधारिणाशून्यः'**[2] पत्ते काटकर चित्रकारी करने की कला, चित्र, मोम और काष्ठ की पुत्तलिका बनाने का कौशल, नृत्य–गीत तंत्री, मुरजा आदि वाद्य भेदों को सीखता है।

जानन्पत्रच्छेदनमालेख्यं सिक्थ पुस्तक कर्मणि।
नृत्यं गीतोपचितं तन्त्री मुरजादिवाद्यभेदांश्च।।२३५।।

आधुनिक कोलाज पेंटिंग की ही भाँति पत्ते काटकर चित्रकारी करने की कला–कुशलता का वर्णन आया है –

पत्रच्छेदमजानजानन्वा कौशल कला विषये।
प्रकटयति जनसमाजे बिभ्राणः पत्रकर्तरीं सततम्।।७४।।

अर्थात् पत्ते काटकर चित्रकारी करने की कला (पत्रच्छेद) को जानता अथवा न जानता हुआ वह अपने हाथ में हमेशा पत्ते काटने की कैंची लिये हुए यह लोगों में प्रकट करता है कि वह कला के विषय में कुशलता रखता है।

काव्य प्रकाश – (११वीं शती) मम्मट ने **'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्'** जहाँ पर व्यंग्य का अभाव हो वह चित्रकाव्य है। यहाँ पर यह विचारणीय है कि काव्य बोलता हुआ चित्र है और चित्र मूक काव्य। लेकिन अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में मनुष्य का समस्त अन्तरंग मुखर या शब्दार्थमय नहीं होता। जिस समय सौन्दर्य की खोज में रत जिज्ञासु–प्रकृति की आत्मा से ऐक्य स्थापित कर लेता है तो वह अपने चारों ओर सौन्दर्य ही पाता है।

चित्रकला में रेखाओं एवं रंगों से घिरा स्थान स्वयं वाणी ले लेता है और चित्रविद्या शब्दविद्या की सीमा से आगे बढ़ जाती है। मम्मट ने शब्दचित्र, वाच्यचित्र में इंगित व्यंग्य को महत्त्व दिया है।

नानार्थार्णवसंक्षेप कोश में चित्रकार की तूलिका को वर्तिका कहा गया है। मेदिनीकोश में चित्रकार को वर्णाट् (रंगों का ज्ञान) कहा गया है।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति – (८वीं शती) वामन ने रेखाओं के चित्र के मूर्तिमान हो उठने की बात कही है – **'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठिमिति'**[3] समग्र रूप से वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इन तीन काव्यशैलियों में ही काव्य उसी प्रकार मूर्तिमान हो उठता है जिस प्रकार रेखाओं में

१. कुट्टनीमत काव्यम् ।।५३४।। मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड अनुवाद - जगन्नाथ पाठक।
२. कु० का० ७५७।
३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १. २. १३।

चित्र। चतुर और कुशल चित्रकारों द्वारा कुशलतापूर्वक रेखा खींची जाती है। कान्तिहीन रचना पुराने चित्र के समान होती है। **'यथा हि (वि) च्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः।' औज्ज्वलंकान्तिरित्याहुर्गुणं..... पुराण चित्र स्थानीयं....।**[1]

उज्ज्वल नीलमणि – (१५वीं शती) रूपगोस्वामी ने अपने उज्जवल नीलमणि में श्यामराग, रक्तिमा, कुसुम्भ राग, मंजिष्ठा राग इत्यादि रंगों का वर्णन किया है।

सरस्वती कण्ठाभरण – भोज ने **'यथा चित्रस्य लेखा उत्तुंगप्रत्यंगलावण्यौन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तरः'** – चित्र के रेखा की तुलना काव्य के रीतिगुण से की है।

वक्रोक्ति जीवितम् – कुन्तक (अ० ३) वाक्–कौशल की उपमा मनोहर चित्र से देते हैं – **'मंनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्। चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम्।।'** इसी तरह चित्रशास्त्र में वर्णित सिद्धान्तों की एक साथ अवतारणा करते हुए चित्राधार, फलक, भित्ति, वर्तना–सिद्धान्त रेखादि तथा वर्ण–विन्यास के छाया, कान्ति, औज्ज्वल्य आदि गुणों का भी उल्लेख किया है यथा – **'फलाकमालेख्या-धारभूतां भित्तिः, उल्लेखः चित्रसूत्रप्रमाणोपपन्नं रेखाविन्यास मात्रं वर्णाञ्जकद्रव्यविशेषाः, छाया कान्तिः। तदिदमत्रतात्पर्यः-यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकल प्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रकार कौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते।'**

बृहत्संहिता – (५०० ई०) चित्रकला के षडंगों का स्वरूप ज्योतिष ग्रंथों की ग्रह–कुंडलियों और तांत्रिक देवों की आकृतियों में रूपायित हुआ है। आचार्य वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' में वर्णित वास्तु, शिल्प तथा कला से संबद्ध अध्याय ५३, ५६, ५७, ५८ और ७६ हैं। इसमें 'प्रासादलक्षण' नामक ५६वें अध्याय में प्रासादों का वर्णन, मंदिर की भूमि, द्वार, गर्भद्वार, चित्रण, प्रतिमा प्रमाण आदि में बीच–बीच में चित्रकर्म पर भी प्रकाश डाला गया है।

गद्य

कादम्बरी – महाकवि बाणभट्ट (७वीं शती) की गद्यकृति कादम्बरी संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है। 'कादम्बरी रसिक जनों को मत्त कर देनेवाली सच्ची कादम्बरी है – मीठी मदिरा है।' समस्त कादम्बरी काव्य एक चित्रशाला है –'इस कुंजवन की गली में नये–नये रंगों के अनेक लता–वितान हैं, प्रलोभनीय अंशों की बहुलता है। बाणभट्ट चित्र सज्जित करके कथा बढ़ाते हैं। बाण ने **'चित्रकर्मसुवर्णसंकराः'**[2] से चित्र के उपयुक्त रक्त, पीत, हरित, श्वेत और नील इन पाँच रंगों से सहस्रों नये रंग तैयार किये जा सकते हैं का वर्णन किया है। राजा शूद्रक के चारों ओर रहनेवाले राजपुत्र काव्य, नाटक, आख्यान, चित्रकला, संगीत आदि कलाओं में निपुण थे, **'कदाचिदालेख्य विनोदेन'** जो कि मनोविनोद के लिए होते थे। राजा चन्द्रापीड ने चित्रकर्म आदि सर्वविध शिल्पकार्य में तथा समस्त कला विधाओं में अत्यन्त निपुणता प्राप्त की थी – **'चन्द्रापीडो......... चित्रकर्माणि.......... [illegible]ेषु...... .... कला विशेषेषु परं कौशलमवाप।**[3]**'** वैशम्पायन अन्य कलाओं के साथ चित्रकर्म में भी प्रवीण थे।

राजा शूद्रक अमृत फेन के समान श्वेत दो पट्ट वस्त्र धारण किये हुए हैं। उसके प्रान्तभाग (किनारे) में गोरोचना द्वारा दो हंसों का चित्र बनाया गया है। **'अमृतफेन-धवले गोरोचनालिखित**

---

१. का० सू० ३. १. २५।
२. १. कादम्बरी, पृ० १०।
३. वही, पृष्ठ २३१-२३२।

हंस-मिथुन सनाथ-पर्यन्ते।'[1] वैशम्पायन नामक शुक भी चित्रकर्म में प्रवीण था **'चित्रकर्म्मणि प्रवीणः।'**

उज्जयिनी वर्णन में **'दर्शित विश्वरूपेव चित्रभित्तिभिः'** वह अपनी चित्रित भित्तियों से मानो विश्वरूप प्रकट करती है। गर्भवती विलास वर्णन में **'प्रत्यग्रलिखितमंगल्यालेख्योज्ज्वल भित्ति-भाग-मनोहारिणी'** तत्काल काढ़े गये मंगलकारी चित्रों से देखने में सुन्दर लगती थी। कादम्बरी के श्रीमंडप की भित्तियों पर भी चित्र लिखे हुए थे। उसके श्रीमण्डप में अधोमुख विद्याधरों का अंकन था – **'श्रीमण्डपममध्योत्कीर्ण अधोमुखविद्याधरलोक।'**[2] श्रीमंडप में संपुंजित नाना आकृतियों और दृश्यों को देखकर विदित होता था मानो तीनों भुवन के लोग उसे देखने के लिये एकत्र हो गये थे – **'चित्रकर्मच्छलेनावलोकन कुतूहलसम्पजिञ्जतेन त्रिभुवनेन।'** बाण ने चित्रशाला शब्द से घरों का संकेत किया है – **'चित्रशाला गृहाणि।'** तारापीड के धवलगृह की चित्रशालिकाओं में जो भित्तिचित्र थे उनमें मानो सारा त्रिलोक ही अंकित कर दिया गया था। राजकुल वर्णन में **'उषाअनिरुद्धसमागममिव चित्रलेखादर्शितविचित्र सकलत्रिभुवनाकारम्, बलियज्ञमिव पुराण-पुरुष- वामनाधिष्ठिताभ्यन्तरम्'**, उषा–अनिरुद्ध के समागम में जिस प्रकार उषा की सखी चित्रलेखा ने समस्त त्रिभुवन के युवक पुरुषों की आकृति का चित्र खींचकर उषा को दिखाया था, उस राजभवन में भी उसी प्रकार चित्रकारों द्वारा समस्त त्रिभुवन के सभी पदार्थों के अनेक प्रकार की आकृतियों के चित्र दीवार पर खींचकर लोगों को दिखाया गया था।**'चित्रकर्म्मकृत श्रमाभिश्च'** चित्रकार्य में श्रम करनेवाली क्रीड़ापर्वतस्थ मणिमन्दिर में चन्द्रापीड कादम्बरी के महल में गया। बाण ने अच्छोद सरोवर के तट का वर्णन किया है – **आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशत संशोभितैः** – उस सरोवर के चारों ओर मणिलताओं की बाड़ें रंग–बिरंगे पंखों वाले चित्रित पक्षियों से युक्त थीं, वे ऐसा प्रतीत होती थीं मानों अनेक वर्णों के चित्र, पत्र–लता और सहस्रों पक्षियों से सुशोभित चित्रशालाएँ हों। कादम्बरी में सूक्तिकागृह के द्वार के ऊपर बहुपत्रों से घिरी हुई बहुपुत्रिका नामक देवी की आकृति बनाने का उल्लेख है। वहाँ पर नये चित्रित मातृपट (छठी) की पूजा में धात्रियाँ व्यस्त थीं – **अभिनवलिखित-मातृपटपूजाव्यधात्रीजनम्।** मातृपट (छठी) से तात्पर्य कपड़े पर रंगों द्वारा मातृका देवी चित्रित पट से है। वासभवन के शिरोभाग में कामदेव की मूर्ति से अंकित कामदेवपट रखा जाता था – **'वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः'** तथा द्वार के दोनों ओर सूर्य, चन्द्र, स्वस्तिक, षष्ठी देवी इत्यादि शुभ प्रतीकों तथा लोक–कलाओं को बनाने का उल्लेख है – **'उभयतश्च द्वारपक्षकयोः-पुरंधिरवर्गेण समधिष्ठितम्।'** कादम्बरी में चक्रवात मिथुन को भित्तिचित्र में बनाने का उल्लेख है – **चित्रभित्ति विलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि।** अच्छोद सरोवर में स्नान करने के लिए आयी हुई पार्वती ने तटवर्ती शिलातल पर भृंगरिटी (शिव के द्वारपाल) को अंकित किया था – **'तटशिलातलेषु विलिखितानि सभृंगरिटीनी।'** बाण ने आलेख्य के उपकरण – **वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलित दशाशामुखे चन्द्रमसि; इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम्** – कूर्चक अर्थात् कूँची जो कूँचकर बनायी जाय।

चन्द्रापीड के यौवनारम्भ का वर्णन करते हुए राजा तारापीड़ कहते हैं – **'वत्सस्य यौवनारम्भ सूत्रपात रेखा।'** पुत्र चन्द्रापीड की यौवन रोमराजि (नाभि प्रदेश के ऊपर तथा नीचे उठी रोमों की खड़ी रेखा) सूत्रपात रेखा के समान थी। सूत्रपात रेखा=ब्रह्मसूत्र, जो नाक के अग्रभाग और नाभि के मध्य से बीच की रेखा होती है। रूपचित्र का उन्मीलन करनेवाले काजल की वर्तिका **'रूपालेख्योन्मीलनकालांजन वर्तिका।'** रूपालेख्य से तात्पर्य चित्र का उन्मीलन करनेवाली आकार निर्धारिणी रेखा से है। **'प्रातश्च तदुन्मीलितं चित्रमिव चन्द्रापीड शरीरमवलोक्य।'**

---

१. कादम्बरी पृष्ठ १६। २. कादम्बरी, पृष्ठ १८६।

कादम्बरी में चन्द्रापीड का अपने मन की कल्पना से चित्र बनाया, तूलिका से नहीं, क्योंकि अँगुलियों में से धर्मजल (पसीने) की बूँद टपकने के कारण मानो बिगड़ जाने का भय था। **'अंकलिगलितस्वेद परामर्श भीतेव चिन्तयालिलेख, न चित्रतूलिकया।'**

'आलिखित चित्रफलके भूमिपाल प्रतिबिम्बम्' सभामंडप से मनोविनोद के लिए कोई सामंत चित्र–फलक पर महाराज तारापीड का सादृश्य या प्रतिबिम्ब चित्र भी अंकित कर रहे थे। तारापीड ने चन्द्रापीड के लिए वैभवशाली कुमार–भवन बनवाया था जो राजकुल का प्रतिबिम्ब (प्रतिच्छंदक या प्रतिमूर्ति) कहा गया है **'प्रतिच्छंदकमिव राजकुलस्य।'**

उत्कृष्ट चित्रकार की हस्तधृतचित्रतूलिका (कूँची) जिस प्रकार सबका ही चित्र काढ़ती है, चित्रवृत्ति भी उसी प्रकार उत्तेजनानिपुण कामदेव के द्वारा आक्रान्त (वशी) होकर सब कुछ अंकित करती है – **'निपुणमन्मथगृहीताचित्रवर्त्तिकेव तरुणचित्तवृत्तिर्न किञ्चिन्नालिखति।'**

हर्षचरित – सर्वप्रथम ऐतिहासिक गद्यकाव्य की रचना करने का श्रेय बाणभट्ट को है। बाणभट्ट की मित्रमंडली में वीरवर्मा चित्रकार था – 'चित्रकृद्वीरवर्मा'। राज्यश्री के विवाहोत्सव पर दूसरे देशों से चतुर शिल्पियों के समूह बुलाये जाने का उल्लेख है। चतुर चित्रकार मांगलिक चित्र अंकित करते थे –**'चतुरचित्रकारचक्रवाललिख्यमान मंगल्यालेख्यम्।'**[1] कलशों और कच्ची सरइयों पर पत्र–लता की चित्रकारी, वस्त्रों पर बाँधनू की रंगाई तथा कुटिल क्रम से चित्रकारी इत्यादि – **'बहु विज्वर्णकादिचित्रयन्तीभिः-व्याप्तम्।**[2] **'बहुविध भक्ति निर्माण निपुण....कुंकुम'**[3] कुंकुम (रोली) आदि से विविध प्रकार के हस्तक, पत्रालेखनादि किये जा रहे थे।

भास्करवर्मा द्वारा हर्ष के लिए भेजी गयी उपहार सामग्री **'अवलम्बमानतूलिकालाबुकान्लिखिता नालेख्यफलकसंपुटान्'**[4]में चित्रफलकों के जोड़े, जिनमें भीतर की ओर चित्र लिखे थे और उसके साथ तूलिका एवं रंग रखने के लिए छोटी अलाबू (लोकी की तुम्बी) की कुप्पियाँ लटक रही थीं।

यशोवती के वासगृह के दोनों पक्षों पर कामदेव की दोनों पत्नियों रति और प्रीति के चित्र बनाये गये थे – **'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिप्रीति दैवतम्'**[5] जब वह वास–भवन में सोती थी तब वहाँ के भित्तिचित्र में अंकित चामरग्राहिणियाँ भी चँवर डुलाती थीं – **'सुप्त्या वासभवने चित्रभित्ति चामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयांचक्रुः।**[6] चित्र में आलिखित राजा चित्र की स्थिरता के कारण सिर नहीं झुका रहे थे, यह अनादर देखकर राज्यवर्द्धन और हर्ष के पैर क्रोध से थरथराने लगे। **'आलेख्य क्षितिपतिभिरप्यप्रणमद्भिः संतप्यमानचरणौ।'**[7] राजमहल के बाहर आँगन में अधीनस्थ राजा दिन–रात चित्रलिखित की भाँति निश्चल होकर इकट्ठे रहते थे। जिस प्रकार चित्र स्थिर रहता है उसी प्रकार वे लोग भी स्थिर निश्चल थे। **'लिखितैरिव निश्चलैर्नरपतिभिर्नीयमानक्तंदिवं।'**[8] **'चित्रविशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे।'**[9]

---

१. हर्षचरित, पृ० २४४।
२. हर्षचरित, पृ० २४४।
३. वही पृ० १४३।
४. वही पृ० ३८८।
५. वही पृ० २५४।
६. वही पृ० २१६।
७. वही पृ० २३२।
८. वही पृ० २६५।
९. वही पृ० ३०८।

प्रभाकर वर्द्धन की आकृति मरणोपरान्त प्रतिकृति–चित्र में ही शेष रह गयी थी। इसी प्रकार हर्ष की मृत्यु के पश्चात् यशोमति पति के उस चित्रफलक पर बने हुए व्यक्तिचित्र को प्राण के समान दृढ़ता से लिए हुए थी – **'संनिहित प्राण समं मरणाय चित्तमिव चित्रफलकमविचलं धारयन्तीम्।'**[1] पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर हर्ष स्कन्धवार पहुँचे। वहाँ पर बाजार में घुसते ही उन्होंने एक 'यमपट्टिक' को देखा। लड़कों ने देखने के लिए उसे घेर रखा था। यमपट्टिक ने बायें हाथ में ऊँची लाठी के ऊपर एक चित्रपट फैला रखा था जिसमें भयंकर भैंसे पर यमराज का चित्र अंकित था। दाहिने हाथ में सरकंडा लिये हुए वह यमपट्टिक लोगों को चित्र दिखाता और परलोक में यमराज द्वारा मिलनेवाली नरक–यातनाओं का वर्णन कर रहा था – **'प्रविशन्नेव च विपणिवर्त्मनि कुतूहलाकुलबहलबालक परिवृत्तमूर्ध्वयष्टिविष्कम्भवितते वामहस्त-वर्तिनि भीषणमहिषाधिरूढ़ - प्रेतनाथसनाथे चित्रवति पटे परिलोकव्यतिकर भितरकरकलितेन शरकाण्डेन कथयन्त यमपट्टिकांददर्श।'**[2] ये यमपट्टिक लोग चित्र दिखाते समय जोर–जोर से गीत गाते जाते थे – **'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतकाः।'**[3]

दशकुमारचरित (७वीं शती) – इसका कथानक राजवाहन आदि दशकुमारों के यात्रा–विलास आदि के आधार पर अतिरोचकता एवं सरलता से लिया गया है। दण्डी विरचित इस कथा में चित्रकला के उपकरणों का द्वितीय उच्छ्वास में वर्णन आया है – **'नागदन्तलग्ननिर्यास कल्कवर्णितं फलकमादाय मणिसमुद्रकाद्वर्णवर्तिकामुद्धृत्य तां तथाशयानां तस्याश्च द्वितीयोच्छ्वास मामाबद्धाञ्जलिं चरणलग्नमालिखमार्यां चैताम्** – यथा – निर्यास (गोंद), कल्क (किट्ट या कीट, लुगदी), फलक (चित्रफलक या काष्ठपट्टिका – इसे खूँटी पर टाँगते थे), मणिसमुद्गक (रंग रखने का जड़ाऊ डिब्बा), वर्णिका – करण्ड समुद्गक, वर्णवर्तिका (तूलिका) आदि उपकरण। वर्णितं अर्थात् रंगी हुई; रंग में गोंद को मिलकार चिकनी लुगदी जैसा बनाकर भित्ति आदि पर चित्रांकन में प्रयोग करते हैं। अपहारवर्मा ने फलक पर नायिका का चित्र बनाकर उसके नीचे एक आर्या छन्द दिया **'आलिखमार्या'।** अपहारवर्मा ने स्वयं अपना चित्र बनाया था – **'अभिलिख्यात्मनः प्रतिकृतिम्'** (तृ० उ०)। अपनी स्वयं बनायी प्रतिकृति कल्पसुन्दरी को दिखाकर उसके प्रति अपना गंभीर प्रेम प्रकट करने के लिए ही उसने यह चित्र बनाया था – **'सादृश्यं च स्वमनेन स्वयमेवाभिलिख्य त्वत्समाधिगाढ़त्वदर्शनीय प्रेषितम्।'** –समाधि शब्द का तात्पर्य एकाग्रचित्त होकर किसी कार्य के लिए बैठना है, किन्तु यहाँ प्रगाढ़ प्रेम और लगन के लिए है। अष्टम उच्छवास में **'तात, सर्वैवात्मसंपदभिजना.....बुद्धिश्च निसर्ग पटवी, कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु च काव्यविस्तरेषु प्राप्त विस्तरा तवेतरेभ्यः प्रतिविशिष्यते।'** तात, अपने कुल के अनुसार आप में सभी गुण विद्यमान हैं। बुद्धि भी आपकी स्वभावतः प्रखर है। नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्यकला पर भी और लोगों की अपेक्षा आपकी बुद्धि को अच्छा अधिकार प्राप्त है।

दण्डी की दूसरी रचना 'अवन्तिसुन्दरी कथा' है जिसमें चित्रोल्लेख दशकुमार चरित से मिलते–जुलते हैं।

कथासरित्सागर (११वीं शती) – लोक–जीवन से संबद्ध इन कथाओं में चित्रकला की चर्चा मिलती है। उदयन का कुमार नरवाहनदत्त चित्रकला, मूर्तिकला और संगीतकला में निपुण था। दूसरी कथा से पता चलता है कि पद्मावती ने वासवदत्ता के घर की भीत पर विरहिणी सीता की चित्रित मूर्ति को देखकर आश्वासन प्राप्त किया था। इसी प्रकार मणिपुर की राजकुमारी रूपलता के प्रति अपना प्रेम

---

१. हर्षचरित पृ० २८६।
२. हर्षचरित, पृ० २६४।
३. वही पृ० २३५।

प्रकट करने के लिए चित्रकार कुमारदत्त द्वारा राजा पृथ्वीरूप ने अपना एक चित्र भेजा था। एक अन्य कथा में परिव्रजिका कात्यायनी चित्रविद्या में बड़ी निपुण थी। उसने राजकुमार सुन्दरसेन के आग्रह पर राजकुमारी मन्दारवती का एक सजीव चित्र अंकित किया था और इसी प्रकार राजकुमार के मित्रों के आग्रह पर उसने राजकुमार का भी सुन्दर चित्र बनाया था। राजा विक्रमादित्य के दरबारी चित्रकार के संबंध में कहा गया है कि उसको सामंतों के समान स्थान प्राप्त था और जिविकोपार्जन के लिए उसको सौ गाँवों की जागरी प्राप्त थी (बभूव ग्रामशतभुक्)। एक कथा से यह भी ज्ञात होता है कि राजा नरवाहनदत्त चित्रकला की प्रतियोगिता आयोजित करके बहुधा बड़े–बड़े प्रतिस्पर्द्धी चित्रकारों को पराजित करता था। प्रतिष्ठान नगरी के राजा पृथ्वीरूप के दरबार में कुमारदत्त नामक चित्रकार का और विदर्भ देश के राजा के दरबार में रोलदेव नामक चित्रकार का भी वर्णन है।

विनय पिटक (४०० - ५०० ई० पू०) – पालि भाषा के बौद्ध ग्रन्थ विनय पिटक में राजा पसेनिद के चित्रित रंगमहलों का वर्णन आया है। इन महलों में रंगीन आकृतियों तथा आलंकारिक आलेखनों से सुसज्जित चित्रागार भी थे जिनको देखने के लिए दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी।

थेरथेरीगाथा (४०० - ३०० ई० पू०) – राजा तिस्स को भगवान् बुद्ध की जीवनी से चित्रित एलबम (चित्राधार) बिम्बिसार (५४३–४१६ ई० पू०) ने भेंट किया था, यह प्रसंग आया है। भगवान् बुद्ध के छविचित्र उनके जीवनकाल में ही बनाये जाते थे। 'चित्रकला में न प्रवृत्त हों' ऐसा अपने अनुयायियों को उन्होंने उपदेश दिया था।

दूसरी शताब्दी ई० पू० के साहित्य में 'वर या वधू' की अनुपस्थिति में उनके चित्र बनाकर विवाह संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता था। जैसा कि महाभाष्य में भी कृष्ण लीला के चित्रों का वर्णन है।

उम्मग्ग जातक – इसमें चित्रों का उल्लेख सभामंडपों, राजप्रासादों एवं चित्रित सुरंगों या चित्रागारों से सम्बन्ध में आया है। चतुर चितेरों ने इन्द्र, सुमेरु, चारो महाद्वीप, समुद्र, हिमालय, सूर्य, चारो दिग्पाल, सरोवर तथा सात भुवनों इत्यादि के चित्र बनाये थे। इस कारण यह गुफा देवताओं की सभा सुधर्मा के समान प्रतीत होती थी।

चतुर्भाणी (५ वी शती) – महाकवि श्यामिलक विरचित 'पादताडितकम्'[१] में डिण्डियों की बन्दरों से उपमा है। **'आलेख्यमात्मलिखिभिर्गमयन्ति नाशे, सौधेषु कूर्चकमषीमलमपर्यन्ति'** में डांड्या लोग बने–बनाये चित्रों में कुछ लीप–पोतकर उसे नष्ट कर डालते हैं, घर की पुती हुई दीवारों पर कूँची से स्याही पोतकर उन्हें गन्दा कर देते हैं। जब विट ने लाट देश के चित्रकार निरपेक्ष का प्रद्युम्न की मंदिर की ध्वजा चित्रित करते देखा तो देखते ही वह डिंडियों (गुण्डों) की चित्रकला को अपशब्द कहने लगा। वह कहता है, भला इस चित्र की कौन–सी विशेषता डिंडियों को प्रिय है।

इसी पादताडितकम्[२] में लक्ष्मी के चित्रपट का उल्लेख है – **'लक्ष्मीमिवालेख्यपट।'**

पालि एवं प्राकृत भाषा के बौद्ध तथा जैन साहित्य में भी चित्रकला का उल्लेख है। पालि में ५४७ जातक कथाएँ हैं। 'महावंश' में वर्णन है कि राजा ज्येष्ठ तिष्य स्वयं अच्छे चित्रकार थे इसलिए उन्होंने अपने राज्य में चित्रविद्या (सिप्प) की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया था। 'विनयपिटक' ५.३.

---

१. पादताडितकम्, पृ० १६६।
२. वही पृ० २१६।

३६ के सन्दर्भ में कोशल राजा प्रसेनजित् की चित्रशाला (चित्रागार) का इतिहास सर्वविदित हैं। विनय पिटक (पृ० ५५) तथा 'आचारांग सूत्र'[१] में बौद्ध भिक्षुणियों, जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्रशालाओं में जाने तथा वहाँ ठहरने का निषेध था। 'संयुत्त निकाय' में विद्ध चित्रों का वर्णन है जिससे अनेक प्रतिकृतियाँ सहज ही बनायी जाती थीं। 'मिलिन्द प्रश्न' में कहा गया है कि दान के समय चित्र नहीं दिये जाने का वर्णन है। 'सुर सुन्दरी कथा' ११वीं शती प्राकृत भाषा में तथा जैन ग्रंथ 'तरंगवती' में भी चित्रों का वर्णन है। तरंगवती में नायिका तरंगवती द्वारा घर में एक बृहद् चित्र–प्रदर्शनी के आयोजन करने का प्रसंग है। 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष–चरित' में भित्तिचित्रों से सुसज्जित राजदरबारों में चित्रकरों की सभा का वर्णन है। **'नायाधम्मकहाओ'**[२] में भी ऐसा वर्णन है। 'प्रश्न व्याकरण सूत्र'[३] में सचित्त (मानव, पशु, पक्षी), अचित्त (नदी, पर्वत, आकाश आदि) और मिश्र, संयुक्त – इन तीन श्रेणियों के चित्रों की चर्चा है। अल्पना (रंगोली) का उल्लेख जैन ग्रंथों में प्राप्य है। 'दिव्यावदान'[४] में कपड़े पर बुद्ध का चित्र बनाने की तथा सुदर्शन के नगर में यक्ष और देवताओं के चित्र आरक्षण तथा शोभना हेतु हैं। और द्वारकोष्ठक की छत में भवचक्र के एक विशाल चित्र के अंकन का वर्णन किया गया है।

'मंजुश्री मूलकल्प' में पट–चित्र बनाने का विधान है। पटचित्र स्वच्छ श्वेत सूती दोनों ओर किनारे वाले कपड़े पर बनाते हैं। शुभ दिन में कुशासन पर बैठकर, पूर्वाभिमुख होकर एकाग्रचित्त से बुद्ध या बोधिसत्त्व का ध्यान करके, सुन्दर वर्तिका से चित्र–रचना प्रारम्भ करनी चाहिए। पटचित्र सूर्योदय से दोपहर तक बनाने का विधान है। बिना रेशे वाले पट या वृक्ष–छाल पर चित्र बनाना चाहिए।

'अट्ठशालिनी'[५] में चित्रपट्ट (यमपट्ट) का वर्णन है, साथ ही, इसके विधि–विधान के लिए लेखा, गहण (हाथ बैठाना), रंजन (रंगामेजी), उज्जोतन, वत्तन (वर्तना), रंग इत्यादि शब्द चित्रकला के हैं।

तिलक मंजरी (११वीं शती) – इस ग्रन्थ में गन्धर्वक नामक एक युवक चित्रकार द्वारा निर्मित लम्बे चित्रपट का वर्णन है – **'प्रकृष्ट चीन [illegible]काया सयत्नमाकृष्य चित्रपटम।'**[६] लम्बे चित्रपटों या कुण्डलित पटों की सुरक्षा के लिए चीन देश के बने रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) के आवरण में लपेटकर रखा जाता था और उसमें से बहुत सँभालकर निकाला जाता था। इस चित्रपट पर चित्रित किसी राजकुमारी की आकृति का सुन्दर ढंग, रंगों का यथोचित प्रयोग, शरीर के निम्नोन्नत भागों का आकर्षक अंकन और सजीव–से दिखायी देनेवाले पक्षी तथा मृग आदि सभी कुछ सुन्दर संयोजन बन पड़े हैं। इस सुन्दर चित्र का रसास्वादन नागरिक करते थे – **'पीतमतिचिरं कर्णामृतम्, ईक्षणामृतं..... आस्वाद्यताम्'** जो चित्रकला के गुण–दोष पर भी विचार–विमर्श करते थे **'राजनीतिरिव यथोचितमवस्थापितवर्णसमुदाया दिनकर प्रभेव प्रकाशितव्यक्त निम्नोन्नत विभागा'** चित्र के छाया–प्रकाश (वर्तना) का सुन्दर वर्णन करके अपनी कला–विचक्षणता दिखलायी है। **'उपदर्शित बहुविकल्प चित्रशिल्पेन'**[७] में वारांगनाएँ (वेश्याएँ) चित्र–प्रतियोगिताओं में अपना कौश दिखलाती थीं। इसमें एकाग्र होकर बार–बार दोषपूर्ण रेखांकन को मिटाकर ठीक करने का भी उल्लेख है।

---

१. आचरांग सूत्र २.२.३.१३।
२. नायधम्मकहाओ १.८.८७।
३. प्रश्नव्याकरण सूत्र २.५.१६।
४. दिव्यावदान, पृ० ५४७, २२१।
५. अट्ठशालिनी, पृ० ६४।
६. तिलकमंजरी, पृ० १६५।
७. तिलकमंजरी, तृतीय भाग, पृ० १६।

पद्य

कालिदास (४थी - ५वीं शती) – कालिदास कृत मेघदूतम्, रघुवंशम, कुमारसंभवम् में चित्रों के अंकन की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उत्तरमेघ में कालिदास अलकापुरी के महल में बने चित्रों की तुलना इन्द्रधनुष से करते हैं – **'विद्युत्वन्तं ललित वनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः।'**[1] प्रासाद का अन्तःपुर चित्र से विभूषित था जिसमें इन्द्रधनुष की भाँति विविध रंग स्पष्ट दिखायी देते थे। अलकापुरी के सतखण्डे महलों की ऊँची अटारी में मेघ घुसकर जल–रंगों से बने भित्तिचित्रों को खराब कर देते हैं। जल रंगों से बने चित्रों पर जल–कण पड़ जाने से वे मलिन हो जाते हैं। यह इनमें बड़ा दोष है –

> **नेत्रा नीताः सततगतिना [illegible]भूमी-**
> **रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।।२.६**

मेघदूत में विरही यक्ष अपनी प्रणय–कुपिता प्रिया का चित्र शिला पर बनाता है। यक्ष ने अपनी प्रिया के पास जो संदेश भेजा था उसमें एक स्थान पर उसने कहा है कि – हे प्रिये ! जब मैं शिलापट्ट पर गेरू से तुम्हारी रूठी हुई आकृति का चित्र अंकित करके अपने आपको तुम्हारे चरणों पर गिरा चित्रित करना चाहता हूँ तब तक उमड़ते हुए आँसुओं की धारा मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेती है। क्रूर विधाता उस चित्र में भी हमारा काल्पनिक संयोग नहीं सहन कर सकता –

> **त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां**
> **आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।**
> **अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे'**
> **क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।। २.४२।।**

कालिदास के मेघदूत में यक्ष अपना संदेश मेघ से कहता है कि उसकी प्रियतमा विरह में क्षीण मेरी आकृति का अपने अनुमानों के आधार पर भावचित्र बनाती होगी – **'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती'।।२.२२।।** स्मृति–चित्र में चित्रकार अपनी स्मृति को अपनी रचना द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। भाव–चित्र में चित्रकार अपनी कृति में भावुकता का समावेश करने के लिए प्रयत्नशील होता है। अलका में यक्षिणी के गृहद्वार के शाखा–स्तम्भों पर शंख और पद्म निधियों की आकृतियाँ अंकित थीं। शंख और पद्म प्रतीकों का अंकन शुभ होता है। **'द्वारोपान्ते लिखित वपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा'** (२.१७)। विंध्यपर्वत के ढलान में ऊँचे–नीचे ढोकों पर बिखरी हुई नर्मदा नदी की उपमा हाथी के शरीर पर किये गये भाँति–भाँति के भक्तिच्छेदों (पत्रालेखन) से की गयी है। यह पत्रालेखन हाथियों (पशुओं), मनुष्यों के शरीर पर लताओं आदि के अंकन से किया जाता था। **'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां, भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिभंगेगजस्य'** (१.१९)।

'रघुवंश' में अज ने अपनी प्रियतमा इन्दुमती के वियोग में सादृश्य तथा प्रतिकृति (चित्रादि) को देखकर और स्वप्न में क्षणिक समागम का सुख उठाते हुए किसी प्रकार आठ वर्ष व्यतीत किया – **'सादृश्य प्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमात्सवैश्च'** ।।८/९२।। 'रघुवंश' वनवास से अयोध्या लौटने पर सौहार्दनिधि राम ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने चित्र–मात्र शेष पिता के पूजागृह में प्रवेश किया –**'वाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश'**[2] जिसमें उनके पिता दशरथ का आलेख्य

---

१. मेघदूत २.१।
२. रघुवंश १४, १५।

ही अवशिष्ट था। **'चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णः करेणुभिर्दत्त मृणालभंगाः।'**[1] –जिसमें पद्मवन में हथिनियाँ हाथियों को मृणाल तोड़कर दे रही हैं। इन भित्तिचित्रों को सजीवता और अत्यधिक सादृश्य को दिखलाने के लिए कहते हैं कि सिंह उन पर नखों से प्रहार कर रहे हैं। इन्द्र की बाँह पर शची ने विशेषक–रचना की थी। असुरों का नाश होने पर उनकी पत्नियों ने गण्डस्थल चित्रित करना छोड़ दिया था। अज की पत्नी इन्दुमती ललित कलाओं में निपुण थी। राम के भवन में चित्र अंकित थे जिन्हें 'चित्रवत्सद्म' कहा गया है। राजप्रासाद के स्तम्भ पर बनी पुतलियाँ रंगी भी जाती थीं। रघुवंश में वर्णन है –

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।।

त्यक्त, उजड़ी हुई अयोध्यानगरी की स्तम्भपुत्तलिकाओं के स्थान–स्थान से रंग छूट गये थे और वे मलिनवर्ण की हो गयी थीं। उन स्तम्भों में लिपटे हुए सर्पों ने जो केंचुल छोड़ा था वही उन मूर्तियों के स्तनों के वस्त्र हो गये थे। राजकुमारों का हृदय जीतने के लिए दूतियों द्वारा सुन्दरियों का व्यक्ति–चित्र भेजा जाता था – **'प्रतिकृति रचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः**[2]**।'** रघुवंशी महाराज सुदर्शन का विवाह राजकुमारियों के चित्र मँगाकर निश्चित किया गया था। वधू को 'हंसचिन्हितदूकूल' हंसाकृति से चित्रित वस्त्र पहनाया जाता था।[3]

'कुमारसम्भव' में कालिदास ने ब्रह्मा को श्रेष्ठ कलाकार के रूप में देखा है। वास्तव में कलाविद् एक ईश्वर है और यह सृष्टि ही कला है। प्रकृति स्वाभाविक शक्ति का नाम है और कला मानवीय सृष्टि का, जो प्रकृति से कुछ विशेषता रखती है। कालिदास ने कला–रचना की प्रक्रिया के बहाने श्रेष्ठ मानव–कलाकार के गुणों का उल्लेख किया है –

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्त्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।। १.३२।।

जिस प्रकार कुशल कलाकार की तूलिका द्वारा ठीक–ठीक रंग भरने से चित्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित होकर निखर जाता है तथा सूर्य की किरणों से कमल–रूप–वर्ण और गन्ध से विकसित हो जाता है वैसे ही पार्वती का चतुरस्त्र शरीर भी नवयौवन के आगमन से निखर उठा। शरीर की विभक्तता अर्थात् नवयौवन ने शरीर को निम्नोन्नत करके विभक्त बना दिया, उन्मीलन या उभार ला दिया, चित्रकार की कलाकृति के निर्माण में माध्यम की प्रकृति की जानकारी और उसी के अनुसार विधान का होना आवश्यक है। **'तच्छ्वसनात्काननमेव सर्व चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे।'**[4] पूरा–का–पूरा कानन ही चित्रलिखित के समान है।

शिवजी का व्यक्ति–चित्र पार्वती ने अपने हाथों अंकित किया था। अपने हाथ से बनाये हुए शिवजी के चित्र को ही पार्वती, नींद में वास्तविक शिवजी समझकर उपालम्भ देने लगीं –

'इति स्वहस्तोल्लिखितश्चतुमुग्धया रहस्युपालम्यत चन्द्रशेखरः[5]**'**

---

१. कुमारसम्भव १६. १६।
२. वही ।। ! ८.५३।।
३. वही ।। ! ७.२५।।
४. वही ३. ४२।
५. वही ५. ५८।

शिव–विवाह के समय सप्तमातृकाओं का सम्मान करने के लिए उन मांगलिक श्रृंगार सामग्री का स्पर्श कर दिया – **'बभूव भस्मैव सितांगरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः। उपान्तभागेषु च रोचनांको गजाजिनस्यैवदुकूलभावः'**।।७.३२।। गोरोचन के द्वारा चित्र बनाने का उल्लेख है। ८.४५ में **'रक्तपीतक पिशा.....वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः'** उपमित है कि संध्या ने बादल रूपी चित्रपट को वर्तिका से अच्छी तरह लाल, पीले और भूरे रंगों से रंग दिया, जो वर्तिका मूलरंग तथा मिश्रित रंगों के प्रचलन पर प्रकाश डालती है।

शिशुपाल वध – ईसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध–आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध वर्मल राजा के यहाँ माघ के पितामह सुप्रभदेव सर्वाधिकार प्राप्त महामात्य थे। वर्मल का समय विक्रमी संवत् ६८२ है। माघ कवि बौद्धकालीन है। इनके शिशुपालवध में सजीव चित्रों का वर्णन है। इसके द्वितीय सर्ग में सभामण्डप की दीवारों पर देवता चित्रलिखित हुआ करते थे –**'इति संरम्भिणो वाणार्बलस्यालेख्य देवताः सभाभित्तिः ......वदन्निवा।**[१]**'** चित्रलिखित देवता मानो, अति क्षुब्ध बलराम की (उपर्युक्त) बातों का सभामण्डप की दीवारों से निकलनेवाली प्रतिध्वनि के बहाने से भय के साथ अनुमोदन–सा करने लगे। चिकने तल पर भित्तिचित्र नहीं बनाये जा सकते –

'यस्माश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः,
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बितांगाः सजीव चित्रा इति रत्नभित्तिः।[२]**'**

उस द्वारिकापुरी के भवनों की दीवारों के (मणिखचित होने से) अत्यन्त चिकनी होने के कारण चित्र–निर्माण करने में असमर्थ युवकगण मानो अपने प्रतिबिम्बित अंगों से रत्न की दीवार को सजीव चित्रों से युक्त बना देते थे। **'सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः।'**[३] अद्भुत चित्रों से समलंकृत एवं विशाल बड़े–बड़े अनेक कमरोंवाले भवनों से सुशोभित (द्वारिकापुरी) थी। कपोतपालि पर पक्षी अंकित किये जाते थे। **'चिक्रंसया कृत्रिम पत्रपंक्तैः कपोतपालीपु निकेतनानाम्।'**[४] वर्णों (रंगों) की छटा से .वतक पर्वत आकाशगामियों को चित्रलिखित–सा दिखायी देता है। **'अन्योन्य..........रचितम् भित्ति त्रकर्म।'**[५] नववधू के श्रृंगार में कपोल इत्यादि पर भी चित्र बनाये जाते थे **'प्राप्यते स्मगतिचिक्रक चित्रैश्चित्र चित्र भार्द्रनखलक्ष्म कपोलैः'** १०.७८। रमणी के कपोलों पर बने चित्र आदि पुँछ गये थे फिर भी उनमें नूतन नखक्षत के चिह्न बन गये।

माघ ने कल्पना में चित्रकला को खींचने का बहुत ही अच्छा यत्न किया है –'जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना धनुष खींचा तब उनका वक्षःस्थल ऊँचा एवं विशाल हो गया, कन्धे कुछ नीचे की ओर झुक गये, मस्तक मयूर के समान ऊँचा उठ गया एवं उनकी एक मुट्ठी आगे की ओर तथा दूसरी पीछे की ओर आ गयी। इस प्रकार उस समय वे ऐसे सुन्दर तथा निश्चल दिखायी पड़े मानो चित्रलिखे हों –

उरसा विततेनपातितांसः स मयूराञ्चितमस्तकस्तदानीम्।
क्षणमालिखितो नु सौष्ठवेन स्थिर पूर्वापर मुष्टिराबभौ वा।।[६]

---

१. शिशुपाल वध, २.६७।
२. वही ३.४६
३. वही ३.५०
४. वही ३.५१
५. वही ४.५३
६. वही २०.२०

नैषधचरित (१२वीं शती) – श्रीहर्ष विरचित नैषध के प्रथम सर्ग में दमयन्ती द्वारा नल का चित्र किसी कुशल चित्रकार से चित्रित करवाने का उल्लेख आया है –

> **प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ**
> **लिखाधिलीलां गृहभित्तिकावपि।**
> **इति स्म सा कारुवरेण लेखितं**
> **नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते।।**१.३८।।

क्रीड़ा–भवन की भित्ति पर तीनों लोकों को जीतनेवाले शोभा से युक्त सौन्दर्यवाले किन्हीं दो प्रेमी तथा प्रेयसी के चित्र बनाओ, इस प्रकार कहकर वह कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित नल के तथा अपने चित्र की समानता को देखती थी। जिसमें अनेक स्थायी रंगों के प्रयोगों का वर्णन है – **'स्थिति शालिसमस्तवर्णतां'**[1] में भित्ति पर अनेक ऐतिहासिक आख्यान चित्रित हैं। जैसे मेनका आदि अनेक अप्सराओं पर कामासक्त ऋषि–मुनियों को दर्शाया गया है।

(७/७२; २१/६६) में हस्तलेख (भासचित्र) का वर्णन है। कल्पवल्ली या पत्रलता का भी चित्रण इनमें है। चित्रपट पर प्रतिकृति–चित्रों का भी वर्णन है। चित्रकार को 'चित्रशालिक' एवं 'कारु' तथा चित्र को 'लिपि' भी कहा गया है।

गीतगोविन्द (१३वीं शती) – राधाकृष्ण की केलि–कथाएँ तथा उनकी अभिसार–लीलाओं का वर्णन सचित्र–सा प्रतीत होता है। जयदेव ने श्रृंगार वर्णन में कस्तूरी से राधा के स्तनों पर पत्रचित्र रचना करने का वर्णन कई स्थानों पर किया है – यथा – **'कूचयोः कस्तरिकापत्रकम्' 'मृगमदपत्रकम्'**[2] राधा प्रगाढ़ प्रेम के वशीभूत होकर कृष्ण से अपने स्तनों एवं कपोलों पर पत्रलता चित्रांकन करने को कहती है – **'रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोः।'**[3] शरीर पर चित्र बनाने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है।

सूर्यशतक

मयूरकृत सूर्यशतक में **'जगचित्रम् उन्मीलयन्ती'** सूर्य की किरणें जगत्चित्र को उन्मीलित कर रही हैं। इसमें प्रकृति के चार मूल रंगों का वर्णन है – पाण्डु, तिमिर (काला), पिंग (पीला) और शोण। कृष्णमिश्र कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' में मोह कहता है कि तुम्हारा चित्र मेरे हृदय–भित्ति पर स्थित है।

पवनदूत (१२वीं शती) – बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि धोयी रचित पवनदूत में नायिका द्वारा भित्ति पर लिखित कामदेव के चित्र का उल्लेख हुआ है। मन को तृप्त करने हेतु बनाये जानेवाले चित्रों को उसने 'लीला–फलक' कहा है। इसमें शुद्ध प्रकृति–चित्रण तथा चित्राधार (एलबम) का भी वर्णन है।

चम्पू

यशस्तिलक चम्पू (१०वीं शती) – सोमदेव सूरि कृत 'यश०' में **'[illegible] प्रोक्ते च चित्रकर्मणि- श्रमणं तैल लिप्तांग नवभिर्भित्तिर्युतम् यो लिखेत्स लिखेत्सर्वा पृथ्वीमपिससागराम्।।१०४।।'**

---

१. नैषधचरित १८.१६, २.६८, १८.२५

२. गीतगोविन्द ११.३, १२.१।

३. गीतगोविन्द १२.१।

जो चित्रकार, करोड़ सूर्य–सरीखे तेजस्वी व नवभित्तियों (कोट, वेदी आदि नौ भित्तियों) से संयुक्त श्रमण तीर्थंकर परमदेव को चित्र में लिखता है – चित्रित करता है – वह असंख्यात समुद्र–सहित पृथ्वी को भी चित्र में लिखता है – चित्रित करता है अर्थात् उसे पृथ्वी, पाताल व स्वर्गलोक को चित्र में चित्रित करने का प्रचुर पुण्य होता है।[1] इसी तरह – (१) **'बाहुबलिविदिता'** (जहाँ पर बाहुबली स्वामी चित्रित हैं), (२) **रूपगुणनिका (चित्र कर्मणि समीपे चन्द्रसूर्यावालिखितौ यत्र लिखितः)** उसी चित्र के पास चन्द्र और सूर्य भी चित्रलिखित है, (३) **अशोक रोहिणी पेशला** (चित्रलिखित अशोक राजा व रोहिणी रानी से मनोज्ञ है), (४) **प्रकटति जिवितेशा** (प्रद्युम्न स्वामी चित्रलिखित हैं), (५) **चित्रबहुला** (चित्र सृष्टिवाली), (६) **सन्निहितैरावत्ता** (चित्रलिखित ऐरावत हाथीवाली), (७) **सौरभेया** (चित्रलिखित शुभ्र वृषभवाली) इत्यादि चित्रित हाथी, वृषभ का वर्णन प्रचुर रूप में प्राप्य है जो जैन धर्म के परिपालन में सहायक है। वस्त्र में प्रिया के चित्रलेखन कार्यों **'चित्रालेखन कर्मभिर्मनसिज व्यापारसारामृतैर्गाढ़ाभ्यास पुरः स्थित प्रियतमापादाम्बुजद्वयैः'**[2] का वर्णन आया है। मानव तथा पशु के शरीर पर शंख, स्वस्तिक, चक्र आदि से युक्त पत्रलता–लेखानभूति अर्थात् भस्म या चूर्ण रंग से करने का उल्लेख आया है।

नलचम्पू (१०वीं शती) – त्रिविक्रमभट्ट के इस ग्रंथ में 'यन्त्रचित्रशाला–गृह' का वर्णन है जिसमें धारागृह (स्नानागार) में चित्र का वर्णन हुआ है। भवन की भित्तियों पर काले रंग (काजल) से रेखांकन किया जाता था **'कज्जलालेख्यचित्र....भवनभित्तिषु'।** नल के गुणों से दिशारूपी भित्तियाँ इस तरह खिल उठी हैं जैसे शलाका से चित्रकार ने किसी भित्ति पर चित्र खींचा हो **'यैः सर्वत्र शलाकयेव लिखितैर्दिग्भित्तयश्चित्रिताः।'**[3] उस समय की ग्रामीण स्त्रियाँ भी चित्रकला में निपुण होती थीं **'मण्ड्यन्तां मसृणमुक्ताफलक्षोदरंगावलीभिः प्रांगणानि।'**[4] अर्थात् मोती के महीन चूर्ण से रंगावली द्वारा प्रांगण को सजा दो।

नाटक

भास (३री शती) – प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता, चारुदत्त, दूतवाक्यम्, प्रतिमा नाटकम् आदि में तत्कालीन सामाजिक रीति–रिवाजों को चित्रों में अंकित कर दर्शाने की प्रथा थी, यह जाना जा सकता है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' तथा 'स्वप्नवासवदत्ता' इन दोनों नाटकों की नायिकाएँ उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता और नायक वत्सराज के अधिपति उदयन हैं। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने नायक को छल से बन्दी बनाकर राजकुमारी वासवदत्ता को (उस बन्दी अवधि के दौरान ही) उनसे वीणा बजाना सिखलवाया। पारस्परिक प्रेम हो जाने के कारण दोनों ने गांधर्व विवाह कर लिया और मंत्री यौगन्धरायण की सहायता से कौशाम्बी भाग गये। इस घटना का पता चलने पर प्रद्योत तथा राजमहिषी अंगारवती ने चित्र बनवाकर उन दोनों का विवाह विधिवत् सम्पन्न किया। **'किमिदानीं हर्षकाले सन्तप्यसे तच्चित्रफलकस्थयोर्वत्सराजवासवदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम्'** (अंक ४)।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण के तृतीय अंक में **'आलिखितंखलु मम मोदकमल्लं सन्तापतिमिरेण सुष्ठु न प्रेक्षे। भवतु, प्रमार्जिष्यामि तावदहम्। ही ही साधु रे चित्रकर ! भाव ! साधु। युक्तलेखतया वर्णानां यथा यथा प्रमार्जिम, तथा तथोज्ज्वलतरं भवति। भवतु, उदकेन प्रमार्जिष्यामि। कुत्र न खलूदकम् ? इदं शोभनं शुद्धतटाकम्। अहमिव शिवोऽपि तावद् एतस्मिन् मोदकमल्लके निराशो**

---

१. यशस्तिलक चम्पू, चतुर्थ अध्याय, पृ० १४३।

२. वही २०३.६।

३. नलचम्पू, १.३५।

४. नलचम्पू, पृ० ११७।

भवतु।' दक्षिणा में प्राप्त मोदको के न दिखलायी देने से वह कहता है कि निश्चय ही चित्रित किया गया यह मोदक मुझे (परेशान) सन्ताप पहुँचा रहा है, जो ठीक से दिखायी नहीं देता, अतः मैं इसे प्रमार्जित करता हूँ (कपड़े की गद्दी से रगड़ना)। वाह रे चित्र बनानेवाले का भाव, वाह ! वर्णो की (रंगों की) युक्त लेखतया (उचित रूप से भरना) के कारण जैसे–जैसे रगड़ता हूँ वैसे–ही–वैसे उज्ज्वलतर होता जा रहा है। अच्छा तो जल से धोता हूँ। जल से धोने से यह सुन्दर शुद्ध पृष्ठभूमि हो गयी। यह प्रक्रिया चित्रकला की घुटाई तकनीक है। विदूषक कहता है कि मेरी तरह शिव को भी इन मोदकमल्लकों से निराश होना पड़ा। शिव के समीप लड्डुओं से भरे पात्र का अंकन उनके पुत्र गणेश का बोधक है। कुषाणकालीन मूर्तियों में यह दृश्य द्रष्टव्य है।

चारुदत्त – भास प्रणीत इस नाटक के चतुर्थ अंक में, चेटी चित्रफलक, वर्तिकाकरण्डक, रंग, तूलिका आदि रखने का डिब्बा या बाँस की पिटारी हाथ में लिये हुए वसंतसेना के साथ प्रवेश करती है। जिस पर चारुदत्त का चित्र अंकित है। **'चित्रकर इव बहुमल्लकै परिवृतः'** बहुत प्रकार के रंगों के प्रयोग का वर्णन आया है। यहाँ विदूषक के भोजन की उपमा चित्रकार के बहुविध वर्णो (रंगों) से सुसज्जित पात्रों से की गयी है। (अंक १) में वसन्तोत्सव में कामदेव का चित्र लेकर बाजे–गाजे के साथ नागरिकों के विशाल जुलूस निकालने का वर्णन है।

दूतवाक्यम् – भास के इस नाटक (अंक ७) में कृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के पास आते हैं और वह उस समय कृष्ण के स्वागत के लिए उठने को मना करता है तथा कञ्चुकी से द्रौपदी–केशाम्बरावकर्षण–अंकित चित्रपट लाने के लिए कहता है **'आनीयतां स चित्रपटो ननु, यत्र द्रौपदीकेशाम्बरावकर्षणमालिखितम्।'** कुण्डलित कर रखे हुए चित्रपट को फैलाने की बात कहता है। संपूर्ण चित्रपट को देखकर वह कहता है – **'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपटः'** अहा, यह चित्रपट कितना दर्शनीय है। तदुपरान्त उसके एक–एक दृश्य का वर्णन करता है कि यह द्रौपदी के केश को हाथ में पकड़े हुए दुःशासन चित्रित है। यह दुष्टात्मा भीम है जो समस्त राजाओं के सम्मुख अपमानित होती हुई द्रौपदी को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होने के कारण सभा के स्तम्भ को उखाड़ रहा है। यह युधिष्ठिर तिरछी निगाह से भीम को शांत कर रहे हैं, अर्जुन क्रोधित होकर अपना धनुष खींच रहे हैं, क्रुद्ध नकुल और सहदेव भी अधरोष्ठ काट रहे हैं, युधिष्ठिर उन सबको रोक रहे हैं। चित्रपट के अन्त में आचार्य और भीष्म पितामह दुर्योधन की जघन्यता को देखकर करुणा और लज्जा से मुख को वस्त्र से ढँककर – **'पटान्तर निहित मुखौ'** खड़े अंकित हैं। संपूर्ण चित्रपट देखने के बाद कहता है – **'अहो अस्य वर्णाढ्यता। अहो भावोपपन्नता। अहो युक्तलेखता। सुव्यक्तमालिखितोऽयं चित्रपटः।'** वर्णाढ्यता, भावोपपन्नता तथा युक्तलेखता तीनों चित्रकारी के महत्त्वपूर्ण अंग हैं जो इन चित्रों में समाविष्ट है। **'प्रीतोस्मि'** तब तक कृष्ण वहाँ आकर के चित्रपट को देखने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु विषयवस्तु (द्रौपदी केशाम्बरकर्षण) को देखकर इस चित्रपट को दूर हटाने को कहते हैं और सभा में अपने बान्धवों को अपमानित करने के कारण दुर्योधन की मूर्खता का वे उपहास करते हैं।

प्रतिमा नाटकम् – इस नाटक के (तृतीय अंक) में भरत अपने पितरों की मूर्तियों का दर्शन करते हुए उसके 'क्रियामाधुर्य' और 'भावगतिराकृति' का वर्णन करते हैं। दैवत तथा मानुष प्रतिमाओं में सादृश्य से युक्त गैलरी चित्र–वीथी कहलाती थी। इन पितर प्रतिमाओं में – **'अहो क्रियामाधुर्य पाषाणानाम्'** में प्रतिमा के क्रिया की प्रशंसा की गयी है और उसके कला–कौशल को देखकर मन में सुखद अनुभूति होती है। **'अहो भावगतिराकृतीनाम्'** –अर्थात् भाव और गति होने से चित्र या मूर्ति की आकृति में सजीवता प्रतीत होती है। चित्र के षडंग में 'भाव' अति महत्त्वपूर्ण है। चित्र–कला की

प्रतीक–योजना द्रष्टव्य है **'प्रतिमानामल्पान्तराकृतिः'** अर्थात् जो आकृति वास्तविकता से मिलती–जुलती हो और वास्तविक रूप–स्वरूप का आभास देती हो। भित्तियों पर हाथ की छाप (थापा) लगाना **'दत्तचन्दनपञ्चांगुलाभित्तयः'** का वर्णन है जो आज भी शुभसूचक मानी जाती है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (४थी-५वीं शती) – कालिदास ने नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार आलेख्य (चित्रकला) के समान सभी राग–रंग जिसमें सन्निविष्ट है ऐसा चित्तवृत्ति को आकर्षित करनेवाला 'नाट्य गृह' का वर्णन किया है। यथार्थ से भिन्न रूप का संघात करने में कालिदास ने अक्षुण्ण प्रतिभा का परिचय दिया है –

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे'
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।।२.६।।

ब्रह्मा ने जब शकुन्तला को बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मन में संसार की सभी सुन्दरियों के रूपों को इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगें। अनसूया और प्रियवंदा ने चित्रों से बहुत–कुछ सीखने की बात कही है **'चित्रकर्म[illegible]गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः'** चित्रों में जैसा देखा और सीखा है उसी ढंग से तुम्हारे शरीर पर आभूषण पहनाती हूँ क्योंकि हमने तो कभी आभूषण पहना नहीं है।

छठे अंक में माधवी लतामण्डप में लाये गये शकुन्तला के प्रतिकृति अंकित चित्रफलक में भाव और रस दोनों का सम्मिश्रण है जो कि चित्रकला का मूल है – **'तहिं में चित्त फलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहेत्ति।'** शकुन्तला के प्रतिकृति अंकित चित्रफलक लेकर लतामण्डप में पहुँचे। लतामण्डप में पहुँचकर चित्रफलक को राजा की ओर बढ़ाते हुए **'इयं चित्रगता भट्टिनी'** यह चित्र में अंकित स्वामिनी हैं। **'सानुमती-लता संस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं'** तथा लता की ओट में छिपकर देखती हुई 'पति के प्रति अत्यधिक अनुराग भाव के कारण हुई प्रतिक्रिया को' सानुमती देखती है। चित्रकला के पारखी राजा ने 'अंग विभक्तता' का उपयुक्त वर्णन करके चित्र की प्रशंसा की है – **'साधु वयस्य। मधुरावस्थान दर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नत प्रदेशेषु'** वाह मित्र, शरीर के अंग प्रत्यंगों के ऊँचे और नीचे प्रदेशों पर पूर्ण निबद्ध दृष्टि का अंकन किया गया है जिसके कारण निम्नोन्नत प्रदेशों पर मेरी दृष्टि जम ही नहीं पाती, बल्कि स्खलित हो जाती है।

शकुन्तला की माता मेनका द्वारा भेजी गयी सानुमती नामक अप्सरा राजा की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके पास आयी थी और तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से अदृश्य सानुमती ने उस चित्र को देखकर कहा था – इस राजर्षि की निपुणता अद्भुत है, ऐसा जान पड़ता है कि मेरी सखी शकुन्तला मेरे सामने खड़ी है **'अहो एषा राजर्षेनिपुणता। जाने सख्यप्रता मे वर्तत इति।'**

चित्र में भावों को रेखा और रंगों में फिर से प्रवेश करा देना ही भावानुप्रदेश है –

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।।६.१४।।

अर्थात् यद्यपि मैंने इस चित्र के सभी दोष ठीक कर दिये हैं, फिर भी इन रेखाओं में देवी की सुन्दरता बहुत थोड़ी–सी ही अंकित हो सकी है। कालिदास ने चित्रगत वैषम्य को कई स्थानों पर वर्णित किया है कि राजा चित्र को दोष दिखला रहे हैं तो विदूषक, सानुमती और चतुरिका उनके चित्र की प्रशंसा कर रहे हैं। यही उत्तम कलाकार का गुण है।

चित्र में प्रधान वस्तु को कुछ विशिष्टता से दिखलाया जाता है तभी विदूषक दुष्यन्त के बनाये शकुन्तला के चित्र में, तीन देवियों में से शकुन्तला को सहज ही पहचान लेता है। चित्र में चित्रित भाव चिह्न (प्रेम चिन्ह) का दृश्य – 'चित्र के कोरों पर जो मलिन धब्बा दिखायी दे रहा है, यह स्वेद से पसीजी मेरी अँगुलियों के स्पर्श से हो गया है। फिर मेरी आँखों से जो आँसू टपका था, यह शकुन्तला के कपोलों पर गिर गया जिससे तूलिका (ब्रश) से भरे हुए रंग कुछ उभरे (फैले) हुए दिखायी दे रहे हैं।'[1] इस चित्र में सुधार करने के उद्देश्य से राजा ने चतुरिका को रंग और तूलिका लाने का आदेश दिया – **'चतुरिके अर्द्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिकां तावदानय।'**

राजा दुष्यन्त चित्रफलक लेकर चित्रार्पित शकुन्तला पर प्रेम का प्रदर्शन करते हैं तथा पृष्ठभूमि में शकुन्तला की अत्यन्त प्रिय मृगी, हंस, नदी, आश्रम स्थानों को[2] अंकित करके, शिरीष का कर्णावतंस एवं कण्ठ में मृणाल सूत्र[3] इत्यादि आभूषण पहने हुए उसको बनाकर तथा तन्मयता के कारण चित्र को वास्तविक शकुन्तला समझकर भाव–विह्वल हो जाते हैं। भ्रमर–भ्रमरी का चित्र तथा उस प्रतिद्वन्द्वी को कमलोदर में बन्द कर देने में दण्ड की घोषणा इत्यादि वियोग में चित्र से बात करते हुए अपने मनोभावों को व्यक्त करना यह कालिदास का यथार्थ जगत् से सूक्ष्म अन्वेषण का बहुत ही अनुपम उदाहरण है। उत्तेजना में आये हुए राजा को देखकर उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने के विचार से माढव्य ने कहा – **'भोः चित्रं खल्वेतत्'** – अजी, यह चित्र है। 'राजा ने' तदनन्तर कहा कि यह तुमने क्या किया। मैं तो तन्मय होकर सामने खड़ी हुई शकुन्तला के दर्शन का आनन्द ले रहा था, पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्रिया को पुनः चित्र में परिवर्तित कर दिया। अन्यत्र भी दुष्यन्त कहते हैं कि नींद न लगने के कारण मैं उससे स्वप्न में भी नहीं मिल पाता और सदा बहते रहनेवाले ये आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते।[4] कालिदास ने भावानुप्रवेश तथा यथालिखितानुभाविता चित्र की दो अवस्थाओं का वर्णन किया है।

मालविकाग्निमित्र – प्रथम अंक में रानी का किसी कुशल चित्रकार से अपने चित्र बनवाने का वर्णन है जिसमें उनकी सखी और सेविकाओं के भी चित्र अंकित हैं जिसमें मालविका का चित्र रानी के चित्र के बिल्कुल समीप है। एक दिन रानी (प्रत्यग्रवर्णरागां) नवीन रंग लगे चित्र को ध्यान से देख रही थी इतने में राजा आ गये **'चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति। भर्त्ता चौपस्थितः'** तथा चित्र में उन्हीं के पास खड़ी हुई बालिका को देखकर रानी ने पूछा – **'उपच[illegible]ोपविष्टेन भर्त्ता चित्रगताया दैव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा'** सुन्दर आकृति–विशेष के प्रति आकर्षण देखकर रानी ने टाल–मटोल की, किन्तु वसुमति ने उसका नाम मालविका बता दिया। रानी ने राजा के दृष्टिपथ तक पहुँचने से बचाने के लिए बहुतेर प्रयत्न किया, किन्तु राजा ने मालविका को नृत्याचार्य गणदास के आचार्यत्व की परख के लिए कुशल शिष्या मालविका

---

१. स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्।।६.१५।। अभि० शा०।

२. अभि० शाकु० ६.१७।

३. वही ६.१८।

४. प्रजागरात् खिलीभूतस्तयाः स्वप्ने समागमः।
वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि।।६.२२।।

का नृत्य कराया तथा मालविका की रूप–माधुरी का दिग्दर्शन करके उन्होंने विदूषक से कहा –

> **चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।**
> **सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।।**[1]

चित्र में अंकित मालविका की सुन्दरता को देखकर मैं अपने मन में यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दर नहीं होगी। पर इसे प्रत्यक्ष देखकर पता लगा कि चित्रकार ने ही शिथिल समाधि होने के कारण ध्यान से ठीक चित्र नहीं बनाया। यह विद्धचित्र का चित्रंण है।

चतुर्थ अंक में प्रतिकृति चित्र (व्यक्ति–चित्र) का वर्णन है। राजा – **'शंके मे प्रतिकृतिं निदिंशति'** – जान पड़ता है कि यह मेरा चित्र दिखला रही है। चित्र को देखकर मालविका राजा को प्रणाम करती है। बकुलावलिका मालविका को चित्र में विद्यमान महाराज को दिखलाती है – **'नन्वेष चित्रगतो भर्ता'** मालविका कहती है – **'सखि! तदासंभ्रमदृष्टे भर्तृ रूपे यथा न वितृष्णास्मि तथाद्यापि मया भावितोऽवितृष्णदर्शनो भर्ता'** हे सखि, उस दिन घबराहट में मैं महाराज के सुन्दर रूप को अच्छी तरह नहीं देख सकी थी, आज इस चित्र में उन्हें अच्छी तरह देखकर भी मेरा चित्त भरा नहीं है। तत्पश्चात चित्र में महाराज इरावती की ओर प्रेम–परिपूर्ण दृष्टि से देखते हुए अंकित हैं जिसे देखकर मालविका ईर्ष्या करती है–**'चित्रगतं भर्तारं परमार्थतः संकलप्यासूयति'** और रूठ जाती है। तभी राजा समीप आकर कहते हैं कि हे कमलनयनी, तुम इस चित्र में बने हुए मेरे भावों को देखकर क्यों कुपित हो रही हो **'कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे'** तुम्हारे सामने असाधारण दास के रूप में उपस्थित हूँ।

विक्रमोर्वशीय – कालिदास विरचित इस नाटक में प्रतिष्ठानपुर के राजा महाराज विक्रमादित्य (पुरूरवा) ने इन्द्रसभा की प्रमुख अप्सरा उर्वशी की केशी नामक दानव से जिस दिन रक्षा की थी उसी दिन से उसके प्रति आसक्ति हो गयी। एक दिन प्रासाद के प्रमदवन में बैठे हुए विदूषक से मन–बहलाव का हेतु पूछा। तब विदूषक ने कहा – **'अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलके आलिख्य... पश्यंस्तिष्ठतु'**[2] चित्रफलक पर उर्वशी को अंकित करके उसे देखते बैठे रहें। प्रत्युत्तर में राजा कहते हैं कि –

> **न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्यं तां।**
> **मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति।।२.१०।।**

कामदेव के बाणों से पीड़ित मैं स्वप्न समागम भी नहीं कर सकता और हे मित्र, प्रियतमा का चित्र भी पूरा–पूरा नहीं बना सकता क्योंकि चित्र को समाप्त किये बिना ही मेरी आँखें आँसुओं से भर जायँगी और चित्र अधूरा रह जायगा। इस तरह से चित्र में भी नहीं मिल सकता।

इसी अंक में चेटी एक स्थान पर माणवक (विदूषक) की आकृति की तुलना में चित्र में बने हुए वानर से करती है – **'अहो आलेख्य वानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्य माणवकस्तिष्ठति।'**

मुद्राराक्षस (७वीं शती) – विशाखदत्त ने आधारहीन चित्र–रचना की बात कही है –

> **चिन्तावेसामाकुलेन मनसा रात्रिंदिवं जागृतः।**
> **सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं बिना वर्तते।।२.४।।**

---

१. मालविकाग्निमित्र २.२।
२. विक्रमोवर्शीय अंक २।

नन्दराज के मंत्री राक्षस के रात–दिन जागते रहकर मन में बिना भित्ति के काल्पनिक चित्र बनाने का उल्लेख है तथा चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य द्वारा यमराज का चित्र लेकर घर–घर भेजे गये गुप्तचरों का उल्लेख हुआ है जिसे यमपटचर कहा गया है जिसकी नियुक्ति चाणक्य ने लोगों की गतिविधियों को जानने के लिए तथा राक्षस की मुद्रा (अँगूठी) प्राप्त करने के लिए की थी।

यमराज की आकृतिवाले गुप्तचर यमपुरी के त्रास के अनेक चित्र अंकित–यमपट्ट दिखाकर अपनी जीविका चलाते थे और गा–गाकर लोगों को यमराज की भक्ति करने का उपदेश देते थे – **'चरःयावदिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गीतानि गायामि। तस्मादेहि में प्रवेशं यावत्तवोपाध्यायस्य यमपटं प्रसार्यं धर्ममुपदिशामि।'**

उत्तररामचरित (८वीं शती) - भवभूति विरचित इस नाटक का प्रारम्भ चित्रवीथी के दर्शन से होता है – **'तेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथिकायामभिलिखितम्'** १.२५। राम ने सीता के मनोविनोद के लिए अपने जीवन की घटनाओं को चित्रवीथिका (चित्रशाला) की भित्ति पर लक्ष्मण के निरीक्षण में अर्जुन नामक कुशल चित्रकार से अंकित कराया था। इस चित्रवीथी में मिथिलावृत्तान्त से लेकर सीता की अग्नि–परीक्षा तक के दृश्य चित्रांकित थे। ये चित्र जब तैयार हो गये तब लक्ष्मणजी, रामचन्द्रजी और सीताजी ने उनका अवलोकन करने के लिए चित्रशाला में ले गये। पंचवटी के शूर्पणखा विवाद के चित्रित दृश्य को देखकर सीता वियोग भय से त्रस्त हो गयीं, तब राम उन्हें स्मरण दिलाते हैं **'अयि विप्रयोगत्रस्ते चित्रमेतत्'**।।१.५।। सजीव सदृश इस चित्रावली को देखकर सीता को दोहद[1] उत्पन्न हो गया और चित्रवीथी का बहुत देर तक अवलोकन करने से वह श्रान्त हो गयी थीं। **'सीता-अज्जउत्त एदिणा चित्तदंसणेण पच्चुपण्ण दोहलाए अत्थि मय विण्णप्यं'**[2] सीता राम से कहती हैं कि यह अरण्य का चित्र खराब स्वप्न की तरह उद्वेग पैदा करता है **'सीता (उत्स्वप्यन्याते) हा अज्ज उत्त सोम्मकहिंसि अये सैवेयंरणरण कदायिनी चित्रदर्शनाद्विरहभावना देव्याः स्वप्नोद्वेगं करोति।'**

चित्रदर्शन में प्रायः समस्त संस्कृत नाटकों में रोमांस मिलता है। यहाँ भी लक्ष्मणजी ने क्रमशः तीन चित्रों की ओर संकेत करके कहा – **इयम आर्या** (ये आर्या हैं), **इयं आर्या माण्डवी** (ये आर्या माण्डवी हैं), **इयमपि वधू श्रुतकीर्तिः** (ये वधू श्रुतकीर्ति हैं) उस समय सीता जी ने विनोद किये बिना न रहा गया। उर्मिला के चित्र की ओर संकेत करके उन्होंने – **वच्छ इअं। वि अवरा का** (हे वत्स, यह दूसरी कौन है?) लक्ष्मण जी ने इस प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। लज्जा से मस्तक झुकाकर वे मुस्कुराने लगे।

मालती माधव – इस नाटक के नायक माधव और नायिका मालती दोनों ही चित्रकला में प्रवीण थे। कलहंसक नामक मकरन्द का सेवक मालती द्वारा अंकित किया गया माधव का चित्र लेकर पहुँचा। मालती की सखी लवंगिका ने उस चित्र को माधव के पास तक पहुँचाने की व्यवस्था की थी तथा उसी फलक पर जिस पर मालती ने माधव का चित्र अंकित किया था उसी पर माधव भी मालती का चित्र अंकित कर दे। माधव ने भी मित्र के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वह तूलिका लेकर बैठ गया। किन्तु भावों के आवेग के कारण वह चित्र अंकित करने में माधव को बड़ी कठिनाई हुई। अपनी उस कठिनाई का वर्णन करते हुए उसने कहा – **'वार वार तिरयति दृशो.....पाणिर्लेखाविधिषु नितरां वर्तते किं करोमि'** हे मित्र मकरन्द, जब मैं उस सुन्दरी की रूपराशि का ध्यान करने लगता हूँ, तो बार–बार नेत्र सजल हो उठते हैं, और दृष्टि रुद्ध हो उठती है, शरीर के अंग स्तम्भित हो उठते हैं। तूलिका चलाते समय उँगलियाँ स्वेद से आर्द्र हो उठती हैं और उनमें कम्पन होने लगता है। तो भी मैं फलक पर से हाथ

---

१. **'दोहद' गर्भिणी की अभिलाषा को कहते हैं।**

२. **उत्तर रामचरितम् १.६३।**

नहीं हटा रहा हूँ – चित्र को अंकित करने में प्रयत्नशील हूँ। कुछ समय के प्रयत्न के बाद माधव को मालती का चित्र अंकित करने में सफलता मिल गयी।तृतीय अंक में मालती से अवलोकिता कहती है – **'ततस्तयोद्वेगविनोदनं माधवप्रतिच्छन्दकमभिलिखितं........** विरह जन्य दुःख को हटाने के लिए और मनोविनोदार्थ दर्शन–हेतु चित्रित माधव की प्रतिकृति को लवंगिका ने मन्दारिका को दिया।

महावीर चरित में चित्र से सम्बन्धित कोई अंश नहीं है। इसमें नाट्यकला का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है।

(हर्षवर्द्धन ७वीं शती) नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका ये तीन नाटिका श्री हर्ष विरचित हैं।

रत्नावली – यह चार अंकों की नाटिका है जिसमें वत्सराज, उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका की रोचक प्रेम–कहानी वर्णित है। सागरिका (रत्नावली) चित्रकला में अति पटु थी। उन दिनों अशोक वृक्ष के नीचे कामदेव का चित्र रखकर पूजा की जाती थी। जिसके लिए सागरिका कहती है – **'[1]एतदप्यस्ति मे प्रेक्षितुं कौतूहलं किं यथा तातस्यान्तः पुरे भगवाननंगोऽर्च्यते, अत्रापि तथैव किमन्यथेति।'** मुझे यह भी देखने की उत्कण्ठा है कि जिस तरह पिताजी के अन्तःपुर में भगवान् कामदेव पूजे जाते हैं, यहाँ भी क्या उसी तरह पूजे जाते हैं अथवा दूसरी तरह से। चित्रकला की सामग्री लेकर सागरिका सखी निपुणिका के द्वारा कदलीनिकुञ्ज में घुसती हुई देखी गयी थी – **'[2]दृष्टा मया ते प्रियसखी सागरिका गृहीत [3]समुद्गकचित्रफलकवर्तिका समुद्विग्नेव कदली गृहं [illegible]' तत्पश्चात् (फलकमवलोक्य) तद्यावदिह कोऽपि नागच्छति तावदालेख्यसमर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथासमीहितं करिष्यामि। (सावष्टम्भमेकमना भूत्वा नाट्येन फलकं गृहीत्वा निःश्वस्य) यद्यपि मेऽति साध्वसेनबेपतेऽयमतिमा[illegible]थापि तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपायो नास्तीति यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्ये (इति नाट्येन लिखति)'** अर्थात् चित्रफलक को देखकर तो जब तक यहाँ कोई भी नहीं आता है, तब तक चित्रलिखित इस अत्यन्त प्रियजन को देखकर मनचाहा (इच्छित कार्य) करूँगी (अर्थात् अपने प्रिय का चित्र बनाकर उन्हें ध्यान से देखकर फिर जो सोचा है उसे करूँगी) (दृढ़निश्चय के साथ एकाग्रचित्त हो फलक को अभिनयपूर्वक लेती हुई गहरी साँस लेकर) यद्यपि अत्यन्त घबराहट के कारण मेरे हाथ की अँगुलियाँ काँप रही हैं, फिर भी उस (उदयन रूप) जन को देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः जिस किसी तरह चित्रित करके इन्हें देखूँगी।

सागरिका कहती है **'सखि, प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननंगः।'** सखि, प्रचलित (इस) मदन महोत्सव में भगवान् कामदेव (चित्रित किये गये हैं) तथा सुसंगता भी चित्र बनाने में निपुण है – **'अहो ते निपुणत्वम्। किं पुनः शून्[illegible]च्चित्रं प्रतिभाति। तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्ये।'** तुम्हारी (चित्र बनाने की) निपुणता आश्चर्यजनक है फिर भी यह चित्र शून्य–सा मालूम पड़ रहा है तो भी मैं चित्र बनाकर (इन्हें) रति–युक्त करूँगी। सागरिका का चित्र बनाती है।

राजा चित्र को देखकर प्रशंसा करते हैं –

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव।।२.६।।

---

१. रत्नावली अंक १।
२. रत्नावली अंक २।
३. समुद्गक - यह चित्र की सामग्री ब्रश, रंग इत्यादि रखने की पेटी है।

क्रीड़ा से कमलों को हिलानेवाली, विचित्र चाल से चलनेवाली, हम लोगों के प्रति (अपने) पंखों की फड़फड़ाहट को प्रकट करती हुई (अर्थात् हम लोगों को देखकर पाँखों को फड़फड़ाकर अन्यत्र जाती हुई) उच्च जाति के हंस की स्त्री जैसे मानसरोवर में प्रवेश करती है उसी तरह (अपने) हाव–भाव से लक्ष्मी को भी मात करनेवाली, चित्र में बनी हुई (मेरा चित्र बनाकर) मेरे प्रति अत्यधिक पक्षपात को व्यक्त करती हुई यह कौन सुन्दरी मेरे हृदय में प्रवेश कर रही है। राजा को पुराणों में वर्णित ब्रह्म, पक्ष, बहिः चित्र सूत्र रेखाओं की जानकारी थी जैसा कि राजा के कथन से स्पष्ट है –

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले,
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरंगविषमे निष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुंगौ स्तनौ,
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने।।[1]

अत्यन्त कठिनाई से दोनों जाँघों को पार करके, नितम्ब–स्थल में काफी समय तक भ्रमण कर, त्रिवली (पेट पर की तीन बेड़ी रेखाओं–मूर्रिओं) की तरंगों से ऊँचे–नीचे मध्य भाग में निश्चल हुई (एकटक लगी) मेरी दृष्टि सम्प्रति प्यासी–सी ऊँचे स्तनों पर धीरे–धीरे चढ़कर जलकणों को बहानेवाले दोनों नेत्रों को बड़ी अभिलाषापूर्वक बार–बार देख रही है।

वासवदत्ता के द्वारा राजा का सागरिका के साथ चित्रित चित्रफलक देखने पर विदूषक एक महत्त्वपूर्ण बात कहता है – **'आत्मा किल दुःखमालिख्य इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनै तदालेख्यविज्ञानं दर्शितम्।'** अपना चित्र बड़ी कठिनता से बनाया जा सकता है, क्योंकि दर्पण में देखकर यदि चित्र बनाते हैं तो उल्टा चित्र बनेगा। मेरे इस वचन को सुनकर प्रिय मित्र के द्वारा यह अपनी चित्रकला की चतुरता दिखलायी गयी है।

नागानन्द – नागानन्द के नायक यक्ष–राजकुमार जीमूतवाहन का अपनी प्रेयसी सिद्ध जाति के राजा विश्वावसु की राजकुमारी मलयवती से प्रथम साक्षात्कार का मलय पर्वत पर गौरी मन्दिर में हुआ था। जहाँ दोनों में परस्पर आसक्ति हो गयी थी। उसके विरह से विह्वल होकर नायक जीमूतवाहन ने एक लता–मण्डप में शिला पर बैठकर मित्र विदूषक से कहा – **'तामोवास्यां शिलायामालिख्य तथा चित्रगतयात्मानं विनोदयेयम्। तदित एव गिरितटात्मनः शिलाशकलान्यानय।'**[2] मित्र ! इच्छा है कि उसी (स्त्री) को इस शिला पर चित्रित कर उस चित्रांकित स्त्री से अपना मन बहलाऊँगा। अतः यहीं पर्वत के आस–पास से मनःशिला मैनसिल के टुकड़े को ले आओ। विदूषक –**'मया पुनरिहेव सुलभाः पञ्च[illegible]ो वर्णा आनीता'**; विदूषक कहता है मित्र ! तुमने एक ही रंग लाने की आज्ञा दी थी। किन्तु मैंने यहीं पर सुलभ ऐसे पाँच प्रकार के रंग (के पत्थर) ले आया हूँ। आप चित्रांकन करें।

'दयिता मुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमदृष्टेयम्'[3] आँखों को सुख देनेवाले इस स्त्री के मुख की सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होनेवाली रेखा भी सुख देती है – ऐसा नायक के द्वारा कहे जाने पर विदूषक उत्तर देता है – **'अप्रत्यक्षेऽपि एवं नामरूपं लिख्यते, अहो आश्चर्यम्।'** प्रतिमा के अप्रत्यक्ष होने पर भी इस प्रकार सुन्दर चित्र खींचा जाता है। आश्चर्य है ? विदूषक के आश्चर्य का बहुत ही सहज भाव से नायक निराकरण करता है –

---

१. रत्नावली २।
२. नागानन्द द्वितीय अंक।
३. वही २.८।

प्रिया सन्निहितैवेयं संकल्पस्थापिताः पुरः।
दृष्टा दृष्टा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः।।[1]

अर्थात् मानसिक सत चिन्ता के कारण सम्मुख स्थापित यह प्रिय पास ही है जिसे देख–देखकर मैं चित्र खींचता हूँ। इसमें क्या आश्चर्य है।

'भर्तृदारिके किं भणसि? अहमिवालिखितेति। ईदृशं सौ सादृश्यं, येन न ज्ञायते, किं तावदिहैव शिलातले भर्तृदारिकायाः प्रतिबिम्बं संक्रान्तम्, उत त्वामालिखितेति।' चेरी, चित्र तथा नायिका को ध्यान से देखकर कहती है कि भर्तृदारिके ! क्या कहती हो 'मानो मैं ही चित्रित की गयी हूँ' इस प्रकार की समानता जिससे यह नहीं जाना जाता है कि इस शिलातल में भर्तृदारिका का प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है अथवा तुम चित्रित की गयी हो। इस पर नायिका (हँसकर) अरी ! चित्रित की हुई मुझे दिखाकर इस (नायक) के द्वारा मैं खूब लज्जित की गयी हूँ।

प्रियदर्शिका – श्रीहर्ष ने अंक २.३ में चित्तसाला (चित्रशाला) का वर्णन किया है। चित्रशाला में भित्तिचित्र बने होते थे तथा उसमें नृत्य, नाट्यादि भी होते थे – **'निभृतेन चित्रशालां प्रविश्य मनोरमया सहास्मन्नृत्तं पश्यता त्वया स्थीयताम्।'**

राजशेखर कृत कर्पूर मंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत (प्रचण्ड पाण्डव) हैं। ये १०वीं शती के हैं।

कर्पूर मंजरी – सूत्रधार कहता है **'काऽपि खलु वर्णिकाः पट्टे वर्त्तयति'** रंगों से रंगा हुआ कपड़ा 'चित्रफलक' पर कोई चित्र बना रहा है। (प्रथम जवनिका)। १.३६ में वलभियाँ और चित्रशाला का वर्णन है जिसकी भित्तियों पर स्वयं राजा ही लीला (चित्र बनाया) किया करते थे। **'उग्घाड़ीअंति [illegible]अबलही चित्त भित्तीणी बेसा'।।१.३६।।**

राजा को चित्रकला की 'सूत्र रेखाओं' का ज्ञान है तभी तो विदूषक राजा से कहता है तुम तो सूत्रकार हो। मैं वृत्तिकार हूँ। अतः मैं कोई भी बात चित्रित करने में तो असमर्थ हूँ लेकिन उस पर वृत्ति तो कर ही सकता हूँ–

'कस्सण लिहेइ चित्तेणिउणो कंदप्पचित्तअरो' २.४० कामदेव (रूपी चतुर चित्रकार) किसके हृदय में चित्र बनाने की क्षमता को नहीं उत्पन्न करता है। जैसा कि 'दशरूपकम्' में कहा गया है – **'रत्यर्थेहा विलासः स्याद्।'** रति के लिए जो इच्छा होती है वह विलास कहलाता है। रति चित्र के द्वारा ही उत्पन्न होती है।

बाल रामायणम् – बाल रामायण के छठे अंक में दरवाजों पर चित्रवन्दन मालाएँ टाँगे जाने का वर्णन है।

[illegible]भंजिका – इस नाटिका में भी रूढ़ अर्थ में 'स्मर–चित्र' आया है।

आलिखतामिव चेतः फलकतलेऽस्मिन् विकल्पवर्तिकया।
बालां स्मरचित्रगतां विलोक्य.............................. १.१६।

कामदेव रूपी चित्रकार ने चित्रलिखित–सी उस बाला को देखकर उसके हृदयरूपी चित्रपट

---

१. नागानन्द १.२.६।

पर संकल्प–विकल्प रूपी तूलिका से (राजा का) चित्र अंकित कर दिया।

विदूषक कहता है – **'इतो देवी मज्जनव्यतिकरे गृहे सपरिवारालिखिता।'** यहाँ स्नानागार में देवी परिजन सहित चित्रित की गयी है। राजा किसी स्त्री की चित्रशाला में रेखा–निपुणता की प्रशंसा कर रहे हैं – **'अहो वपुः श्रीलिखितुर्जनस्य.........चित्रं.....प्रौरंध्रमवैमि कर्म रेखानिवेशोऽत्र यदेवकारः** ।।१. ३५।।' इस सुन्दर शरीराकृति को किसी सुगृहिणी ने अधिक अभ्यास के कारण रेखाओं को एक ही बार में बिल्कुल ठीक–ठीक अंकित कर दिया है। चित्रशाला के लिए चित्रशालिका शब्द आया है – **'तदेहि चित्रशालिकामधितिष्ठावः।'**

प्रचण्ड पाण्डव में चित्र सम्बन्धी कुछ भी प्राप्त नहीं है।

समग्र संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रंथों में चित्र और चित्रकला के विषय में उल्लेख मिलता है। चित्रकला मानव–जीवन का अंग रही है। इसी कारण कवि–पंडितों ने इस पर विशेष बल दिया है।

(ग) गुहा-चित्र

भारतवर्ष में शास्त्रीय (श्रेण्य) युग की चित्रकला की विरासत भित्तिचित्रों के रूप में सुरक्षित है। इस प्रकार के भित्तिचित्र जोगीमारा, अजन्ता, बाघ, बदामी, सित्तन वासल, सिगीरिया (श्रीलंका), एलोरा, एलीफैण्टा, कार्ले, भज, उदयगिरी, पीपलखोरा आदि गुफाओं में उपलब्ध हैं।

जोगीमारा की कलाकृतियाँ

जोगीमारा गुहा–मंदिर मध्यप्रदेश की पुरानी रियासत सरगुजा–क्षेत्र के रामगढ़ पहाड़ियों पर स्थित है। जोगीमारा गुहा के मार्ग के बीच में रामगढ़ का प्रसिद्ध मंदिर भुवनेश्वर शैली के अनुरूप बनाया गया है। यह गुहा ३० फीट लम्बी और १५ फीट चौड़ी है। इसकी छत ८ फीट ऊँची है। गुहा की उत्तरी भित्ति पर उत्कीर्ण पाँच पंक्तियों में सुतनुका नामक देवदासी का देवदीन नाम के श्रेष्ठ रूपदक्ष (चित्रकार) से प्रेमासक्ति की कथा वर्णित है जो इस प्रकार है –

शुतनुक नाम
देवदार्शक्यि
शुतनुक नम। देवदार्शक्यि।
तं कमयिथ वलनशेये।
देवदिने नम। लुपदखे

स्व० असितकुमार हालदार ने इन चित्रों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है[१] –

गुहा की दाहिनी ओर के चौखटे के प्रथम भाग में कुछ मानव आकृतियाँ, एक हाथी की आकृति तथा एक विचित्र प्रकार की शार्क मछली की आकृति है जिसको सुन्दर लहरों के संकेतार्थ इन्हें गहरी रेखाओं में अंकित किया गया है। ये चित्र केवल सफेद, लाल व काले रंगों में बने हैं।

दूसरे भाग में कई आकृतियाँ पेड़ के नीचे बैठी हुई बनायी गयी हैं। चित्र में वृक्ष को एक मोटा तना, कुछ डालियाँ तथा दो–तीन पत्तियों मात्र से दर्शाया गया है। पत्तियाँ व पेड़ सब लाल रंग में बने हैं। इसी चौखटे के दूसरे भाग में काले रंग से एक बाग चित्रित है। फूल पर नृत्य करता हुआ एक युगल

---

१. असित कुमार हालदार 'ललित कला की धारा' रामगढ़ में जोगीमारा की कलाकृतियाँ, पृ० ६०-६५ तक।

केवल लाल रंग में दिखाया गया है। फूलों में रंग नहीं लगाये गये हैं केवल उनका रेखांकन प्राप्य है। चौथे चौखटे में नाटी गुड़ियों की–सी आकृतियाँ चित्रित हैं। एक स्थान पर मानव आकृति के ऊपर एक पक्षी की चोंच भर दिखायी देती है। चित्र की विषयवस्तु अप्रकाशित है। पाँचवें चौखट में एक स्त्री भूमि पर बैठी हुई दिखायी गयी है तथा उसके चारों ओर कुछ गायक नृत्य में मस्त हैं। शेष छह या सात चौखटों के चित्र चैत्य मंदिरों से मिलते–जुलते हैं। भित्तिचित्र अनेक वृत्ताकारों तथा लाल–पीले रंगों के ज्यामितीय आकारों में भी चित्रित हैं।

जोगीमारा गुहा की छत कई बार सफेद रंग पोतकर बनायी गयी है। भित्तिचित्र की पृष्ठभूमि सर्वत्र श्वेत है। इस पर मनुष्य, वन्य प्राणी तथा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य कहीं गहरे लाल तथा कहीं काले रंग से बनाये गये हैं। आकृतियों की आँख तथा बाल काले हैं। घोड़े, पक्षी व वृक्ष इत्यादि भी लाल रंग से चित्रित किये गये हैं।

अजन्ता की कलाकृतियाँ

महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद शहर से उत्तर–पश्चिम की ओर लगभग १०५ कि०मी० की दूी पर औरंगाबाद–जलगाँव पथ मार्ग पर अजन्ता–गुहा–मंदिर–समूह स्थित है। जलगाँव रेलवे स्टेशन से इसकी दूरी लगभग ६० किलोमीटर है और बस द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अभिधान पर नाटकों में वर्णित राजदरबारों तथा साधारण जीवन के अनेक प्रसंगों का चित्रण यहाँ प्राप्त होता है। अजन्ता के चित्रित प्रमुख मण्डपों की विषय–वस्तु[१] निम्नवत् है :–

गुहा-मंदिर क्रम सं० १

(क) घटना प्रसंग : नन्द की दीक्षा, अज्ञात कथा, मार विजय, बोधिसत्त्व पद्मपाणि, बोधिसत्त्व वज्रपाणि, काली राजकुमारी, श्रावस्ती का चमत्कार, राजसभा में विदेशी यात्रियों का स्वागत, उपासक, सज्जा–चित्र इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : शिबि जातक, शंखपाल जातक, महाजनक जातक, महाउम्मग जातक, चंपेय जातक इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २

(क) घटना प्रसंग : तुषित स्वर्ग में बोधिसत्त्व, महारानी माया का स्वप्न और गर्भधारण, महारानी माया का पितृगृह गमन, बुद्ध का जन्म, शक्र द्वारा नवजात शिशु को हाथों में लेना, बुद्ध के सात कदम, पूर्ण अवदान, श्रावस्ती का चमत्कार, सहस्र बुद्ध, प्रासाद दृश्य, इन्द्रलोक दृश्य इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : महाहंस जातक, क्षांतिवादी जातक, रुरु जातक, विधुरपंडित जातक, मैत्रीबल जातक इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ६

(क) घटना प्रसंग : नागराजा, पशुओं का खेदा, स्तूप अर्चना इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १०

---

१. भारतीय चित्रकला का इतिहास (प्राचीन), डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल, पृ० ७४-७५।

(क) घटना प्रसंग : बोधिवृक्ष पूजा, स्तूप राजा इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : सामजातक, षड्दन्त जातक इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ११

(क) घटना प्रसंग : नन्द की कथा, विरह व्याकुल रानी, तालाब का दृश्य, भयानक आकृति, बोधिसत्त्व इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : हस्ति जातक।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १६

(क) घटना प्रसंग : तुषित स्वर्ग में उपदेश, नन्द की दीक्षा, मरणासन्न राजकुमारी, आकाशचारी अप्सरा, बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्र, सुजाता से खीर ग्रहण इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : हस्तिजातक, महाउम्मग जातक इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १७

(क) घटना प्रसंग : जीवन चक्र, राजदम्पति द्वारा भिक्षादान, आकाशचारी गन्धर्व एवं इन्द्र, अप्सरा, मानसी बुद्ध, नलगिरीदमन, बुद्ध के जीवन के दृश्य, सिंहलावदान, प्रसाधिका, मण्डप–सज्जा (आलेखन) इत्यादि।

(ख) जातक कथाएँ : षड्दन्त जातक, महाकपि जातक, हस्ति जातक, हंस जातक, विश्वंतर जातक (वैस्सन्तर जातक), सुतसोम जातक, मत्स्य जातक, साम जातक, क्रक्ष जातक, न्यग्रोध मृग जातक इत्यादि।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १६

(क) घटना प्रसंग : कपिलवस्तु प्रत्यागमन, बुद्धचित्र इत्यादि।

अजन्ता गुहा–मंदिरों का क्रमिक परिचय इस प्रकार है :–

गुहा-मंदिर क्रम सं० १ – इस गुहा का निर्माण–काल वाकाटक–काल ५वीं शताब्दी माना जाता है। यह गुहा एक विहार है। इसमें भिक्षुओं के रहने के लिए दायीं और बायीं भीतों को उकेरकर कोठरियाँ खोदी गयी हैं। मुख्य दीवार से प्रवेश करते ही बायीं ओर की भित्ति पर शिबि जातक का अंकन है। राजा शिबि ने कबूतर के जीवन को बचाने के लिए अपने शरीर को काट–काटकर बाज के सम्मुख सौंप दिया था। यह कथा 'महाभारत' तथा 'सूत्रालंकार' में वर्णित कथा से अधिकांश मिलती जान पड़ती है।

अजन्ता के चित्रकार ने इस कथा का वर्णन दो–तीन दृश्यों में किया है। प्रथम दृश्य में नीले और सफेद रंग का एक कबूतर राजा शिबि की गोद में शरण लेता हुआ तथा दूसरे दृश्य में राजा शिबि तराजू के पलड़ों के पास खड़ा हुआ अंकित किया गया है। राजा स्त्रियों से घिरे हुए हैं तथा बाज न चित्रित होने से उसके मानवी रूप धारण कर लेने की कल्पना की जा सकती है। अंतिम दृश्य में साधु–संन्यासियों से घिरा हुआ राजा चित्रित है जो राजा की करुणा के प्रति अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति के उद्देश्य से फूल आदि का उपहार दे रहे हैं। इन चित्रों के चेहरे लंबोतरे हैं। आँखें भावहीन तथा नाक लम्बी

है।

शिबि जातक के पश्चात् दूसरे चित्र में एक कृषकाय सुन्दरी शय्या पर गिरी हुई दिखायी गयी है, जिसके चारों ओर सखियों का समूह है जो उसके मन–बहलाव में प्रयत्नरत हैं। एक अन्य दृश्य में सम्भ्रान्त महिलाएँ बैठी हुई हैं और द्वार पर एक याचक खड़ा हुआ है। इस चित्र का बौद्ध भिक्षु से समीकरण करना समीचीन नही है। प्रो० श्लिग्लोफ ने इस कथा को सूदन तथा किन्नरी की कथा से सम्बद्ध किया है।

मंडप की बायीं ओर की भित्ति पर शंखपाल जातक की कथा चित्रित है। प्रथम दृश्य में मगधराज द्वारा नागराज और उनके दरबारियों को प्रवचन देते दिखाया गया है। उपदेश सुननेवालों में एक स्त्री जो कि बायाँ हाथ जमीन पर टेके हुए तथा दोनों घुटने पालथी मारने की मुद्रा में किन्तु कुछ उठे तथा दायाँ हाथ कुहनी से मोड़कर सिर तक पहुँचा हुआ अंकित है। इस नारी–चित्र को संसार के सर्वश्रेष्ठ चित्रों के अन्तर्गत रखा गया है। राजमहिलाओं का चित्रण भी सानुपातिक रेखाओं में सुनियोजित ढंग से किया गया है। दायीं ओर शिकारियों द्वारा ले जाया जाता हुआ शंखपाल और उसी के नीचे शंखपाल को छोड़ने की प्रार्थना करता हुआ आलार अंकित है। निचले भाग में बायीं ओर शंखपाल मानव रूप धारण कर अपने उद्धारकर्त्ता आलार को झील की ओर ले जा रहा है।[1] नीचे बैल अंकित है जो मुँह उठाकर देख रहा है।

गुहा की बायीं भित्ति पर महाजनक जातक की कथा चित्रित है। चित्र के प्रथम दृश्य में सिंहासनारूढ़ राजा महाजनक अपनी पत्नी के साथ दिखाये गये हैं। रानी की दृष्टि में अगाध प्यार, राजा की दृष्टि में वैराग्य तथा एक अन्य नारी के मुख पर चिन्ता का भाव अंकित है। इसकी कथावस्तु याजदानी पृ० १५ पर द्रष्टव्य है। सामने ही अति भंग मुद्रा में नृत्य करती हुई नर्तकी दिखायी गयी है। नर्तकी के चारों ओर सुन्दरियों का समूह मंजीर, वेणु और मृदंग आदि वाद्यों के साथ चित्रित है। बीच में द्वार है, द्वार से आगे के क्रम में हाथी पर आरूढ़ राजा महल से बाहर जाते दिखाये गये हैं। वे इसके बाद घोड़े पर सवार हैं तथा और आगे संन्यासी के प्रवचन को सुनते हुए अपने दरबारियों के साथ अंकित हैं। राजा में आसक्ति तथा दरबारियों में प्रवचन के प्रति विरक्ति के भाव चित्रित हैं। आश्रम में दो मृगों का भी चित्रण किया गया है। तत्पश्चात् घोड़े पर आरूढ़ राजा जाते हुए दिखाये गये है। अन्य दृश्य में समुद्र–यात्रा और टूटते जहाज का अंकन है।

अगले चित्र में एक राजपुरुष स्नान कर रहा है, फिर उसे संन्यासी की वेशभूषा में दर्शाया गया है। पास ही में एक भीमकाय आकृति अंकित है जिसके हाथ में एक थाल जैसा पात्र है। थाल में चार कटे हुए सिर रखे गये हैं। एक संन्यासी जिसके नेत्रों से करुणा टपक रही है उस ओर देख रहा है।

गर्भद्वार की बायीं भित्ति पर अंकित बोधिसत्त्व के चित्र में चित्रकार ने करुणामय भाव से युक्त आकृति की रचना की है। त्रिभंग मुद्रा में खड़े बोधिसत्त्व दायें हाथ में कमल का पुष्प लिये हैं जो मंगल का प्रतीक है। विशाल आकृति व्यक्तित्व की विशालता तथा अर्द्धनिमीलित नेत्र करुणा की अगाधता के परिचायक हैं। संसार के दुःख से बोधिसत्त्व मानो अपने भावपूर्ण नेत्रों से समस्त सृष्टि पर करुणा वृष्टि कर देने की कामना व्यक्त कर रहे हैं। बोधिसत्त्व रत्नजटित मुकुट, कुंडल, गले में मोतियों की माला, जिसमे मध्येन्द्र नील भी है, केयूर तथा कटक आदि आभूषणों से सज्जित तथा घुटनों से ऊपर तक

---

१. याजदानी : अजंता खं० १, पृ० १३-१४।

धारीदार अधोवस्त्र पहने हुए हैं। समीप में एक राजकुमारी का चित्रण किया गया है। राजकुमारी का वर्ण श्यामल है।[1] इसके हाथ में भी कमल पुष्प है। दूसरी ओर कृष्णवर्ण गदाधारी व्यक्ति का अंकन है। पृष्ठभूमि में पहाड़ियों पर खेलते बन्दर, किन्नर और यक्ष आदि उपदेवता गाते–बजाते दिखाये गये हैं। सारा प्रदेश प्रतीकात्मक गिरिकंदराओं तथा वृक्षों के हरित रंगपट से झाँकते पशु–पक्षी आदि की सुन्दर झाँकी है।

अन्तराल की बायीं ओर की भित्ति पर मार विजय का भव्य चित्रण है। बौद्ध साहित्य में काम, मोह, मद आदि विकारों को मार कहा गया है। जब भगवान् बुद्ध बुद्धत्व–प्राप्ति के निकट पहुँच रहे थे, तभी मार ने उन पर आक्रमण कर दिया। चित्र में गौतम, भूमि को स्पर्श करके भूदेवी को साक्षी के रूप में आह्वान कर रहे हैं। विभिन्न विकारों के भयानक दानवाकार सैनिकों तथा वासना आदि को सुन्दर स्त्रियों के रूप में चित्रित किया गया है। बुद्ध के दायें–बायें तथा वज्रासन के नीचे विभिन्न हाव–भावों के साथ सुंदरियाँ अंकित हैं। एक सुन्दरी के हाथों में कलश है। सिंदूरी रंगवाला एक ठिगना बौना आँखें फाड़–फाड़कर उन्हें डराने का प्रयत्न कर रहा है। दूसरी भयानक आकृति भगवान् पर तलवार चलाना चाहती है। नीचे कोने में हरे रंग से आलेपित निराश राक्षस, दूसरी ओर एक दानव के मुख से जीभ के स्थान पर सर्प (नीले रंग का) बाहर निकल रहा है। नीचे दोनों हाथों से मुँह फाड़े एक आकृति है। भारी अस्त्र से एक मार सैनिक भगवान् बुद्ध पर प्रहार हेतु सन्नद्ध है। दाहिनी ओर वस्त्राभरणों से सज्जित मार विमुखता की मुद्रा में अंकित है।

चित्र का संयोजन तथा भावाभिव्यक्ति की सफल व्यञ्जना इसे श्रेष्ठतम चित्रों की पंक्ति में स्थान दिलवाने में सफल है।

गुहा के अन्तराल में दायीं ओर भित्ति पर श्रावस्ती के चमत्कार का दृश्य चित्रित है। भगवान् बुद्ध विवश होकर, अविश्वासी ६ संन्यासियों को अपनी विभिन्न मुद्रा और रूप एक साथ दिखा रहे हैं। इस चित्र में इसी चमत्कार का दृश्य चित्रित किया गया है।

गर्भद्वार के दायीं ओर बोधिसत्त्व वज्रपाणि का चित्र अंकित है। बोधिसत्त्व विभिन्न प्रकार के रत्नों तथा मुक्ताहार से जटित तीन शिखरोंवाले किरीट मुकुट, मध्य में नीली मध्यम मणिवाली यष्टि, मुक्तामहाहार, केयूर, कुंडल आदि आभूषणों से भूषित हैं। दाहिनी ओर एक राजा पुष्पपूरित थाल के साथ उनकी ओर बढ़ रहा है। नीचे दो श्यामवर्णा महिलाएँ चित्रित हैं। जिनमें से एक महिला दूसरी को पुष्पार्पण कर रही है।

इसी भित्ति पर दायीं ओर चम्पेय जातक का चित्रण है। नागराज चम्पेय के रूप में जन्मे बोधिसत्त्व अपनी स्थिति से ऊबकर तप करने की इच्छा से मनुष्य लोक में जाकर एक बाँबी के ऊपर रहने लगे। एक सँपेरे ने उन्हें पकड़ लिया और नचाकर जीविका अर्जित करने लगा। एक बार जब वाराणसी के राजदरबार में सँपेरा बोधिसत्त्व को नचाने लगा तो वहाँ पहुँचकर नागराज्ञी सुमना ने राजा से प्रार्थना कर उन्हें मुक्त करवा दिया। बोधिसत्त्व ने कृतज्ञ होकर नागलोक में राजा उग्रसेन का एक सप्ताह आतिथ्य कर खूब धन–सम्पत्ति देकर उन्हें वापस भेजा। चित्र में ऊपरी बायें कोने में चम्पेय अपने महल में रानी सुमना सहित बैठे हैं। दूसरे दृश्य में चम्पेय के चले जाने पर विरह से पीड़ित सुमना विषाद मुद्रा में अंकित है। अगले दृश्य में वाराणसी के राजा उग्रसेन साँप को नाचते हुए देख रहे हैं। भीड़ में सुमना तथा उसका पुत्र मानव रूप में अंकित है। अंतिम दृश्य में चम्पेय तथा राजा का अंकन है। राजा का चित्र नष्ट हो

---

१. वस्तुतः यह चित्र सिंदूर से बनाया होगा जो अब सीलन से काला पड़ गया है।

गया है। किन्तु चम्पेय नागों का घटाटोप से युक्त चित्रित किया गया है। यहीं पर चम्पेय राजा को उपदेश देते हुए पुनः मानव रूप में अंकित किया गया है। नाग स्त्री–पुरुष इसके प्रति आदर व्यक्त कर रहे हैं।[१]

पहली गुफा के मुख्य द्वार से प्रवेश करते ही दाहिनी ओर की भित्ति पर एक राजदरबार अंकित किया गया है। दरबारियों से घिरे राजा उच्चासन पर बैठे हैं। दरबारियों में कुछ विदेशी आकृतियाँ दृष्टव्य हैं। ये नुकीली टोपियाँ पहने हैं और कुछ लोगों के मुँह पर दाढ़ी है। तीन व्यक्ति राजा को बहुमूल्य उपहार भेंट कर रहे हैं। पहले के हाथ में मोतियों की माला है जबकि दूसरे के हाथ में संभवतः थैली है और तीसरा व्यक्ति आभूषण से भरा थाल लिये हुए है। 'संभवतः यह दृश्य सम्राट् अशोक द्वारा विदेशी दूतों का स्वागत करने की ओर इंगित करता है।'[२]

गुहा में बायीं ओर के स्तम्भों में से एक के ऊपर, दो बैलों की लड़ाई का जीवन्त चित्र उरेहा मिलता है। दोनों बैलों की युयुत्सु मुद्रा और पूँछों का ऊपर उठकर मुड़ना बहुत ही सशक्त रूप से कम–से–कम रेखाओं में चित्रित किया गया है।

छत के अलंकरण में चित्रकार ने रंगों की खड़ी तथा आड़ी पट्टियाँ बनाकर आयताकार स्थानों में पशु–पक्षी, बेल–बूटे आदि चित्रित किये हैं। कोने में कुब्ज विदूषकों, मिथुनों तथा मद्यपान के दृश्य अलंकृत है। कुब्ज विदूषक वाद्य बजाते अंकित है। मिथुनाकृतियाँ विभिन्न स्थितियों में बैठी चित्रित हैं। तीन मद्यपान दृश्यों में कुछ विदेशी आकृतियाँ अंकित है। छत की चित्रकारी कुल मिलाकर एक बहुरंगे चित्रित वितान का आभास देती है।[३]

गुहा-मंदिर क्रम सं० २ – बायीं वीथिका में भित्ति के आखिरी सिरे पर महाहंस जातक का दृश्य चित्रित है। चित्र में हम एक राजकीय अधिकारी के साथ पद्मसरोवर में हंसों के पास जाते हुए शिकारी (कोठरी के द्वार के बायीं ओर का निचला भाग), हंसों को पकड़कर सरोवर से जाते हुए शिकारी, सिंहासन पर बैठकर उपदेश देते हुए बोधिसत्त्व तथा कमलों से युक्त सरोवर में स्वर्णिम हंस–रूपी बोधिसत्त्व का अंकन पाते हैं।[४]

गुहा के अन्दर बायीं भित्ति पर बुद्ध–जन्म के चित्र हैं। बायीं ओर सबसे नीचे महामाया का शयनागार चित्रित है। महामाया निद्रामग्न हैं। उनके निकट दो–तीन दासियाँ बैठी हैं। उन्होंने स्वप्न में हाथी देखा था, जिसे चित्रकार ने श्वेत गोलाकार आकृति में प्रतीक रूप में दिखाया है। यह चित्र स्पष्ट नहीं है। इससे ऊपर के दृश्य में महामाया और राजा शुद्धोदन दिखाये गये हैं। सम्मुख दो आकृतियाँ ज्योतिषियों जैसी हैं। दायीं ओर के कोने पर महामाया रत्नाभूषणों से सज्जित एक स्तम्भ का सहारा लेकर खड़ी हैं। इस आकृति में मुड़ा हुआ पैर बड़ी स्वाभाविकता से स्तम्भ से टिक गया है। इसी पैर पर शरीर का ऊपरी भाग स्तम्भ के सहारे आधृत है। एक पैर पर खड़ा शरीर तनिक लयात्मक हो गया है। झुकी हुई गर्दन शारीरिक लोच को और भी कोमलतर तथा कमनीय बना देती है। उँगलियों की मुद्रा अंकों की गणना करती हुई चित्रित है।

आगे प्रकोष्ठ के द्वार के ऊपर तुषित स्वर्ग में बुद्ध सिंहासनारूढ़ हैं जो उनके प्रभामण्डल से ज्ञातव्य है। सिंहासन के दोनों ओर मकर की सुन्दर आकृतियाँ हैं। बोधिसत्त्व के हाथ धर्मचक्र मुद्रा में हैं।

---

१. याजदानी : अजंता खं० १, पृ० ३८-४३।

२. देवला मित्र - अजंता, पृ० १८।

३. अजयमित्र शास्त्री - अजंता, पृ० ८७।

४. अमलानन्द घोष - वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, फ० ८४।

पास में कई देव आकृतियाँ बैठी हैं। उनमें से दो भक्तिपूर्वक अपलक बोधिसत्त्व को निहार रही हैं और बहुत ध्यानमग्न हो उनके उपदेशों को ग्रहण करती जान पड़ती हैं। पीछे दो चमर धारण किये हुए व्यक्ति हैं। सबसे नीचे बुद्ध–जन्म का चित्र है। एक आकृति के हाथों में नवजात शिशु है। इस आकृति के तीन नेत्र हैं। उपवन के बाहर भिक्षार्थियों की भीड़ है। मण्डप की बायीं भित्ति पर महाहंस जातक का विनष्टप्राय चित्र है। बायें उपांग गर्भगृह में पूजा के लिए जाती हुई स्त्रियों का समूह बौनों के साथ चित्रित है। दाहिनी ओर भी पूजा हेतु जाती हुई स्त्रियाँ चित्रित हैं। दाहिनी ओर की भित्ति पर विधुर पंडित, पूर्णावदान और क्षान्तिवादिन जातकों को चित्रांकित किया गया है।

यह जातक मंडप की दाहिनी भित्ति पर कई दृश्यों में चित्रित है। इरंदती के प्रेमी यक्ष सेनापति पुण्णक ने राजा धनंजय को जुए में पराजित कर विधुर पंडित को नागरानी विमला के समक्ष उपस्थित किया। नागरानी विमला ने उनका प्रवचन सुनने के लिए यह इच्छा जाहिर की थी। यक्ष पुण्णक और नागकन्या इरंदती का विवाह सम्पन्न हो गया। दाहिने भाग में झूले में झूलती हुई इरंदती तथा उसके समीप खड़े पुण्णक तथा अपने संबंधियों से पुण्णक और इरंदती के विवाह के विषय में मंत्रणा करते हुए नागराज अंकित हैं। बायीं ओर के दृश्य में इन्द्रप्रस्थ के राजा के दरबार में पासों का खेल, पुण्णक के साथ विधुर पंडित की यात्रा, नागराजा के महल में विधुर पंडित के प्रवचन तथा प्रसन्न मुद्रा में पुण्णक और इरंदती का अंकन है। विधुर पंडित काले हाथी पर आसीन हैं तथा उनके आगे और अगल–बगल कई अश्वारोही चल रहे है। जुलूस के आगे चमकती तलवार और चेहरेवाली ढाल लिये पदाति सैनिक का प्रयाण अंकित हैं। जुलूस में सबसे आगे वाद्य बजाते वादक चल रहे हैं।

बरामदे की दायीं ओर के प्रकोष्ठ की दीवारों पर अस्पष्ट कथानक से सम्बन्धित चित्र है। इस चित्र के आरम्भ में एक दोमंजिले वास्तु पर एक छोटे गर्भगृह में बोधिसत्त्व तथा दो भिक्षु चिंतामग्न अंकित हैं। दूसरे दृश्य में अनेक राजपुरुषों से घिरी पालकी जा रही है। पालकी चारों ओर से बन्द तथा कहारों द्वारा ताम–झाम के साथ उठायी गयी है। अगले दृश्य में वन में लेटी एक स्त्री तथा दो परिचारिकाएँ चित्रित हैं। वहीं वधिक या दस्यु जैसी भयानक आकृतिवाले दो व्यक्ति हैं। अगले दृश्य में पालकी जमीन पर रख दी गयी है। उसके सामने एक सुंदर स्त्री विकल भावों में बैठी अंकित है। उसके पीछे कमलवन है। सरोवर में एक शिशु फेंक दिया गया है। चित्र कई स्थानों पर क्षतिग्रस्त है।

इरंदती के झूला के नीचे पूर्णावदान जातक चित्रित है जिसमें पूर्ण और भाविल नाम के दो भाइयों ने चन्दन की लकड़ी के व्यापार में सफलता प्राप्त की। पूर्ण ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया, लेकिन भाविल ने संकट में पूर्ण को याद किया। उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से प्रकट होकर जहाज को तूफान तथा यक्षों से बचाया तथा भाविल ने बुद्ध के स्वागत में चन्दन काष्ठ का एक विहार बनवाया।

चित्र के एक दृश्य में पूर्ण बुद्ध के सम्मुख घुटनों के बल बैठा है। दूसरे दृश्य में नाव पर मछलियों तथा अन्य समुद्री प्राणियों का आक्रमण और उफनता सागर अंकित है। नाव पर भाविल ऊपर की ओर देखता हुआ सहायता के लिए प्रार्थना कर रहा है और पूर्ण उसके रक्षार्थ आकाश से उतर रहा है। अंतिम दृश्य में पूर्ण एक संघाराम में बैठे बुद्ध को भेंट करने के लिए उपहार लाते चित्रित किये गये हैं।

मंडप में प्रवेश करते ही दायीं ओर की भित्ति में बनी पहली कोठरी के ऊपर यह क्षान्तिवादन कथा चित्रित है। महल के एक दृश्य में राजा दायें हाथ में तलवार लिये हुए स्त्रियों से घिरा हुआ मोढ़े पर बैठा अंकित है। सामने दायीं ओर एक स्त्री घुटने और सिर टेककर उसके पाँव पकड़े प्राणों की भीख

माँग रही है। चारों ओर स्त्रियाँ भयाक्रान्त हैं। एक भाग रही है, दूसरी अपना मुँह ढाँपे है तो तीसरी विचारमग्न है। पीले रंग की प्रधानता में एक स्त्री का वर्ण–विन्यास गेरुआ है। क्षांतिवादी बोधिसत्त्व के वन के उपवन में उस देश का राजा अपनी रानी और नर्तकी के साथ गया था। वहाँ पर राजा के निद्राभिभूत होने पर रानियाँ एवं नर्तकी क्षांतिवादी का उपदेश सुनने चली गयीं जिससे राजा ने क्रुद्ध होकर बोधिसत्त्व और नर्तकी के वध की आज्ञा दे दी।

छत की सज्जा में काला और श्वेत वर्ण अधिक उपयोग में लाया गया है। विभिन्न मुद्राओं में तेईस हंसों की पंक्ति, विभिन्न प्रकार के व्यालों का अंकन, व्याघ्र तथा मकर के मुख पर आधारित है। उनमें सींग तथा दाढ़ें भी जोड़ दी गयी हैं। एक स्थान पर दो व्यालों की लड़ाई अंकित है। एक अन्य चित्र में चार कोनों से बादलों के मध्य तैरकर दिव्यलोक से भगवान् बुद्ध को भेंट करने के निमित्त लाये फूलों के साथ चार गणों का चित्रण है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ३ – यह एक अपूर्ण विहार है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ४ – यह अजन्ता का सबसे बड़ा विहार है – गुहा क्रम सं० ३ को सम्भवतः इसी को बड़ा बनाने के कारण छोटा बनाया गया है। इसमें चित्र नहीं बनाये गये हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ५ – यह गुहा भी अपूर्ण है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ६ – यह दुमंजिला विहार है। बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध दो दृश्य बायीं तथा दायीं ओर की दीवार पर चित्रित है। प्रथम दृश्य है श्रावस्ती का चमत्कार जिसमें चारों ओर बुद्ध–ही–बुद्ध दिखायी देते हैं तथा दूसरे दृश्य में मार के आक्रमण का प्रसंग चित्रित है। ऊपर की मंजिल में उपांग गर्भगृहों के शिरोभाग पर चित्रकारी के सुन्दर नमूने हैं। धुएँ तथा गर्द की घनी परतों में दबे चित्रों में से सफाई में आसीन बुद्ध प्रतिमाओं की चार पंक्तियाँ प्रकाश में आयीं तथा मिट्टी के पलस्तर पर चूने की एक पतली तह देकर उस पर काला रंग लगाकर चित्रकारी करने का भी तथ्य ज्ञात हुआ। अन्तराल की बायीं भित्ति पर उपस्थित बुद्ध–प्रतिमा पर जिप्सम की चमकदार तह तथा धूपदानी और कमल के फूल हाथों में लिये घुटने के बल बैठे एक उपासक का चित्र महत्त्वपूर्ण है। जिप्सम का पलस्तर संगमरमर के समान मालूम पड़ता है। प्रार्थना भाव से भरी अधखुली आँखें और कमलार्पण के लिए बैठक की मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। एक द्वारपाल के चित्र में वस्त्रों की प्रौढ़ रेखाएँ तथा गजशुण्डाकार पुष्ट बाहु, मांसल हाथ तथा उँगलियों की दर्शनीय मुद्राएँ शेष हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ७ – यह भी विहार है। इसमें चित्रकारी के कोई भी नमूने अब प्राप्य नहीं हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ८ – यह संघाराम भी चित्रों से रहित है तथा अब कुछ भी शेष नहीं है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ९ – इस गुहा में बायीं ओर की वीथी में प्रथम और तृतीय स्तम्भों के पीछे एक दल पूजा के लिए जाता दिखाया गया है। इनमें पुरुषाकृतियों के सिर मुरेठों से मंडित हैं। इनके चेहरे चौखटे और भारी हैं। आभूषणों में चौखटे टिकरोंवाली मेतियों की माला, कान में बड़े–बड़े कुण्डल, हाथों में मोटे कड़े और कमर में डेढ़ गाँठवाले कमरबन्द दर्शनीय हैं। इन चित्रों में केवल काले, पीले, सफेद और हरे रंग का प्रयोग हुआ है। चेहरे एकरस हैं और नेत्र भावहीन। वृक्ष यथार्थवादी बने हैं। दायीं ओर की भित्ति पर, आठवें और नवें स्तम्भ के ऊपर, बुद्ध का धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा में एक चित्र है। उन्हें रत्नजटित सिंहासन पर आरूढ़ दिखाया गया है। उनके दोनों ओर वज्रपाणि और पद्मपाणि का अंकन

है। चैत्य के स्तूप के पीछे भी बुद्ध को धर्मोपदेश देते हुए चित्रित किया गया है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १० – ई० पूर्व दूसरी शताब्दी की यह गुहा अपने चित्रों से वाकाटकोत्तरकालीन चित्रों के साम्य में है। बायीं ओर की भित्ति पर बोधिवृक्ष के पूजन के लिए जाते हुए एक राजा के जुलूस का चित्रण है। राजा के साथ रानियों का भी समूह है। एक स्त्री नागराज के ऊपर छत्र लिये है। आगे चलकर स्तूप पूजा भी दिखायी गयी है। एक स्थान पर राजा का जुलूस तोरण के नीचे से जा रहा है। एक अन्य स्थान पर तीर, धनुष और फरसे लिये हुए सैनिक दिखाये गये हैं। यहीं पर भीड़ और नृत्य का दृश्य भी दर्शनीय है।

तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें स्तम्भों के बीच श्याम जातक का चित्रण है। प्रथम दृश्य में वाराणसी के राजा को बाण चलाते हुए अंकित किया गया है। दाहिनी ओर उसका घोड़ा खड़ा है, पीछे भाले तथा धनुष–बाण लिये उसके साथ के लोग खड़े हैं। पेड़ के ऊपर से एक मनुष्य इंगित करता दिखायी दे रहा है, परन्तु राजा उधर नहीं देख रहा है। दूसरे दृश्य में वृद्ध और वृद्धा दिखाये गये हैं। पास ही राजा क्षमा–याचना की मुद्रा में है। राजा का चेहरा नष्ट हो गया है। वृद्ध और वृद्धा शोकाकुल मुद्रा में हैं। श्याम के वृद्ध माता–पिता जहाँ बैठे हैं वहाँ कमलवन का बड़ा ही सजीव एवं सुन्दर चित्रांकन हुआ है। श्याम के आश्रम की ओर दौड़कर जाते हुए हिरन दिखाये गये हैं जो आकर्षक हैं।

षड्दन्त जातक का चित्रण इस गुहा का प्रमुख आकर्षण है। चित्र में पहले हाथी क्रीड़ारत दिखाये गये हैं। एक हाथी अपने को अजगर के मुँह से छुड़ाने की चेष्टा में है। दूसरी ओर कुछ हाथी कमलवन में क्रीड़ा कर रहे हैं। एक ओर गजराज षड्दन्त कमल का एक फूल निकालकर हथिनी को देते दिखायी दे रहे हैं। वन के चित्रण में बरगद, आम और गूलर के वृक्षों का चित्रण है। व्याधों का वन में चुपके से प्रवेश करना चित्रित है। बोधिसत्त्व द्वारा दाँतों का समर्पण भी द्रष्टव्य है। अंतिम दृश्य में बनारस के राजा–रानी अपने दास–दासियों के साथ दिखाये गये हैं। व्याध द्वारा लाये हाथी दाँत को देखकर रानी मूर्च्छित हो रही हैं। कुछ चित्रों के वस्त्रों पर गान्धार शैली का प्रभाव दिखायी पड़ने के कारण बाद में चित्रित माना गया है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ११ – यहाँ दालान की छत पुष्प–पल्लवों और ज्यामितीय अलंकरणों से उद्रेखित है। दालान की पिछली भित्ति पर, प्रवेश–द्वार की दायीं ओर अस्पष्ट बोधिसत्त्व के चित्र हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १२ – सर्वप्राचीन इस गुहा में कोई भी चित्र अवशिष्ट नहीं रहे।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १३ – हीनयानी मतावलम्बियों का केन्द्र होने से यहाँ चित्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि आचारांग सूत्र में बौद्ध भिक्षुओं को चित्रवीथी में जाने से रोका गया है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १४ – गुहा क्रम सं० १३ के ऊपर खोदी गयी यह गुहा अधूरी है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १५ – ५वीं शती की इस गुहा में चित्र होने का अनुमान किया जा सकता है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १६ – ५वीं शती गुप्तवाकाटक काल की इस गुहा के सामने की वीथी में द्वार की बायीं ओर हस्तिजातक की कथा आर्यशूर की 'जातक माला' में आयी कथा से साम्य रखती हुई चित्रित है। चित्र में यात्रियों का एक समूह चित्रित है जिनके बिखरे केश तथा फूले पेट क्षुधार्तता के प्रतीक हैं। उनकी पीठ पर सामान लदा है तथा वे पहाड़ पर खड़े एक सफेद हाथी की ओर इंगित कर रहे हैं। दूसरे दृश्य में वह दयालु हाथी मरा पड़ा है तथा दो यात्रियों द्वारा बड़ी–बड़ी छूरियों से उसका मांस काटा जा रहा है। कुछ व्यक्ति मांस भूनते, खाते तथा कुछ पानी लाते चित्रित किये गये हैं।

सामने की वीथी की बायीं ओर महाउम्मग जातक चित्रित है। चित्र के ऊपरी भाग में महोषध

के तालाब तथा कुछ लोगों से चर्चा करते हुए महोषघ का चित्रण किया गया है। बच्चे को दो भागों में काटकर बाँट लेने का निर्णय देने पर बच्चे की वास्तविक माँ ने अपना अधिकार छोड़ने की तत्परता प्रकट की, यही यहाँ चित्रित है। निचले दायें भाग में एक रथ के स्वामित्व के निर्णय का दृश्य अंकित है। इसी भित्ति के एक कुड्य स्तम्भ पर सूत के गोला की चोरी का निर्णय देते हुए महोषघ चित्रित है।

मंडप की बायीं ओर की भित्ति पर नन्द की दीक्षा का दृश्य अंकित है। प्रथम दृश्य में नंद के राज्याभिषेक का चित्रण है। दूसरे दृश्यों में नंद का सुंदरी के लिए विषाद और बुद्ध के साथ उड़ते हुए दिव्यलोक की ओर प्रस्थान का दृश्य भली–भाँति दिखायी देता है। इस कथा का उत्तरार्द्ध एक बड़ी चित्रपट्टिका के रूप में बायीं ओर चित्रित किया गया है। नंद के दीक्षित होने पर एक सेवक द्वारा नंद का मुकुट सुंदरी के समीप भेजा जाता है। उसे देखकर सुंदरी विषाद से मूर्च्छित हो खाट पकड़ लेती है। सुंदरी पर्यंक पर बिल्कुल निढाल अवस्था में एक लोड के सहारे बैठी है। उसे बैठने में पीछे से एक दासी बगल में हाथ डाले सहायता कर रही है। एक दासी सुंदरी की दायीं ओर बैठी उसका दायाँ हाथ पकड़े हुए है। संभवतः वह नाड़ी टटोल रही है। उसके बगल में एक लंबे दंडवाले पंखे को लिये बहुभंग स्थिति में खड़ी एक अन्य दासी अंकित है। उसकी बायीं ओर एक चिन्तित मुखवाले सेवक का चित्र है। दायीं ओर दो स्त्रियाँ मौन खड़ी हैं, किन्तु उनकी मुद्राओं से स्पष्ट है कि उनमें प्रश्नोत्तर हुआ है और उसी की परिणति उनकी स्तब्धता में हुई है। बायीं ओर की दासी का दायाँ हाथ कुछ माँगने की मुद्रा में आगे बढ़ा है तथा दायीं ओर की स्त्री, जो बायें हाथ में प्याले से ढके एक भृंगार को लिये खड़ी है, दायें हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा उँगलियों द्वारा 'दो' का संकेत कर रही है। मंडप पर बैठा मोर भी मानो शोकाकुल है और अपनी गर्दन बढ़ाकर दोनों स्त्रियों के वार्तालाप से कुछ जानना चाहता है। संभवतः दायीं ओर की स्त्री वैद्य है और सुन्दरी की स्थिति देखकर वापस लौट रही है। उससे दासी औषध माँग रही है और वह संकेत से यह बताकर कि सुंदरी मात्र दो घड़ियों अथवा दो दिनों मेहमान है, स्थिति की गंभीरता प्रकट कर रही है। बुद्ध बोधिसत्त्व–प्राप्ति के पश्चात् मौसेरे भाई नंद के घर भिक्षा माँगने गये जहाँ वह अपनी पत्नी के प्रसाधन में व्यस्त था जिसको उन्होंने अपने साथ ले जाकर भिक्षुव्रत का आचरण कर अर्हत्पद प्राप्त करने की दीक्षा दी।[1]

आगे बायीं भीत पर सौन्दरानन्द (अश्वघोष) की कथा चित्रित है। श्वेत परिधान में भिक्षापात्र लिये बुद्ध दिखायी पड़ते हैं। आगे एक घोड़ा है। साईस और नौकर हैं। इसके आगे पुनः बुद्ध का चित्रांकन है। बुद्ध के पास एक स्त्री और एक बालक (यशोधरा और राहुल) चित्रित हैं। इससे आगे दूसरे और तीसरे प्रकोष्ठ के ऊपर नन्द का संघ में प्रवेश दिखाया गया है। भूमि पर बैठे नन्द के सिर के बाल नाई झुकाकर काट रहा है। दो भिक्षु ध्यान से इस दृश्य को देख रहे हैं। फिर एक मंडप में सिर झुकाये बैठा एक भिक्षु अंकित है। बायीं ओर सबसे ऊपर एक भिक्षु के साथ आकाशगामी बुद्ध का चित्र है। भिक्षु नन्द हैं। सभी चित्र समाप्तप्राय हैं।[2]

मंडप की बायीं भित्ति पर सर्वथा दायीं ओर हवा में उड़ती अप्सराएँ चित्रित हैं। इस अप्सरा की अलकावली लहराती हुई अंकित है। केशपाश तथा उससे लटकती ललाटिका जूड़े में गुँथी पुष्पमाला, काल में झूलते कुंडल, बड़े मणियों की एकावली, बाहुओं में केयूर तथा कलाइयों में कंकण पहने यह अप्सरा बहुत भव्य है। पट्टिकाओं से अलंकृत अर्द्धोरुक भली–भाँति चित्रित हुआ है।[3]

---

१. मदनजीत सिंह - दि केव पेंटिंग्स आफ अजंता, फलक ५१-५३, ६२ पंत प्रतिनिधिः चि० ३४१।

२. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी - भारतीय चित्रकला, पृ० ६५।

३. गुलाम याजदानी - अजंता खण्ड ३, पृ० ५६।

अन्तराल की बायीं ओर की सम्मुख भित्ति पर अजातशत्रु और बुद्ध की भेंट का भव्य दृश्य अंकित है। एक बड़े जुलूस के साथ राजा अजातशत्रु बुद्ध से मिलने के लिए जाते चित्रित हैं। जुलूस में विभिन्न अलंकरणों से सज्जित हाथी, प्यादे, बाँसुरी तथा तुरही बजाते वादक आदि सम्मिलित हैं। कुछ हाथियों पर स्त्रियाँ भी सवार हैं। 'दीघनिकाय' में इस प्रसंग का वर्णन आया है।

गुहा की दायीं भित्ति पर बुद्ध के जीवन–चित्र अंकित हैं। बायीं ओर सुजाता और बुद्ध का चित्र है, जिसमें सुजाता खीर देती हुई दिखायी गयी है। दाहिनी ओर आग पर खीर पकाती हुई सुजाता अंकित है, उसके पीछे चार गायें हैं। उनमें से एक खड़ी और तीन बैठी हैं। इसके आगे बुद्ध को बैठे हुए दिखाया गया है। उनके दोनों ओर दो आकृतियाँ हैं। इन चित्रों के नीचे राजा बिम्बिसार को बुद्ध के पास जाते हुए दिखाया गया है। कुमार सिद्धार्थ बचपन में ही समाधिस्थ हो गये थे। इस विषय का चित्र भी एक ओर है।[1]

दायीं दीवार के मध्य भाग पर बायें से दायीं ओर चित्रित तीन दृश्यों में क्रमशः मायादेवी के स्वप्न, असित ऋषि से भेंट तथा सिद्धार्थ के विद्याभ्यास का अंकन किया गया है। प्रथम दृश्य में राजमहल में पर्यंक पर मायादेवी सोयी है। समीप ही भूमि पर उनकी दो दासियाँ लेटी है। इसके समीप ही शुद्धोदन को अपने स्वप्न के विषय में बताती मायादेवी चित्रित है। दूसरे दृश्य में नवजात बालक को अपनी गोद में लिये ऋषि असित एकाग्रता से निरीक्षण करने के पश्चात् उसके भविष्य का कथन कर रहे हैं। इसके बाद कुछ बच्चों के साथ सिद्धार्थ विद्याभ्यास करते हुए चित्रित है। ऊँची कोनदार टोपी (कुलह) पहने सिद्धार्थ फलक पर अक्षराभ्यास कर रहे हैं। इसके निचले भाग में प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़े सिद्धार्थ द्वारा धनुर्विद्या के अभ्यास का दृश्य चित्रित है। इसके अनन्तर बायीं ओर से क्रमशः दायीं ओर बढ़ने पर दो दृश्य अंकित हैं। प्रथम में सिद्धार्थ द्वारा वृद्ध, व्याधिग्रस्त, मृत तथा संन्यासी इन चार निमित्तों को देखने का दृश्य अंकित है। दूसरे दृश्य में गौतम बुद्धत्व–प्राप्ति के पश्चात् त्रपुष तथा भल्लिक नामक दो व्यापारियों से शहद तथा चावल के अपूप और सुजाता से खीर ग्रहण करते हुए चित्रित हैं। इसके पश्चात् बुद्ध द्वारा राजगृह जाने के दृश्य का अंकन है। राजगृह के सपाट छतोंवाले घर, उन पर लगे लकड़ी के छज्जे, जाल–वातायन आदि बहुत खूबी से चित्रित किये गये हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १७ – इस गुहा में प्राप्त अभिलेख से पता चलता है कि इसका निर्माण वाकाटक राजा हरिसेन के अधीनस्थ रिथिक के राजा ने करवाया था। बरामदे के बायीं भित्ति पर एक चित्र अंकित है जो संसार–चक्र का प्रतीक माना गया है।[2] इस विशाल चक्र को थामे दो हाथ ऊपर की ओर दृष्टिगत होते हैं। निचले भाग में हरे रंग से चित्रित तथा मविभद्र नाम से अंकित एक खंडित मानवाकृति है। यह चक्र पाँच भागों में बँटा अंकित है। चक्र की नाभि से परिधिपर्यन्त अरे बने हुए हैं। इस चक्र की नाभि में वानर, मिथुन, कुम्हार, ऊँट आदि पशुओं तथा मानवाकृतियों का चित्रण है जब कि अरों के मध्य जीवन के विभिन्न दृश्य, जैसे हाट–बाजार, उद्यानगोष्ठी, किसानों की बस्ती, राजमहल के जीवन के दृश्य, प्रेमी युगल नृत्य–वाद्य की संगीतियाँ, अरण्य में साधना करते ऋषिगण प्रभृति अंकित हैं। इसके किनारे सर्पाकार–नदी के प्रवाह जैसा–एक व्याल चित्रित है जिससे भयभीत हो लोग अपने मालमत्ता सहिल भाग–दौड़ कर रहे हैं।[3]

---

१. गोपाल मधुकर चतुर्वेदी - भारतीय चित्रकला, पृ० ६५१।
२. एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः - भगवद्गीता ३१६, पृ० १०६।
३. अजय मित्र - अजंता, शास्त्री, पृ० ६३।

मुख्य द्वार की बायीं तथा दायीं ओर हवा में उड़ते शक्र (इन्द्र), गन्धर्व तथा अप्सराएँ अंकित हैं। इन्द्र के आगे–पीछे बाँसुरी, मँजीरे, वीणा आदि वाद्य बजाती अप्सराएँ हैं। इन्द्र किरीट, मुकुट, कुंडल, एकावली तथा जड़ाऊ हार, मुक्तायज्ञोपवीत, केयूर, कटक, असिपुत्रिका तथा असि से सज्जित हैं। आड़ी धारियोंवाले अधोवस्त्र पहने इन्द्र के बायें हाथ उठे तथा भूमि के समानांतर मुड़े दायें हाथ की अंजलि में कुछ अस्पष्ट वस्तुएँ हैं। हवा में उड़ती अप्सरा का अंकन बहुत सुन्दर है। उसके सिर पर बँधे शिरोभूषण में लटकती मोतियों की लड़ियाँ, मस्तक के ऊपर बँधा उष्णीष पट्ट, कानों में लटकते कुंडल, बड़ी–बड़ी गोल तथा आयताकार मणियों का कंठा, नीलमणि के जड़ाऊ पदक से अलंकृत मुक्ताहार, केयूर तथा रत्नजटित कटकों का चित्रण बहुत ही सुंदर है। अप्सरा के दोनों हाथ में मँजीरे हैं।

द्वार के चौखट पर दम्पतियों के कुछ सुन्दर चित्र अंकित हैं। उनमें प्रेम के अनेक पक्ष जैसे–मानिनी को मनाना, मधुपान की क्रियाएँ आदि चित्रित हैं। मिथुन चित्रण मंगलसूचक है।

मुख्य द्वार की द्वारशाखा पर सात मानुषी बुद्धों–विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छंद, कनकमुनि, काश्यप तथा शाक्यमुनि तथा भावी बुद्ध मैत्रेय का सुंदर चित्रण है। ये सभी बुद्ध अपने बोधिवृक्षों के नीचे बैठे हैं।[१] द्वार की दाहिनी ओर के बोधिसत्त्व के साथ के उपदेवों में से मंजीर बजाती हुई एक अप्सरा दर्शनीय है।

बाहर के दालान में प्रवेशद्वार वाली भित्ति की सबसे बायीं ओर एक विश्वंतर जातक का चित्रण है। राजा और रानी भृत्य वर्ग के बीच एक मंडप में अंकित हैं। विश्वंतर मधुपात्र पकड़े है। अपने देशनिकाले का समाचार अपनी पत्नी को सुनाते हैं। रानी प्रेमपूर्ण मुद्रा में राजा की ओर कनखियों से देखते चित्रित हैं। दूसरे दृश्य में विश्वंतर दान दे रहा है। दान पाने के इच्छुक साधु–संन्यासियों, भिक्षुओं तथा विभिन्न वेश–भूषा के लोगों की भीड़ इकट्ठी है। भिक्षार्थियों में भिक्षा बाँटते राजा और रानी नगर द्वार से बाहर निकलते अंकित हैं।

दालान–भित्ति की सबसे दाहिनी ओर नलगिरि नामक मस्त हाथी के कई दृश्य हैं। चित्र में बायें ऊपर की ओर महल में अजातशत्रु तथा देवदत्त षड्यंत्र रचते चित्रित हैं। नीचे बाजार के रास्ते में स्त्री–पुरुष अंकित हैं। मदमत्त नलगिरि के आतंक से दुकान बढ़ाते व्यापारी, सहमकर इधर–उधर छिपते लोग तथा छज्जों पर आतंकित खड़ी स्त्रियाँ दिखायी गयी हैं। बुद्ध के सम्मुख नत हुए नलगिरि तथा उनके मस्तक को थपथपाते बुद्ध और अन्त में भिक्षुओं के एक बड़े समुदाय को उपदेश करते हुए बुद्ध चित्रित हैं।

दालान की बायीं ओर की पिछली दीवार पर तरह–तरह के विषयों से परिपूरित जीवन–चक्र का आलेखन है। वानर, कुम्भकार, मिथुन दृश्य, ऊँट तथा बाजार और उद्यानगोष्ठी के दृश्य जीवन की विविधताओं के अंकन हैं। यह सारा संसार–चक्र दोनों हाथ फैलाकर एक व्यक्ति पकड़े हुए है।[२]

गुफा के प्रवेशद्वार की बायीं ओर भित्ति पर षड्दन्त (छदन्त) जातक चित्रित है। ऊपर बायीं ओर रानी का महल, सफेद हाथी के रूप में बोधिसत्त्व तथा उनका यूथ, गजयूथ द्वारा झील में क्रीड़ा, शिकारी द्वारा तीर चलाना तथा दाँत देखते ही व्यथित रानी द्वारा राजा के क्रोड में प्राण छोड़ देना अंकित हैं।

---

१. देवला मित्र : अजंता, पृ० ५२।
२. वही : अजन्ता, पृ० ५४।

खिड़की और छोटे द्वार के बीच के स्थान में महाकपि जातक चित्रित है। चित्र में बायीं ओर एक नदी अंकित है। नदी में मछलियाँ, अन्य प्राणी तथा मनुष्य नहा रहे हैं। राजा अपने धनुर्धारियों सहित घोड़े पर बैठा है। धनुर्धारी बंदरों पर तीर चला रहे हैं। ऊपर की ओर बंदर बोधिसत्त्व के तने शरीर पर से पार होकर अपने प्राण बचा रहे हैं। नीचे राजा के सेवक एक कंबल पकड़े हुए हैं। संभवतः इस कम्बल में उन्होंने घायल बोधिसत्त्व को उतारा है। वातायन के ऊपर बोधिसत्त्व बैठे तथा राजा को उपदेश देते चित्रित हैं। गुहा क्रम सं० १६ की ही भाँति भित्ति के शेष भाग पर हस्ति जातक चित्रित है। यहाँ मृत पड़े हाथी का मांस निकालते–खाते भूखे यात्रियों का अंकन दृष्टिगत होता है। शेष चित्र नष्टप्राय हैं।

बायीं ओर की भित्ति पर एक राजदरबार का चित्र है। राजा तलवार लेकर बैठा हुआ दिखाया गया है। भित्ति के साथ लगे कुड्यस्तम्भ के ऊपरी भाग तक हंस जातक चित्रित है। चित्र में दो हंसों को पकड़कर लाते व्याध अंकित हैं तथा कमल झील से उठते हंस और उनकी भगदड़ का बहुत ही स्वाभाविक चित्रांकन है। अगले दृश्य में आसनस्थ हंस राजा–रानी तथा परिचारकों को उपेदश देते दिखाया गया है। हंस के रूप में यहाँ बोधिसत्त्व ही हैं।

गुहा की बायीं भित्ति के दायें हाथ तथा अंतराल के बायें भाग पर यह जातक कथा अंकित है। यह कथा आर्यशूर के 'जातक माला' में वर्णित है। कथा दायीं ओर के निचले भाग से आरंभ होती है। राजा सुदास हरिणों के शिकार पर वन में जाता है जहाँ वह अपने सहयोगियों से पिछड़ जाता है। घोड़े पर सवार राजा विभिन्न आभूषणों एवं शस्त्रास्त्रों से सज्जित है। ऊपर की ओर हरिण तथा उनका पीछा करते शिकारी कुत्ते दौड़ रहे हैं। दूसरे दृश्य में अकेले सोये राजा के पैर चाटती एक सिंहनी अंकित है। यहीं कुछ ऊपर एक चट्टान पर राजा तथा सिंहिनी बैठे चित्रित हैं। ऊपर दायीं ओर भरे बाजार में से महल के द्वार की ओर बढ़ती सिंहिनी तथा स्तब्ध लोग अंकित हैं। सबसे दायीं ओर गोद में बालक लिये राजा तथा सिंहिनी हैं। नीचे शस्त्रास्त्र और विद्याभ्यास करता सुदास, उसकी बायीं ओर सुदास का राज्याभिषेक तथा मनुष्य मांस भक्षण के दृश्य अंकित हैं। राजा सुदास के शिकार पर जाने के दृश्य के ठीक ऊपर सुदास की पाकशाला से भागा एक व्यक्ति तथा उसके ऊपर सुदास से अपनी आदत छोड़ने की प्रार्थना करते लोग चित्रित हैं। शस्त्राभ्यास के चित्र के नीचे सुदास पर आक्रमण करते सैनिक हैं। इसकी बायीं ओर बहिष्कृत सुदास के वन में रहने का दृश्य है जो धुँधला पड़ गया है। बोधिसत्त्व सुतसोम कमल झील से पकड़े जाने पर सुदास द्वारा कंधे पर बैठाया हुआ अंकित है।[१]

अन्तराल की दाहिनी ओर पिछली दीवार पर चार जातक कथाएँ चित्रित हैं। अन्तराल के द्वार के दायें भाग पर शरभमृग जातक अंकित है। बोधिसत्त्व हरिण के रूप में जंगल में रहते थे। एक बार वाराणसी के राजा ने शिकार करते हुए उनका पीछा किया। पीछा करते–करते स्वयं राजा एक गहरे गड्ढे में गिर पड़ा। बोधिसत्त्व ने पत्थर उठा–उठाकर राजा का भार ढोने का अभ्यास किया और अन्त में स्वयं राजा को अपनी पीठ पर ढोकर बाहर निकाला। चित्र में आखेटक के मध्य में अंकित है।[२]

शरभ जातक के चित्रांकन के आगे दाहिनी ओर मत्स्य जातक की कथा चित्रित है। मत्स्य के रूप में जन्मे बोधिसत्त्व एक बार सूखा पड़ने पर अपने जाति बांधवों की रक्षा हेतु इन्द्र से प्रार्थना करते हैं तथा पानी की कमी के कारण मछलियाँ मरने लगती हैं। मत्स्य की प्रार्थना पर वर्षा होती है। चित्र का केवल एक अंश अवशिष्ट है जिसमें एक बड़ी मछली को घेरती हुई छोटी मछलियाँ तथा जलपक्षियों से युक्त एक सरोवर दिखायी देता है।[३]

---

१. अजयमित्र : अजंता, पृ० ६७।
२. देवलामित्र : अजंता, पृ० ५२।
३. मदनजीत सिंह 'दि केव पेन्टिंग्स आफ अजन्ता', पृ० ७६ और आगे।

शरभमृग जातक के निचले भाग में मातृपोषक जातक का अंकन है। एक बार बोधिसत्त्व एक अंधी हथिनी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। अपनी अंधी माँ की देखभाल, भरण–पोषण आदि उनका प्रिय कार्य था। एक बार जंगल में एक आदमी भटक गया। मातृपोषक ने उसे अपनी पीठ पर बैठाकर जंगल के बाहर पहुँचा दिया। इस उपकार के बदले उस कृतघ्न व्यक्ति ने वाराणसी के राजा के हाथी के मरने पर मातृपोषक का पता देकर उन्हें पकड़वा दिया। इस पर अंधी माँ के पालन–पोषण के विषय में चिंतित मातृपोषक ने अन्न–जल त्याग दिया और राजा द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर वस्तुस्थिति कह सुनायी। राजा ने उसे छोड़ दिया जिस पर वह दौड़ता हुआ माँ के पास गया, उसे खिलाया, नदी में जाकर स्नान करवाया और सेवा की। चित्र में माँ से मिलन का दृश्य तथा अन्तिम दृश्य में बोधिसत्त्व सूँड़ से अपनी माँ को धीरेधीरे सहला रहे हैं। दायीं ओर नीचे की तरफ शिकारियों द्वारा बोधिसत्व का पकड़ा जाना चित्रित है।

मंडप के दायें भाग पर श्याम जातक चित्रित है। सबसे ऊपर कमल झील के तटों पर मटके सहित श्याम अंकित हैं। निचले भाग में काँवर में अपने माता–पिता को ढोता तथा मध्य भाग में श्याम को उठाकर ले जाता राजा तथा राजा को उपदेश देता श्याम चित्रित है।

श्याम जातक के आगे महिष जातक का चित्रांकन है। इस कथा के अनुसार महिष के रूप में जन्मे बोधिसत्त्व को एक बंदर बहुत तंग करता था। चित्र में बोधिसत्त्व को एक वृक्ष के नीचे बन्दर द्वारा तंग करते दिखाया गया है। बोधिसत्त्व शान्त रहे, परन्तु एक दिन एक अन्य जंगली भैंसा वहाँ आ गया। बन्दर ने उसे भी तंग किया, पर उसने बन्दर को कुचल–कुचलकर घायल कर दिया। चित्र में दूसरे महिष द्वारा फेंके गये बन्दर की आँखों में भय का अंकन है।

दाहिनी ओर की वीथी में, प्रारम्भ और अंत के दोनों उपान्त स्तम्भों के बीच की पूरी भित्ति पर सिंहल अवदान जातक का चित्रण हुआ है। सिंहल नामक एक श्रेष्ठि कुमार ने ताम्रपर्णी द्वीप पर आक्रमण करके वहाँ के नरमांसभक्षी राक्षसों को मार भगाया और स्वयं उस द्वीप का राजा बन गया। तबसे उस द्वीप का नाम सिंहल द्वीप पड़ा। निचले दायें छोर से कथा आरंभ होती है। इसमें सिंहल के साथ यात्रा पर निकले पाँच सौ अन्य व्यापारियों का जहाज दुर्घटनाग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। इस दृश्य के ऊपर राक्षसिनियों के द्वीप में पहुँचे यात्रियों को सुन्दर स्त्रियों का रूप धारण कर लुभाती राक्षसिनियाँ अंकित हैं। सिंहल संकट का अनुभव कर उड़नेवाले घोड़े के रूप में उत्पन्न बोधिसत्त्व का कहना मानकर उनकी पीठ पर बैठ जाता है। एक द्वार के निकट पहुँचकर सिंहल बोधिसत्त्व के सामने घुटने के बल बैठकर कृतज्ञता ज्ञापन करता है। शेष यात्री राक्षसिनियों द्वारा खा लिये गये। एक राक्षसी ने सिंहल का पीछा कर एक बच्चे सहित उसके घर में प्रवेश किया तथा स्वयं को वहाँ सिंहल की पत्नी बताने लगी। उसके अस्वीकार करने पर वहाँ के राजा के पास फरियाद करने लगी। राजा ने उस पर मुग्ध होकर अपने पास रख लिया। लोगों द्वारा मना करने पर भी राजा नहीं माना। राक्षसी ने धीरे–धीरे अपने पंजे गड़ाये और लोगों को खाने लगी। महल के दरवाजे बन्द कर जब राक्षसिनियाँ राजा समेत सब लोगों को खा गयी और महल पर गिद्ध मँडराने लगे तब सिंहल ने सीढ़ी द्वारा महल में प्रवेश किया और सभी राक्षसिनियों को मार भगाया। इसके पश्चात सिहल द्वीप में भी सेना भेजकर सभी राक्षसिनियों को मारकर वह उस द्वीप का राजा बना। एक अन्य दृश्य में सिंहल की सेना का ताम्रद्वीप पर अभियान अंकित है। अस्त्र–शस्त्रों में ढाल, तलवार, भाले, तीर और धनुष मुख्य हैं।

इस वीथी के कुड्यस्तम्भ पर प्रसाधन का सुप्रसिद्ध दृश्य चित्रित है। इस चित्र में दो परिचारिकाओं और एक कुब्ज सेवक के मध्य त्रिभंग में खड़ी एक स्त्री बायें हाथ में लिये एक गोलाकार

दर्पण में मुँह निहारती हुई अंकित है। बायीं ओर की परिचारिका चामरधारिणी तथा दायीं ओर की करंडवाहिनी है। स्त्री अत्यन्त सीमित वस्त्रों तथा विविध आभूषणों से अलंकृत है।[1]

उपर्युक्त कुड्यस्तम्भ के आगे भित्ति पर शिबि जातक का चित्रण है। चित्र में शिबि दरबारियों तथा स्त्रियों के मध्य बैठकर प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि शरीर का कोई भी अंग माँगने पर वे दे देंगे। बायी ओर ऊपर के भाग में शक्र अंकित है। दायीं ओर आँखें निकालने की असह्य पीड़ा को झेलते हुए शिबि का चित्रण है तथा उसके ऊपर राजा द्वारा बनाया शक्र और कमल सरोवर है जिसमें कमल पर बैठे शक्र तथा शिबि अंकित हैं। पहले दृश्य के ऊपर शिबि के समारोहपूर्वक अपनी राजधानी लौटने का अंकन है।[2]

रुरु जातक की कथा है कि एक बार बोधिसत्त्व ने रुरु के रूप में जन्म ग्रहण किया तथा एक व्यक्ति जिसने प्रलोभन में राजा को उसका निवास–स्थान बताकर उन्हें पकड़वा दिया। उसी की उन्होंने नदी में डूबते प्राणों की रक्षा की थी। यहाँ पर चित्र में घोड़े पर सवार राजा को कुत्तों के साथ जंगल में शिकार खेलने जाते दिखाया गया है। एक व्यक्ति जो मृग पकड़ना चाहता है उसका हाथ कट जाता है। अन्त में रथ पर सवार स्वर्ण–मृग को जुलूस के रूप में लाते दिखाया गया है।[3]

मंडप के सम्मुख भित्ति के भीतरी और दायीं ओर की दो खिड़कियों के मध्य भाग में रीछ के रूप में जन्मे बोधिसत्त्व द्वारा स्वयं अपने प्राणों के मूल्य पर एक शिकारी के जाल में फँसे मृग की रक्षा करते हुए ऋक्ष जातक अंकित है। यह चित्र काला पड़ गया है तथा आकृतियाँ पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं।[4]

द्वार तक भित्ति के शेष भाग पर न्यग्रोधमृग जातक का चित्रण है। चित्र के द्वार और वातायन के मध्यवर्ती निचले भाग के उपवन में मृगों का अंकन है जबकि ऊपरी भाग में राजा के रसोईघर में वध के लिए उद्यत न्यग्रोधमृग दृष्टिगत होता है। दायीं ओर विस्मित रसोइयें द्वारा राजा को इस घटना की सूचना देने की घटना चित्रित है। इसके आगे सिंहासनासीन बोधिसत्त्व भूमि पर बैठे राजा–रानी को उपदेश देते हुए दिखाये गये हैं। गवाक्ष के ऊपर अंतिम दृश्य में एक स्तूप और बोधिसत्त्व के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पशु–पक्षियों का अंकन है।[5] इसका कथानक है कि वाराणसी का राजा मृग मांस का शौकीन था और वह शिकार में कई मृगों को नुकसान पहुँचाता था। उसने सुनहले रंग के मृग न्यग्रोधमृग और शाखामृग को अभयदान दिया था। इन मृगों ने राजा के पास प्रतिदिन एक मृग भेजने की व्यवस्था की। किंतु एक दिन गर्भिणी हरिणी की बारी में वहाँ स्वयं न्यग्रोध उपस्थित हुए जिससे राजा ने आश्चर्य–चकित हो समस्त प्राणियों को अभयदान दे दिया।

अन्तराल की भित्तियों पर दाहिनी ओर श्रावस्ती का चमत्कार चित्रित है। बायीं ओर की भित्ति पर तुषित स्वर्ग में महामाया को प्रवचन दे रहे हैं। सांकाश्य में ब्रह्मा और शक्र के साथ पृथ्वी पर उतरने और प्रवचन करने के दृश्य अंकित हैं। सांकाश्य की सभा में विदेशी मुख पर भी दिखायी पड़ते हैं।[6] दरवाजे की बायीं ओर, अन्तराल की पिछली भित्ति पर इस गुहा का सर्वोत्कृष्ट चित्र अंकित है। इसमें बुद्ध को कपिलवस्तु में यशोधरा से भिक्षा माँगते हुए दिखाया गया है। यशोधरा राहुल को आगे किये हुए है

---

१. मदनजीत सिंह 'दि केव पेन्टिंग्स आफ अजन्ता', पृ० ८२-६५।
२. देवलामित्र - अजन्ता, पृ० ६२ फ० ११।
३. वही - अजन्ता, पृ० १०२-१०३।
४. याजदानी, 'अजन्ता', पृ० ६६ और आगे।
५. देवलामित्र, 'अजन्ता', पृ० ६३-६४।
६. भारतीय चित्रकला -गोपाल मधुकर, पृ० ६६।

और स्वयं पीछे खड़ी बुद्ध की ओर अपलक निहार रही है। बुद्ध का बृहत् आकार सौम्य मुख छवि और उनके सम्मुख एक नारी अपना सर्वस्व न्योछावर करने की मुद्रा में खड़ी है। उसकी आँखें असीम तृष्णा से पूरित हैं। वह भगवान् की ओर निस्पन्द नेत्रों से निहार रही है।

बौद्ध धर्म से संबंधित उपर्युक्त दृश्यों के अतिरिक्त इस गुहा में विविध स्थलों पर अनेक अलंकरणाभिप्रायों का चित्रण भी दृष्टिगत होता है। इनमें वैविध्यपूर्ण लता–पत्रक, ईहामृगों, विविध दरबारी दृश्यों, पशु–पक्षियों तथा ज्यामितीय आकृतियों का अंतर्भाव है। छत पर विविध अलंकरणाभिप्रायो के अंकन से युक्त एक के बाद एक कर बनाये गये अनेक वृत्तों से निर्मित अनेक सुंदर मंडलक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। छत के मध्य में हम छह मानवाकृतियाँ अंकित पाते हैं जिनके केवल छह हाथ हैं। किंतु वे इस कौशल के साथ बनाये गये हैं कि संख्या में छह होने पर भी बाहर दिखायी देते हैं।[१]

गुहा-मंदिर क्रम सं० १८ – यह गुहा १९वीं गुहा के मार्ग में है। यहाँ कुछ भी चित्र नहीं है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १९ – यह चैत्य है। भीत और छत के ऊपर बहुत–से चित्र हैं। कुछ बुद्ध आकृतियाँ, कुछ सज्जा के लिए अंकन तथा बायीं वीथी में यशोधरा से भिक्षा मांगने का दृश्य भी अंकित है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २० – यह गुहा विहार है। पाँचवी शती में इसकी खुदाई हुई। गुहा के अधिकांश चित्र नष्ट हो गये हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २१ – यहाँ के भी चित्र पूर्णतया नष्ट हैं परन्तु नीला रंग अपनी ताजगी के साथ कहीं–कहीं दीख पड़ता है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २२ – यह विहार तनिक ऊँचाई पर है। दाहिनी ओर उत्कीर्णित बुद्ध मूर्ति के ऊपर सात मानुषी बुद्ध चित्रित हैं। यहीं पर एक विचित्र अभिलेख भी है। कमलनाल पकड़े हुए नागों का चित्रण है जिन पर बुद्ध आकृतियाँ बैठी दिखायी गयी हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २३ – इस गुहा में चित्रों के अवशेष नहीं हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २४ और २५ – अधूरा विहार है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २६ – सातवीं शताब्दी के लगभग बना हुआ यह चैत्य गुहा क्रम सं० १९ की योजनानुकूल बना दिखता है। यहाँ मूर्तियाँ प्राप्य हैं किन्तु चित्रावशेष नहीं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २७ – यह गुहा क्रम सं० २६ का ही एक भाग है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २८ – यह अधूरा विहार है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २९ – एक अधूरा चैत्य। यहाँ पहुँचने के लिए कोई मार्ग नहीं है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ३० – दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की यह गुहा जनवरी सन् १९५६ में प्रकाश में आयी।

अजन्ता के चित्रों में धर्म के साथ लोकमत एवं पार्थिव जगत् की घटनाओं का नानाविध चित्रण है। पौराणिक तथा नाटकों में वर्णित राजदरबार एवं जनसाधारण के जीवन से सम्बन्धित यह चित्र तत्कालीन संस्कृतियों का अवज्ञान कराने में सक्षम है।

अजन्ता के सभी शैलगृह स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की दृष्टि से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। कुछ गुफाओं का सम्बन्ध हीनयान से है तो कुछ का महायान सम्प्रदाय से। शैलगृह क्र० सं० २६ एवं २७ के मध्य स्थित चैत्यगृह में संस्कृत और प्राकृत के मिश्रण में रचित एक सुदीर्घ अभिलेख

---

१. देवलामित्र, 'अजन्ता', पृ० ६४-६५।

उत्कीर्ण है। लेख में दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट कुल का उल्लेख है जिससे ईस्वी आठवी–नवीं शताब्दी तक इन गुफाओं के कार्यशील होने का ज्ञान मिलता है। तत्पश्चात् १६वीं सदी तक ये गुफाएँ अंधकाराच्छन्न रहीं।

भगवान बुद्ध ने कठोर तपस्या और विलासी जीवन की दोनों अतियों का त्याग कर मध्यम मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का अनुसरण किया था। भगवान् बुद्ध का सांसारिक जीवन के ऊपर गहन आध्यात्मिक अनुभव ही यहाँ के चित्रांकन का मुख्य आधार रहा है। आकृतियों की भाव–भंगिमा, मनोभावों एवं मुद्राओं में उनकी आत्मिक शक्ति की अनुगूँज है।

अजंता के चित्रों में प्रमुखतया पीले, लाल, नीले, सफेद, काले और हरे रंग का प्रयोग हुआ है। रंगों के विविध अनुपातों में सम्मिश्रण से कई अन्य रंग छटाएँ तैयार की गयी हैं। छह मुख्य रंगों में से काले को छोड़कर शेष रंग खनिजों से तैयार किये गये हैं। पीला तथा लाल रंग क्रमशः पीली मिट्टी और गेरू से तैयार किये गये हैं। सफेद रंग के लिए चीनी मिट्टी, जिप्सम और चूने का उपयोग किया गया है। काला रंग काजल से तैयार किया गया है। नीले रंग के लिए लाजवर्द तथा हरे रंग के लिए ग्लोकोनाइट पत्थरों का उपयोग किया गया है जिनमें से लाजवर्द को छोड़कर शेष सभी खनिज आज भी स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं। अजंता के चित्रकारों ने छह रंगों के बहुविध विधान से जो बहुरंगी चित्रसृष्टि रच दी है वह चित्रकला के लिए बहुत ही उपयोगी है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी (सफेद, पीला, लाल, काला और नीला) इन पाँच मूल रंगों की आवश्यक्ता और कल्पना के अनुसार विभिन्न अनुपातों में मिश्रण से सैकड़ों–हजारों रंगों के निर्माण पर प्रकाश डाला गया है।

भित्तिचित्र में फ्रेस्को अथवा फ्रेस्को बुओनों में दीवाल पर मोटी तह देकर चित्राधार का निर्माण होता है और इस आधार के सूखने के पूर्व ही रंग कर्म किया जाता है तथा फ्रेस्को अ सेक्को अथवा टेंपरा पद्धति में पलस्तर के सूख जाने के पश्चात् उस पर चित्रांकन किया जाता है तथा रंग के घोल में लसदार पदार्थ मिलाये जाते हैं। अजंता के चित्र टेंपरा विधि से बनाये गये हैं। यहाँ के चित्र वर्णिकाभंग के अनुपम उदाहरण हैं।

शरीराकृतियों तथा अवयवों एवं अन्य रूपों की सुघड़ता, रेखाओं के सजीव एवं सहजातिक अंकन और रंगों की अनुरूप अभियोजना यहाँ के चित्रों को सजीव बनाती है। अजन्ता कला तीर्थ के दर्शन से पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति होती है।

बाघ की कलाकृतियाँ

मध्य प्रदेश के जिला धार में इन्दौर से उत्तर–पश्चिम लगभग १४० कि०मी० की दूरी पर, बाघिनी (बाघ) नदी के तट पर ये गुहा–मंदिर स्थित है। धार से ८० कि०मी० दूर बाघ ग्राम है जहाँ से लगभग ८ कि०मी० दूर बाघ–कुक्षी मार्ग से थोड़ा हटकर बाघ की ये गर्भशालाएँ उत्कीर्ण हैं। प्रसिद्ध पुस्तक 'द बाघ केव्ज' में हमें बाघ की गुफाओं के चित्रण की जानकारी मिलती है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० १ – यह बाघ नदी से १२५ फीट ऊपर 'गृह' के नाम से जाना जाता है। यहाँ ८ फीट ऊँचा एक आयताकार कक्ष है। कक्ष के भीतर चार स्तम्भों में एक विनष्ट तथा शेष तीन भी विनाशप्राय ही हैं। सम्भवतः यह किसी मुख्य मठाधिकारी का निवास–स्थल है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० २ – 'थेथ' या 'पाण्डवों की गुफा' के नाम से जानी जानेवाली यह गुफा सुरक्षित दशा में है। यह गुहा–मंदिर बौद्ध स्थापना से सम्बन्धित है। द्वार–मण्डप के उत्तरी एवं दक्षिणी

छोर के बाहरी हिस्से में दो छोटे–छोटे कोष्ठ बने हुए हैं जिसमें बायें ललितासन में बैठी कोई देवप्रतिमा है। कोष्ठ के ऊपर अश्वनालाकार तोरण के दोनों ओर उड़ती हुई दिव्य प्रतिमायें हैं जो अपने हाथ में हार लिये हुए हैं।

दाहिने कोष्ठ में गणेश जी हैं जिनकी प्रतिमा के नीचे कीर्तिमुख एवं अन्य अलंकरण देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी गणेश के पहले बुद्ध प्रतिमा रही होगी। सभामण्डप में २० स्तम्भ तथा बीच में गोलाकार ४ स्तम्भ हैं। इन स्तम्भों के शीर्ष भाग अलंकरण से युक्त हैं। सभामण्डप के दाहिनी एवं बायीं ओर सात–सात कोठरियाँ हैं और सामने अन्तराल एवं गर्भगृह के अगल–बगल दो–दो कोठरियाँ हैं। अन्तराल के सामने दो षड्भुजीय स्तम्भ हैं। इसकी दीवारें उत्कीर्ण प्रतिमाओं से सुसज्जित हैं। अन्तराल की भित्तियों पर अनेक शिलाकृत आकृतियों का निर्माण किया गया है। गर्भगृह द्वार के बायीं ओर कमलपुष्प पर खड़े अवलोकितेश्वर की प्रतिमा है जिसके अंग–प्रत्यंग आभूषणों से सुसज्जित हैं। सिर पर उन्नत जटा–मुकुट तथा पुष्प अलंकरण में प्रभामण्डल दिखाया गया है। शरीर पर कण्ठहार, कुण्डल, कंगन, करधनी और वलययुक्त परिधान एवं तीन लड़ोंवाला यज्ञोपवीत शोभित है। द्वार के दाहिने ओर मैत्रेय की प्रतिमा कमल के ऊपर है। अभय मुद्रा में बैठे बुद्ध का लघु रूप आकर्षक है। अधोवस्त्र पहने मैत्रेय की आकृति आभूषणरहित है। मैत्रेय का दाहिना हाथ खण्डित है तथा बायें हाथ में एक पात्र लिये हुए हैं।

उसी अन्तराल की उत्तरी एवं दक्षिणी दीवार पर खड़े हुए बुद्ध आकृति के साथ राजपुरुषों को उनके अगल–बगल सेवार्थ खड़े हुए दिखाया गया है। इन चित्रों में छत पर अंकित एक–एक फुट के वर्गाकार उपखण्डों में पुष्प, लता–वल्लरी, पक्षी, पशु आदि चित्रित हैं। यहाँ का बोधिसत्त्व पद्मपाणि का चित्र जिसका शिरोभाग अवशेष है, त्रिभंग मुद्रा में खड़े बोधिसत्त्व का महामानवी स्वरूप, शिरोमुकुट, कुण्डल, मुक्ताहार, बाजूबंद आदि से युक्त है। मुखमण्डल पर गहन चिन्तन, त्याग, वैराग्य आदि भावों का उत्कृष्ट अंकन है। अधोनिमीलत भावपूर्ण नेत्र करुणा के द्योतक हैं। दाहिने हाथ में कमलपुष्प है जो मंगल का प्रतीक है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ३ – 'हाथीखाना' कही जानेवाली यह गुहा 'पाण्डव मन्दिर' एवं 'रंगमहल' के बीच स्थित है। इस गुहा के अग्रभाग में एकान्तरित सिंह एवं युग्म आकृतियों से युक्त गवाक्ष का पंक्तिबद्ध अलंकरण है। पूजा–गृह के दोनों ओर सुन्दर नारियों के चित्र हैं जो कानों में कुण्डल तथा बाँहों में भुजबन्ध और फूलों के श्रृंगार से युक्त हैं। पूजागृह के बाहर अन्तराल की छतों में वर्गाकार आलेखन बनाये गये हैं।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ४ – 'रंगमहल' नामक गुहा के द्वारमण्डप के सामने की दीवार पर सबसे अधिक चित्र विद्यमान है। द्वारमण्डप की बायीं ओर एक बैठी प्रतिमा है तथा बाहर कोष्ठक में नर–नारी की बैठी हुई मूर्ति है। द्वार की पट्टियों में पुष्पलता का आलेखन है। द्वार के लिंटल के ऊपर पंक्ति में बैठे हुए बुद्ध तथा भावाकृतियाँ हैं। तथा अगल–बगल मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति है। इसी के नीचे द्वारपाल, गण तथा अन्य प्रतीक आकार भी हैं। अस्पष्ट रेखांकन और रंगों से वहाँ पर चित्र होने का पता लगता है। प्रसिद्ध कलाविद् प्रो० असितकुमार हालदार ने १९१७ में यहाँ के चित्रों को देखकर उनकी प्रतिलिपि तैयार की थी जो उनकी पुस्तक 'ललित कला की धारा' पृ० ७५–७६ से जाना जा सकता है। इस गुहा से बाहर द्वारमण्डप की दीवार पर चित्र भरे पड़े हैं। यह किसी ऐतिहासिक आख्यान से सम्बन्धित है।

प्रथम दृश्य में दो युवतियाँ बैठी हैं। दाहिनी ओर की स्त्री ने अपने आँचल से मुँह ढक रखा

है तथा उसका दूसरा हाथ दूसरी स्त्री के वक्ष पर है जिसके एक हाथ में कड़ा है। दूसरी गम्भीर मुद्रा में अपने बायें हाथ को गाल पर रखे है। आँचल से मुँह ढँककर रोती हुई उस स्त्री को अन्यमनस्क भाव से देख रही है। दोनों हाथों में कंगन है तथा वस्त्रविहीन शरीर आभूषणों से युक्त है। छत पर नीले रंग की दो चिड़ियों का अंकन है एक छोटी तथा दूसरी बड़ी।

डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल का मत है कि यह चित्र ऐसी दुखियारी युवरानी का है जिसका नवजात शिशु काल कवलित हो गया। इस दुर्घटना से रानी मर्माहत तो थी ही, उसकी पीडा और बढ जाती है जब शिशु को दूध न पिला पाने के कारण उसके स्तनों में दूध एकत्रित हो जाता है जो शोकाकुल रानी को अत्यधिक पीड़ा से विह्वल कर देता है। इसी पीड़ा से मुक्ति हेतु उसकी दासी को वक्ष से दुग्ध दोहन का कार्य सौंपा जाता है। इस कार्य को करते–करते दासी इतनी दुःखी हो जाती है कि वह कपड़े से मुँह ढककर फफककर रो पड़ती है।[१]

दूसरे दृश्य में दो राजाओं को अपने राजकुमारों के साथ चित्रित किया गया है। शायद वे प्रथम दृश्य की घटना की चर्चा दुखी मन से कर रहे हैं।

तीसरे दृश्य में आकाशचारी गन्धर्व अप्सराओं द्वारा आयोजित गायन–वादन का आनन्द ले रहे हैं। चतुर्थ दृश्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित पारिवारिक नृत्य नाटिका का आयोजन दिखायी पडता है जिसमें दो स्त्रियाँ विचित्र वेशभूषा धारण कर कोई स्वांग कर रही है। पाँचवें दृश्य में घुड़सवारों के जुलूस को चित्रित किया गया है तथा इसके बाद छठें दृश्य में हाथियों का जुलूस है जिसमें हाथी पर सवार स्त्रियों का अंकन बड़ी कुशलता से हुआ है।

इसके बाद में भी चित्र रहे होंगे लेकिन आज बाघ गुहा समूह के सारे चित्र नष्ट हो चुके हैं। यदि प्रतिकृति न हो तो इनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ५ – 'पाठशाला' नामक गुफा के बरामदे में चित्रकारी के उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हैं। यहाँ के आंतर कक्ष में स्पष्ट कोई भी चित्र प्राप्य नहीं है। अंशतः चित्रों तथा विद्यमान गच से चित्र का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ६ – गुहा संख्या ५ से गुहा संख्या ६ में जाने के लिए एक कक्ष है जिसके कोष्ठ के अर्द्धस्तम्भ में पूर्णकुम्भ तथा पर्णावली का आलेखन रहा होगा। यह गुहा पूर्ण रूप से क्षतिग्रस्त है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ७ – इस गुहा के चारों ओर २० स्तम्भ हैं और मध्य में ४ मुख्य स्तम्भ हैं टूटे स्तम्भ–खण्डों की चित्रकारी से आन्तरिक खण्डों के भी चित्रयुक्त होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुहा-मंदिर क्रम सं० ८ – यहाँ केवल प्रवेशद्वार शेष है।

बादामी की कलाकृतियाँ

कर्नाटक राज्य के ऊपरी हिस्से में बादामी नामक एक कस्बा है। बादामी में चार गुहाएँ हैं जो एक ही पहाड़ी में अवस्थित हैं। पहली शिव गुहा है। दूसरी एवं तीसरी वैष्णवी है तथा चौथी जैन

---

१. भारतीय चित्रकला का इतिहास (प्राचीन), डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल।

धर्म की। तीसरी गुहा में अजन्ता आकृतियों से साम्य रखनेवाले वैष्णव धर्म से सम्बन्धित चित्र प्राप्त हैं। तृतीय गुहा के छत पर बने चित्र चालुक्य सम्राट् कीर्तिवर्मन के शासन एवं उसके दरबार से सम्बन्धित हैं क्योंकि बाराह पैनेल के समीप उत्कीर्ण लेखों में 'मंगलेश की कला के रसास्वादन के लिए गुफा की छत तथा मूर्तियों को देखना चाहिए' ऐसा अंकित है। सम्राट् कीर्तिवर्मन मंगलेश का बड़ा भाई था।

प्रथम दृश्य में नृत्य–संगीत का आनन्द लेते हुए राजप्रासाद का दृश्य है तथा बैठी हुई आकृति नृत्य एवं संगीत का आनन्द ले रही है। आलिन्द के ऊपर बाहर से आये हुए अतिथि इस दृश्य को देख रहे हैं। मृदु नीलिमायुक्त हरे वर्ण की मुख्य आकृति का एक पैर आसन पर तथा दूसरा पैर पाद–पीठ पर टिका हुआ है। यह आकृति चालुक्य सम्राट् की है जिसके गले में कण्ठहार (कम्बुकंठ), आभूषण की लड़ियाँ तथा मोतियों से सन्नद्ध यज्ञोपवीत आदि युक्त हैं। पैर के पास अनेक बैठी हुई आकृतियाँ हैं और दोनों ओर चामर धारणकर सेवक एवं सेविकाएँ खड़ी हैं।

बायें भाग में वाद्यवृन्द के साथ संगीतज्ञों का जमघट है जिसके बीच दर्शक की ओर उन्मुख नर्तक और उसका साथ देनेवाली नर्तकी भी चित्रित है। पुरुष नर्तक जंघाओं पर धारीदार अर्द्धोरुक वस्त्र पहने हुए हैं तथा केशराशि जटाजूट की तरह है। कानों में पत्र–कुण्डल, कण्ठाभरण, बाजूबंद, कंगन आदि आभूषणों से विभूषित हैं। नृत्यांगना (नर्तकी) हल्के नीले हरे वर्ण की है तथा केशविन्यास सुघड़ है। गति (चलायमान) का अवबोध करानेवाली शरीर में लोचदार घुमाव है। वाद्ययंत्रों को बजाती हुई नारियाँ चारों ओर स्थित हैं। जिनमें से दो तन्वंगी बाँसुरी बजाती हुई, एक ढोलकिया, एक श्यामवर्णी नारी की गोद में मृदंग तथा एक मंजीरा बजा रही है। इस चित्र की दूसरी विषयवस्तु इन्द्रमहल से जोड़ी गयी है।

दूसरे दृश्य–दूसरे पैनल में राजप्रासाद के एक कक्ष में एक राजदम्पति एवं उसके दरबार का चित्रण है। सम्राट् को पीठासीन दिखाया गया है जिनका बायाँ हाथ घुटने पर तथा दायाँ हाथ त्रिपतका मुद्रा में है। शीश पर मुकुट, दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत है। बायीं ओर प्रसाधिकाओं और परिचारिकाओं के मध्य रानी आयताकार पीठासन पर है। रानी का दाहिना हाथ आसन पर तथा बायाँ हाथ नीचे चेहरा किये हुए सोच मुद्रा में है। उनका बायाँ पैर मुड़ा हुआ आसन पर तथा दूसरा दाहिना पैर पादपीठ पर है जिसमें प्रसाधिका द्वारा महावर लगाया जा रहा है। नाना आभूषणों से युक्त कमर से नीचे जंघाओं पर धारीदार अर्द्धोरुक पहने हैं। कान में पत्र–कुण्डल, भुजाओं पर अनन्ता एवं भुजबन्द तथा गले में कण्ठहार एवं माला है। केश की कुछ लटें माथे पर तथा धम्मीला फैशन का केश–विन्यास है। रानी की सेवा में खड़ी चमर धारिणियों के केश कहीं खुले कहीं बँधे हैं। एक परिचारिका के हाथ में दंड है। राजदम्पति के नीचे तीन आकृतियाँ क्रमशः गौर, ताम्र एवं हरित वर्ण की हैं जो सेनानायक हैं। दायीं ओर आदेश की प्रतीक्षा में बैठे मुकुटधारी दरबारी धरती पर अंकित हैं तथा छोर पर एक नारी प्रतिहारी भी चित्रित की गयी है।

तीसरा दृश्य–विद्याधर तथा विद्याधरी को एक–दूसरे के गले में बाँहें डाले हुए चित्रित किया गया है। दोनों के शीश पर मुकुट है। विद्याधर गौर वर्ण में तथा विद्याधरी गहरे वर्ण में है।

चतुर्थ दृश्य–इस पैनल के विद्याधर एवं विद्याधरी की युगल–आकृति में विद्याधर को जटाओं जैसा केशविन्यास, कान में कुण्डल, कमलपुष्प से सुशोभायमान, गहरे नीलिमायुक्त हरे वर्ण में चित्रित किया गया है। विद्याधरी कान में कुण्डलरहित, वीणा लिये हुए गौरवर्ण में चित्रित है। कार्ल खण्डेलवाला ने यहाँ का एक रंगीन चित्र अपनी पुस्तक 'इण्डियन–स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग' में प्रकाशित किया है।

सित्तनवासल की कलाकृतियाँ

तमिलनाडु में तंजौर के निकट सित्तनवासल नामक स्थान पर पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन तथ उनके उत्तराधिकारी पुत्र नरसिंहवर्मन ने कई गुहा–मंदिरों का निमार्ण कराया। ये गुहा–मंदिर भित्ति–चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं।

यहाँ की छत पर कमल–सरोवर में कमल–पुष्प एवं कलिकाओं के बीच मीन, मकर, कच्छप, हाथी, महिष और हंस चित्रित हैं। इसके मध्य तीन युवा मानव आकृतियाँ हाथ में कमल लिये हुए तथा अधोवस्त्र धारण किये हुए चित्रित हैं। दो मानव आकृतियाँ लाल रंग में तथा तीसरे को पीले रंग में चित्रित किया गया है।

राजदम्पति का चित्र सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सुन्दर किरीट मुकुट धारण किये हुए राजा के कान में कुण्डल तथा गले में कण्ठहार है। देहयष्टि वस्त्राभूषणों से युक्त है। उनकी अर्द्ध उन्मीलित आँखें दया, करुणा और सहानुभूति से परिपूर्ण हैं। मुखमण्डल पर शान्ति का भाव आन्तरिक दिव्यता की द्योतक है। राजा के पीछे रानी का चित्र है। सम्पूर्ण शृंगार से युक्त प्रसन्न मुखमुद्रा में औत्सुक्य का भाव परिलक्षित है। कानों में गोल बाली, मनोरम एवं लुभावनी केशसज्जा उनकी सुन्दरता को चार चाँद लगा रहे हैं। इन दोनों के ऊपर सुन्दर छत्र है।

गुहा के खम्भों पर आयताकार क्षेत्र में नर्तकियों का नृत्य गतिशील एवं उत्कृष्ट भाव–भंगिमा में उत्कीर्ण है। पाण्डुवर्णी ये नर्तकियाँ अपनी भाव–भंगिमाओं, हस्तमुद्राओं, आकृतियों और अलंकरणों से सजीव हो गयी हैं।

सिगिरिया की कलाकृतियाँ

भारत से श्रीलंका का आन्तरिक सम्बन्ध होने के कारण यहाँ की संस्कृति और कला पर भारत की अमिट छाप है। भौगोलिक और ऐतिहासिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से रहा है।

सिगरिया की कलात्मक गुहाएँ श्रीलंका (सिंहल) में प्राप्त हुई हैं। यह स्थान सिंह गुहा के नाम से जाना जाता है। इन गुहाओं का निर्माण पाँचवी सदी में हुआ। उस समय यहाँ कश्यप प्रथम का शासन था। सिगिरिया श्रीलंका के केन्द्रीय पर्वत–शृंखला में अवस्थित है तथा कोलम्बो से लगभग १६५ कि०मी० दूर है। जंगलों से घिरे लगभग ६०० फीट ऊँचे इस पहाड़ी के शिखर की दो उथली गुहाओं के छह अन्तः कक्ष में यहाँ के विश्वविख्यात चित्र अंकित हैं। इन गुहाओं की खोज १८३० में अंग्रेज सैनिक मेजर फोमर्स ने की थी।

यहाँ चित्रित आकृतियाँ अधिकतर अकेली अथवा कहीं–कहीं युगल रूपों में अप्सराओं की हैं। यहाँ कुल इक्कीस नारी आकृतियाँ प्राप्त होती हैं। पहले कक्ष की आकृतियाँ मानवाकार से बड़ी तथा दूसरे कक्ष की कुछ छोटी हैं। गुहाओं की दीवारों पर प्राचीन वज्रलेप (सीमेण्ट) से प्लास्टर किया गया है। तदुपरान्त लाल, पीले, हरे तथा सफेद खनिज रंगों से उस मणिबन्ध (चित्रभूमि) पर चित्र बनाये गये हैं। नीले रंग में कुछ भी नहीं है

ये अप्सराएँ निम्नार्द्ध में मेघों द्वारा घिरी हैं जो आकाशचारिणी होने का द्योतक है। अपने हाथों में पुष्प लिये हुए हैं और कहीं–कहीं फलों से भरा थाल है। हरे रंग से चित्रित नारी तथा पीले अथवा नारंगी रंग से चित्रित दो नारियाँ पास–पास चित्रित हैं। इन चित्रों की वर्ण–व्यवस्था, रेखाओं की शक्ति और

सन्तुलन तथा उत्कृष्ट संयोजन से कलाकार की कार्य–कुशलता और अद्भुत क्षमता का ज्ञान होता है। नेत्रों का अर्द्ध उन्मीलन, कटि की सूक्ष्मता, सुपुष्ट मांसल स्तन तथा भाव–भंगिमा से युक्त मुखमण्डल, सिर पर विविध प्रकार के केशविन्यास, शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण, कमर से नीचे लागदार धोती तथा वक्षःस्थल–पर आधी बाँहोंवाली कंचुकी आदि सधे हाथों की चित्रकारी है।

एलोरा की कलाकृतियाँ

औरंगाबाद से प्रायः १६ मील दूर एक सुन्दर सड़क पर 'एलोरा के गुहा–मन्दिर' बने हैं। इस स्थान पर पहली बारह गुफाएँ बौद्ध सम्प्रदाय की १७ गुहाएँ ब्राह्मण धर्म की और अन्तिम ५ गुहाएँ जैन–धर्म की हैं।

बौद्ध गुहाओं में तीन खण्ड का एक विशाल महल बना है, जिसमें महायान सम्प्रदाय की अनेकानेक पुरुषाकार मूर्तियाँ बनी हुई हैं। एक समूचे पहाड़ को काटकर चार खण्ड का मन्दिर बनाया गया है। ये गुहाएँ छठी और नवीं शताब्दी ई० के मध्य बनीं। गुहाओं में 'कैलाश मन्दिर' प्रसिद्ध है। कैलाशनाथ (नवीं शती), लंकेश्वर, इन्द्रसभा (नवीं शती) और गणेश लेण में खण्डित चित्र प्राप्य हैं। अन्य मन्दिरों में चित्रों के चिह्नावशेष रह गये हैं।

एलोरा के अलंकरणों में कमलवन, हाथी, मछली, पुष्प तोड़ती अप्सराएँ आदि बनी हैं। छतें महाकमल के आलेखनों से सज्जित हैं। इनके चारों और चौड़ी–चौड़ी पट्टियों में अनेक दृश्यों का अंकन किया गया है। जहाँ–जहाँ प्लास्टर उखड़ने के बाद पहली पर्तें दिखायी पड़ने लगी हैं उनमें रेखांकित चित्र गरुड़ पर आरूढ़ वैष्णवी प्रभावी और रम्य कृति है। पीछे की ओर मुड़े हुए सिंहवाहिनी देवी तथा चारों ओर देवबालाओं के बादलों में उड़ते–तैरते चित्र उल्लेखनीय हैं। यहाँ जैन धर्म के भी चित्र प्राप्य हैं।

११वीं शती के पश्चात् कला–क्षेत्र में स्थिरता आ गयी। वज्रयान, सहजयान, सि सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय, तांत्रिक मत, शाक्त मत आदि जनसामान्य में उनके धार्मिक–विश्वासों का जैसे–तैसे सहारा देते रहे। ब्रह्मानन्द का रसानुभव सहज में प्राप्त होनेवाले संभोग–सुख के रसानुभव कल्पना से मापा जाने लगा। इसी युग में स्त्री–पुरुष की नग्न आकृतियाँ शिल्प और चित्रकला में बनने लगीं।[१] मूर्ति, शिल्प तथा चित्र–कौशल में जड़ता का भाव सांस्कृतिक पुनरुत्थान काल तक मंद भाव से चलता रहा।

गुहा–चित्रों की परम्परा के पश्चात् ताड़पत्रीय पोथियों के दृष्टान्त चित्र, ग्रन्थ चित्र, काष्ठफलक और पट–चित्रादि ऐसे विविध चित्र–उदाहरण आज उपलब्ध हैं जिनके आधार पर बौद्धयुगीन चित्रों की परम्परा को सांस्कृतिक पुनरुत्थान–कालीन राजस्थानी और पहाड़ी शैलियों से जोड़ा जा सकता है।

---
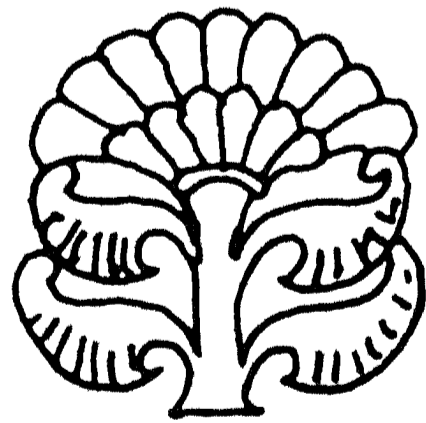
१. वासुदेव शरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, पृ० २७८।

चित्रकला का परवर्ती स्वरूप

प्राचीन काल में दीवारों पर चित्रांकन किये जाने के कारण चित्रकला को वास्तु का अंश माना गया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का 'चित्रसूत्र प्रकरण' एवं शिल्परत्न का 'चित्रलक्षण प्रकरण' इसके साक्षी है। ११वीं शताब्दी के आने तक पाषाणोत्कीर्ण शैलगृही मन्दिरों की मालिका का अन्त हो जाता है और समाप्त होता है उन पाषाण दीवारों पर भित्तिचित्रण की परम्परा। पूर्व मध्यकाल की चित्रकला से ऐसा अनुमान लगता है कि यह परम्परा आगे चलकर पाल, जैन, गुजरात एवं अपभ्रंश शैलियों में व्याप्त हो गयी। १०वीं शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी तक लगभग पाँच सौ वर्षों में चित्रकला की परम्परा को जीवित बनाये रखने का श्रेय इन्हीं शैलियों को जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस युग की चित्रकला को अवनति का समय कहा है किन्तु आज हमारे समक्ष इतनी अधिक सामग्री विद्यमान है जिसको देखकर यह कहना अधिक युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की काव्य, नाटक, कथा आदि अनेक विषयों की कृतियों में चित्रकला सम्बन्धी चर्चाएँ होने लगी थीं। भोज (१००५–१०५४ ई०) का समरांगण सूत्रधार और सोमेश्वर भूपति का मानसोल्लास इस युग की दो ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें अन्य विषयों के अतिरिक्त चित्रकला के विधि–विधानों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इन लक्षण ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला के प्रति लोगों की गहरी अभिरुचि थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि चित्रकला के क्षेत्र में भारतवर्ष की रचनात्मक प्रवृत्ति संसार के अन्य देशों की अपेक्षा सबसे अधिक थी। चित्रकला का इतना लम्बा इतिहास और ऐसा व्यापक क्षेत्र अन्य किसी देश में नहीं पाया जाता।[1]

१६वीं में पूर्वी भारत में पाल शैली का उदय हुआ। इस शैली में बौद्ध ग्रन्थों के अनेक दृष्टान्त–चित्र बने। इस प्रकार की सचित्र पाल पोथियों में प्रज्ञा परिमिता, साधनमाला, पञ्चशिखा तथा करनदेव गुहा, महायान बौद्ध पोथियाँ प्राप्त हैं। तिब्बत के इतिहास के अनुसार तारानाथ ने धीमान तथा वित्तपाल को पाल शैली या पाल चित्रकला का संस्थापक माना है। इस प्रकार के सचित्र ग्रन्थों का निर्माण प्रमुख रूप से १०वीं से १४वीं शताब्दी तक हुआ। ये पोथियाँ अधिकतर ताड़पत्र पर लिखी गयी हैं जिन्हें विधिवत् रूप से चित्रित किया गया है। इस समय काठ की पट्टियों और रेशमी कपड़ों पर भी बहुत–से चित्र बनाये गये हैं। एलोरा ग्रन्थ–चित्रण परम्परा में 'निशीथचूर्णी' नामक ग्रन्थ की ११०० ई० की एक प्रति प्राप्त होती है जो तालपत्र पर अंकित है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के तालपत्र पर चित्रित ग्रन्थों में 'निशीथचूर्णी', 'अंगसूत्र', 'दसवैकालिक लघुवृत्ति', 'त्रिषष्ठिशलाका', 'पुरुष चरित', 'नेमिनाथ चरित', 'कथा सरित्सागर', 'संग्रहणीय सूत्र', 'श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी', 'कल्पसूत्र' आदि प्रमुख हैं।

"१२वीं शती में कागज के आविष्कार के साथ–ही–साथ ग्रन्थों के निर्माण एवं चित्रण में

१. रायकृष्णदास, भारतकलाभवन का सूचीपत्र (निवेदन से)।

उल्लेखनीय प्रगति हुई। कागज पर चित्रित विक्रम संवत् १२७७ का ग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' तथा १२७६ का वाचस्पति मिश्र कृत 'न्याय तात्पर्य टीका' जैसलमेर ग्रन्थ भंडार में संगृहीत हैं। १५वीं शती तक ताड़पत्र एवं कागज दोनों में ही ग्रन्थों को चित्रित करने की प्रथा बनी रही। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस युग की चित्रकला कागज के प्रचलन और निर्माण या उपलब्धि की प्रतीक्षा में नहीं थी बल्कि इसके पूर्व ताड़पत्रों के साथ वस्त्रों पर एक प्रकार का लेप करके तथा बड़े भवनों एवं महलों की दीवारों पर चित्रों के चित्रण की प्रथा थी।''[१]

वैष्णव आन्दोलनों के सक्रिय होने पर ११वीं शताब्दी के बाद अनेक वैष्णव ग्रन्थ भी चित्रित किये गये जिनमें 'दुर्गा सप्तशती', 'बालगोपाल स्तुति', 'गीत गोविन्द' आदि उल्लेखनीय हैं।

१५वीं शती से भारतवर्ष में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की एक व्यापक लहर दिखायी पड़ती है। रामानन्द, कबीर, चैतन्य आदि से भक्ति आन्दोलनों को बल मिला। अनेक हिन्दू एवं मुगल राज्यों की स्थापना हुई और भारतीय कला विदेशी तत्त्वों से प्रभावित होकर एक नये रूप में हमारे सामने आयी। इस समय जिन नवीन शैलियों की उत्पत्ति हुई उनमें राजस्थानी, दक्षिणी, मुगल तथा पहाड़ी शैली प्रमुख हैं। इस शताब्दी में कला के विभिन्न अंगों तथा चित्रकला, संगीत, वास्तु, नृत्य आदि की दिशा में सर्वत्र एक नयी चेतना का प्रस्फुरण दिखायी पड़ता है। इस युग में धर्म और साहित्य का अपूर्व विकास हुआ।

''मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन और नवीन हिन्दू धर्म से प्रेरणा पाकर अपभ्रंश शैली का जो नवीन उत्थान हुआ वही आगे चलकर राजस्थानी चित्रकला के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह शैली अपनी परम्परागत पद्धति की रक्षा करते हुए विभिन्न शैलियों के आकर्षणों एवं प्रभावों को आत्मसात् करते हुए समृद्धि के पथ पर अग्रसर होती गयी।''[२] राय कृष्णदास के मतानुसार राजस्थानी शैली का प्रारम्भ १५वीं शती के उत्तरार्द्ध से १६वीं शती के पूर्वार्द्ध के बीच सम्भवतः १५०० ई० के लगभग असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित होता है। राजस्थानी शैली के चित्रों का मूल स्रोत प्राचीन अपभ्रंश या जैन शैली है तथा उस शैली का आंशिक निर्माण गुजरात और मेवाड़ के क्षेत्र में हुआ। इसी समय मुगल राज्याश्रय में पनपनेवाली कला को मुगल चित्रकला के नाम से अभिहित किया गया।

आरम्भिक राजस्थानी चित्र १६वीं शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। इन चित्रों का मुख्य विषय कृष्णलीला, नायिका भेद तथा रागमाला है। इस युग में क्षेत्रीय शैलियों का विकास प्रारम्भ होता है जिनमें मेवाड़, बूँदी, किशनगढ़, नाथद्वारा, बीकानेर आदि शैलियाँ प्रमुख हैं। प्रत्येक शाखा में अपनी कुछ–न–कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा इन्हें अलग से पहचाना जा सकता है।

भारतवर्ष में मुगल सल्तनत की स्थापना के पश्चात् उनके साथ आयी फारसी कला और भारतीय कला के सम्मिश्रण से एक नयी शैली का जन्म होता है जिसे मुगल शैली के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से भारत भूमि पर मुगल शैली का प्रादुर्भाव हुआ। मुगल शैली का यथार्थवादी अंकन तथा सुन्दर नक्काशी इसकी प्रमुख विशेषता है। 'राजस्थानी एवं मुगल शैली का निर्माण एवं विकास प्रायः एक ही समय हुआ किन्तु दोनों शैलियों की अपनी मौलिक विभिन्नताएँ हैं। जहाँ राजस्थानी चित्रकला धार्मिक, भक्ति और श्रृंगारी भावों से ओत–प्रोत है वहीं मुगल चित्रकला दरबारी वैभव से आच्छादित अलंकरण प्रधान है। एक की आत्मा भारतीय है तो दूसरे में मुस्लिम संस्कृति का प्राचुर्य है। एक कल्पना प्रचुर है तो दूसरी यथार्थवादी। एक भारतीय काव्यों के गूढ़ अर्थ को अभिव्यक्ति

---

१. डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल, भारतीय चित्रकला और काव्य, पृ० ४६।

२. वही, पृ० १२।

देने वाली है तो दूसरी मुगल इतिहास एवं उसकी संस्कृति का विवरण प्रस्तुत करती है।'[१]

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंजाब और हिमालय की सुरम्य घाटियों में प्रस्फुटित होनेवाली पहाड़ी चित्रकला राजस्थानी एवं मुगल शैली की समस्त विशिष्टताओं को लेकर विस्तृत आयामों में पल्लवित एवं पुष्पित हुई। इन कलाकृतियों में पहाड़ी वैभव, उसका सौन्दर्य सौकुमार्य तथा वहाँ का चिरयौवन मुखरित हो उठा। धर्म और संस्कृति को पोषित करनेवाले अभिव्यक्ति के तीनों माध्यम आपसी तालमेल के साथ जिस प्रकार आगे बढ़े वह एक अपूर्व उपलब्धि है। पहाड़ी चित्रकला के कलाकारों ने प्राचीन एवं तत्कालीन साहित्य एवं संगीत का रंग और रेखाओं के माध्यम से सर्वथा नये दृष्टिकोण विकसित किये। पहाड़ी चित्रण में धर्म की प्रधानता है जो रीतिकालीन एवं भक्तिकालीन हिन्दी कवियों के काव्यों से अनुप्राणित है। इस चित्रशैली में यद्यपि शृंगारी भाव अधिक मुखरित हुआ है फिर भी भारतीय मर्यादा एवं परम्परा का सर्वत्र निर्वाह दिखायी पड़ता है। पहाड़ी चित्रकला में अनेक उपशैलियाँ दृष्टिगत होती हैं जिनमें बसोहली, काँगड़ा, जम्मू, चम्बा, गुलेर, मण्डी, टेहरी–गढ़वाल आदि प्रमुख हैं।

जिस समय अंग्रेजों ने भारत में पदार्पण किया उस समय मुगल कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। जहाँगीर के शासनकाल में चित्रकला ने अपनी पूर्णता हासिल कर ली थी। स्वयं सम्राट् जहाँगीर चित्रकला का अद्‌भुत पारखी एवं चित्रप्रेमी था। इंग्लैण्ड के राजदूत सर टामसरो ने बादशाह को एक चित्र भेंट किया था। कहने का तात्पर्य यह कि अंग्रेजों के आगमन के साथ ही यूरोपीय चित्रकला का आगमन भी भारत भूमि पर हुआ। इस तरह यूरोपीय चित्रकला की तकनीक का हल्का प्रभाव तत्कालीन मुगल चित्रकला पर दृष्टिगत होने लगा। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह का अण्डाकार वृत्त में बना चित्र शुद्ध यूरोपीय तकनीक पर आधारित है।

औरंगजेब को सभी प्रकार की कलाओं से गहरी अरुचि थी। उसका कहना था कि कला को इतना गाड़ दो कि वह फिर से निकल न पाये। राज्याश्रय के अभाव में कलाकारों ने दिल्ली दरबार को छोड़कर प्रान्तीय शासकों के दरबार में शरण ली। मुगल चित्रकला का पतन मुगल शासन के ह्रास के साथ ही हो गया।

चित्रकला की प्रान्तीय शैलियों का विकास नवाबों और राजाओं के राज्याश्रय एवं प्रोत्साहन के कारण हुआ तथा सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ चित्रकारिता की अनेक कृतियाँ बनीं। लेकिन यह कलाधारा भी बहुत दूर तक न जा सकी और अंग्रेजों के 'फूट डालो एवं राज्य करो' की नीति के कारण राज्यों में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ा और वे एक–दूसरे के ऊपर आक्रमण एवं प्रत्याक्रमण में संलग्न हो गये। फलस्वरूप वहाँ से भी कलाकार निराश्रित हो इधर–उधर भटकने लगे। उनकी कृतियाँ गली–बाजारों की कृतियाँ बनकर रह गयीं। अब कलाकार मुर्शिदाबाद, लखनऊ, हैदराबाद, पटना एवं बनारस आदि में आकर काम की तलाश में जुट गये, जहाँ वे स्थानीय रईसों एवं अंग्रेज अधिकारियों की कुत्सित विचारधारा के अनुसार चित्र बनाने को बाध्य हुए। अंग्रेज अधिकारियों ने चित्रकारों से यहाँ के सामाजिक जन–जीवन के उन पहलुओं के चित्र बनवाने प्रारम्भ किये जिनसे उनका अथवा उनके देश के निवासियों का सस्ता मनोरंजन हो सके। इस प्रकार भारतीय चित्रकला का जो अधःपतन इस काल में दिखायी पड़ता है उसे कम्पनी शैली के नाम से जाना जाता है। इस चित्र शैली में यूरोपीय चित्रकला की छाया–प्रकाश, पर्सपेक्टिव आदि तत्त्वों का समावेश हुआ। कुछ विद्वानों ने कम्पनी शैली को स्थानीय शहरों के नाम से जोड़कर पटना शैली, लखनऊ शैली आदि नामों से भी सम्बोधित किया है।

---

३. डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल, भारतीय चित्रकला और काव्य, पृ० २३।

१८वीं और १६वीं शताब्दी के मध्य सम्पूर्ण देश की राजकीय एवं प्रशासकीय सत्ता जान कम्पनी और तत्पश्चात् अंग्रेजी सरकार के हाथ में आ गयी और सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के अधीन हो गया।

अंग्रेजों ने अंग्रेजी संस्कृति एवं कला का लाभ प्रदान करने हेतु देश के प्रमुख शहरों में आर्ट कॉलेज खोले। इनमें कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर और लखनऊ के कला महाविद्यालय प्रमुख हैं। अंग्रेज शासकों ने विक्टोरियाकालीन विदेशी चित्रकला को भारत में लोकप्रिय करने की अथक चेष्टा की किन्तु यहाँ की परम्परागत कला ने इसे उभरने का अवसर न दिया। भारतवर्ष में अनेक विदेशी चित्रकारों के आने से और तैलचित्रों की उत्तरोत्तर बढ़ती माँग के कारण १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में राजा रवि वर्मा ने यूरोपियन कला–पद्धति के अनुरूप भारतीय संस्कृति में चित्रांकन करके चित्रकला की धारा को नवज्योति प्रदान की। राजा रवि वर्मा ने हिन्दू धर्म की कथाओं तथा पौराणिक प्रसंगों का चित्रण तैल माध्यम से करके समकालीन जनजीवन में कला के प्रति रुचि जागृत की। इधर बंगाल में भी उनकी कलात्मक प्रतिभा और राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव समसामयिक कलाकारों पर भी पड़ा। भारतीय कला और संस्कृति के जागरण की ओर जब भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट हो रहा था उसी उसी समय गवर्नमेण्ट आर्ट्स कालेज, कलकत्ता के प्रिंसिपल प्रो० ई० वी० हैवल के सहयोग से एक नवीन कला आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसके अग्रगण्य पथ–प्रदर्शक अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय परम्परागत कला–धारा का अनुसरण कर कला में एक नवीन चेतना का सूत्रपात किया। इस कला आन्दोलन को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का बल प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण देश में उसका स्वागत हुआ। बंगाल में आधुनिक चित्रकला के जिस नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उसे भारतीय चित्रकला का पुनर्जागरण कहकर अभिहित किया गया। अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने प्रयत्नों से विद्यार्थियों का छोटा–सा दल बना लिया जिसमें नन्दलाल बोस, क्षितीन्द्रनाथ मजुमदार, असितकुमार हाल्दार, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, हकीम मुहम्मद खान, वेंकटप्पा, शैलेन्द्र डे आदि थे। इन कलाकारों ने भारतीय परम्परागत कला के नवीन आदर्शों को लेकर भारतीय चित्रकला की समृद्धि में विशेष योगदान दिया। इस आन्दोलन का प्रभाव प्रायः सम्पूर्ण भारत के तत्कालीन चित्रकारों पर पड़ा और कुछ विरोधों के बावजूद प्रायः समस्त भारत में भारतीय विषयों को दर्शित करने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गयी। अवनीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा प्रतिष्ठित और उनकी शिष्य–परम्परा द्वारा प्रवर्तित चित्रकला की धारा ने सम्पूर्ण देश के कलाकारों में नयी चेतना का उन्मेष भरा। इसी समय अवनी बाबू के प्रयत्नों से गगनेन्द्रनाथ टैगोर ने १६०७ ई० में इण्डियन सोसाइटी आफ ओरियण्टल आर्ट की स्थापना की जिसने भारतीय चित्रकला की परम्परागत शैली में नवीन प्रयोगों द्वारा उसे सुसमृद्ध किया। इस सोसाइटी के प्रमुख अध्यापक नन्दलाल बोस के शान्तिनिकेतन चले जाने के बाद क्षितीन्द्रनाथ मजुमदार उस पद पर प्रतिष्ठित हुए और इस प्रकार अवनी बाबू के शिष्य और उसके बाद उनके प्रशिष्यों ने इस कला–धारा को बनाये रखते हुए सम्पूर्ण भारतवर्ष में चित्रकला का प्रचार और प्रसार किया। इसी समय बम्बई के जे० जे० स्कूल आफ आर्ट्स के विद्यार्थी पाश्चात्य चित्रकला शैली का अभ्यास कर रहे थे। उनके प्रारम्भिक अभ्यास में तो केवल प्राकृतिक दृश्य और आकृति चित्र ही रेखाओं द्वारा निर्मित होते थे, किन्तु बाद में उनका वह अभ्यास प्रयोगवादी यथार्थ में परिणत हो गया। धीरे–धीरे यूरोप के विभिन्न वादों के आधार पर यहाँ के कला–रूपों में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहा। लेकिन इस धारा का अधिग्रहण नकलचियों की जमात ने अधिग्रहण कर लिया और आज स्थिति यह है कि भारतीय चित्रकला का कोई भविष्य नहीं रह गया है। आज पुनः आवश्यकता है कि हम अपनी परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं और संस्कृति का पुनरावलोकन करें और तदनुसार उनसे प्रेरित होकर चित्रण कार्य करें।

संदर्भ ग्रन्थ

अग्रवाल, डॉ० गिरीराजकिशोर, : कला और कलम मंदिर, अशोक प्रकाशन, अलीगढ़। १९८९–९०

: कला सौन्दर्य और समीक्षाशास्त्र, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़।

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण, : भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी। १९६६, १९७७

अग्रवाल, डॉ० श्यामबिहारी, : रूपशिल्प, ज्वाला प्रसाद विद्यासागर, इलाहाबाद, १९७६।

: भारतीय चित्रकला का इतिहास, रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद १९९६

: भारतीय चित्रकला और काव्य, किताब महल, इलाहाबाद, १९९६

अजयमित्र शास्त्री, : अजंता, प्रथम संस्करण : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया १९८०

अमलानन्द घोष, : अजन्ता म्यूरल्स, नई दिल्ली। १९६७

अविनाश बहादुर वर्मा, : भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली (तृतीय संस्करण)। १९७७

'अग्निपुराणम् : अग्निपुराणम् महेश अनुसंधान शोध संस्थान, वाराणसी। १९८७

आचार्य चतुरसेन, : भारतीय संस्कृति का इतिहास रस्तोगी एण्ड कम्पनी, (प्रथम संस्करण), मेरठ। १९५८

आचार्य, जगदीश विद्यार्थी, : वाल्मीकि रामायण, प्रथमावृत्ति, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली। १९७०

आचार्य, श्री रामकुमार, : कर्पूर मंजरी, चौखम्बा विद्या–भवन, चौक, बनारस। १९५५

आनन्द स्वरूप : उत्तर रामचरितम्, प्रथम संस्करण मोतीलाल बनारसीदास। १९६३

आचार्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १९७०

आचार्य, विश्वेश्वर, : मम्मट–काव्य प्रकाश–टीका, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी। १९६०

ई० कुमारिल स्वामी, : भारतीय कला और कलाकार, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली १९८६

उपाध्याय, आर० एन० : वात्स्यायन–कामसूत्र । १९६४

उपाध्याय, वासुदेव, : प्राचीन भारतीय मूर्ति–विज्ञान, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण (वि० स० २०२६)

उपाध्याय, बलदेव, : श्री हर्ष–नागानन्दम्, यौ० सं० सी०, वाराणसी। १९३१

उब्बर महीधर, : यजुर्वेद संहिता–भाष्य, महेश अनुसंधान शोध संस्थान, वाराणसी। १९८७

कपिला वात्स्यायन, : संस्कृत साहित्य और सौंदर्य चेतना, प्रथम संस्करण, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, देहली, १९८०

काले, एम० आर० (संपा०), : कालिदास–मेघदूतम–मल्लिनाथ टीका, बम्बई। १९२६

किंजवडेकर, रामचन्द्र शास्त्री(संपा०) : व्यासकृत श्री महाभारतम्, ओरियण्टल बुक्स रीप्रिंट कॉरपोरेशन, नई दिल्ली। १९७९

कौसल्यायन, आनन्द : जातक माला, आर्यशूर कृत, संस्कृत भवन, बिहार। १९५२

खरे, माहेश्वरी दयाल, : बाघ की गुफाएँ। १९७३

गैरोला, वाचस्पति, : भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद। १९६३
गैरोला, वाचस्पति, : कौटिल्य अर्थशास्त्र, चौ० वि० भ० वाराणसी। १९८८
घनश्याम, : राजशेखर–बिद्धशाल भंजिका–टीका, संपादक जतीन्द्र विमल चौधरी, कलकत्ता, ओ० सी० कलकत्ता। १९४३
घोष, मनमोहन, : भरत–नाट्यशास्त्र–टीका, कलकत्ता। १९६७
चक्रवर्ती, विश्वनाथ, : रूपगोस्वामी–उज्जवल नीलमणि टीका, निर्णय सागर प्रेस, १९१४।
चतुर्वेदी, कालिदास, : कालिदास ग्रन्थावली, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, २०००।
चतुर्वेदी, गोपाल मधुकर, : भारतीय चित्रकला, (प्रथम संस्करण) साहित्य संगम, इलाहाबाद। १९८९
जगन्नाथ, : रस गंगाधर, केदारनाथ ओझा (व्या०), संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी। १९८७
जयदेव, : गीतगोविन्द महाकाव्य, संजीवनी–पदद्योत, निकाजयन्ती व्याख्या तथा आर्येद्र शर्मा संपा०, संस्कृत परिषद् ग्रन्थावली – १९, वाराणसी। १९६९
जिनसेनाचार्य, : हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी। १९६२
जैनक्षेमकर मुनि, : विक्रमचरित, हीरालाल हंसराज प्रकाशन, जामनगर।
झा, अच्युतानन्द, : वराहमिहिर बृहत्संहिता–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १९५९
ठाकुर अवनीन्द्रनाथ, : भारत शिल्प के षडङ्ग, (अनु०), नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद। १९५९
ठाकुर, स्व० जयदेव सिंह, : भारतीय संगीत का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।
डे० एस० के० (संपा०) : राजानक कुन्तक–वक्रोक्ति जीवितम् ओरियण्टल सी०, कलकत्ता। १९२३
ढुण्डीराज : विशाखदत्त–मुद्राराक्षस–टीका, बम्बई। १९२८
तिवारी, हंसकुमार, प्र० सं० : कला, प्रकाशक युगान्तर साहित्य मंदिर, भागलपुर सिटी, बिहार, प्रथम संस्करण। १९६४
तिवारी, रघुनन्दन प्रसाद, : भारतीय चित्रकला, भारतीय पब्लिशिंग हाउस,सुनारपुरा, वाराणसी। १९७३
त्रिपाठी, कैलाशपति, : विक्रमभट्ट–नलचम्पू। १९६७
त्रिपाठी, श्री रामप्रताप शास्त्री : भवभूति ग्रन्थावली, लोक भारती, इलाहाबाद। १९७३
त्रिपाठी, डॉ० गयाचरण, : प्राचीन भारत की कला, प्रकाशक साहित्य निकेतन, कानपुर। १९७१
त्रिपाठी, कैलाश चरण, : त्रिविक्रमभट्ट–नलचम्पू। १९६७
दण्डी, : अवन्ति सुन्दरी कथा, दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला–३, मद्रास। १९२४
दिनकर, रामधारी सिंह, : संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल प्रकाशन, पटना। १९७७
दास, रायकृष्ण, : भारत की चित्रकला, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। सम्वत् २०२३ वि०
दिव्यावदान, : बौद्ध सं० ग्रन्थावली–२०, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा। १९५९
द्विवेदी, पारसनाथ, : मम्मट–काव्यप्रकाश, तृतीय संस्करण, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

१६७८
द्विवेदी, हजारी प्रसाद, : कालिदास की लालित्य योजना, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी। १६६५
धनपाल, : तिलकमंजरी, श्री विजय सूरीश्वर ज्ञान मंदिर, सौराष्ट्र। १६५७
नगेन्द्र (संपा०), : वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १६५८
पाठक, जगन्नाथ (अनु०), : दामोदर गुप्त–कुट्टनीमत काव्य, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद। १६६१
पाठक जगन्नाथ : बाणभट्ट–हर्षचरित–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १६६४
पण्डित श्री ताराचरण भट्टाचार्या, तथा पण्डित रामतेज (हिन्दी व्याख्या), : दण्डी दशकुमार चरित, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी। १६४८
पाण्डुरंग, काशीनाथ, : बाणभट्ट कृत कादम्बरी, 'भानु चन्द्र' टीका सहित, नि० सा० प्रे०, बम्बई। १६४०
पाण्डेय, कान्तिचन्द्र, : स्वतंत्र कला शास्त्र, भाग–१, चौ० संस्कृत सीरीज, वाराणसी १६६७
: स्वतंत्र कला शास्त्र, भाग–२, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। १६७८
पाण्डेय, जनार्दन शास्त्री, (अनु०), : ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी। १६६४
पाण्डेय, परमेश्वरदीन, (व्या०) : भट्टनारायण वेणीसंहार नाटकम्, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी। १६८८
पाण्डेय, प्रद्युम्न, : अमरुक–अमरूक शतक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी,। १६६६
पारस्कर, : गृह्यसूत्रम्, सनातन धर्म, वाराणसी। १६०४
पोद्दार, हनुमान प्रसाद तथा गोस्वामी,चिम्मनलाल (संपा०), : बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्, मैत्रेयोपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर। १६४६
स्कंदपुराण अंक, कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर। १६५१
बृहस्पति स्मृति, : गा० ओ० सी०, बड़ौदा। १६३३
बिल्हण, : कर्णसुन्दरी, पं० दुर्गाप्रसाद (संपा०), नि० सा० प्रे०, बम्बई। १६८५
भोजदेव, : समराङ्गण सूत्रधार, गा० ओ० सी०, बड़ौदा। १६२५
भोजदेव, : सरस्वती कंठाभरण, भाग–१, त्रिवेन्द्रम, राजकीय मुद्रणालय (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली–११७) १६३५
मत्स्य पुराण, : महेश अनुसंधान–शोध संस्थान, वाराणसी।१६८७
मल्लिनाथ, : कालिदास कुमारसंभव टीका, बम्बई। १६१६
कालिदास ऋतुसंहार टीका, गजेन्द्र गड़कर, बम्बई।
मालवीय बद्रीनाथ, : श्री विष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग। १६६०
मिश्र, केदारनाथ : राजशेखर काव्य मीमांसा, टीका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। १६८७
मिश्र, केशव, : तर्क भाषा, चौ० सुरभारती ग्रन्थमाला, वाराणसी। १६५२

मित्र, देवला,	:	अजन्ता, षष्ठ संस्करण, नई दिल्ली। १६६६
मिश्र, ब्रह्मशंकर,	:	शुक्राचार्य–शुक्रनीति टीका, चौ० सं० सी०, वाराणसी। १६६८
मिश्र, रामचन्द्र,	:	श्री हर्ष–प्रियदर्शिका–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १६५५
	:	दण्डी का व्यादर्श–टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १६८४
	:	भवभूति–महावीरचरितम्–टीका, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी। १६८७
मिश्र, रामजी, (अनु०),	:	भासनाटकचक्रम्, भाग–१–२, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १६८२
मिश्र, विद्यानिवास,	:	अमरूक– अमरूकशतक सं० १, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १६६५
मुकर्जी, राधाकमल,	:	भारत की संस्कृति और कला, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। मुद्रक हाफटोन कम्पनी, दिल्ली १६५६
मेध, रमेश कुन्तल,	:	अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, प्र० सं० दि मैकमिलन कम्पनी, नई दिल्ली–१६७७
मिश्र, यतीकृष्ण तथा त्रिपाठी, रामनाथ	:	प्रबोध चन्द्रोदय, चौ० अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी। १६७७
रामचन्द्र–गुणचन्द्र,		नाट्यदर्पण, व्याख्या डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। १६२६
राय, कृष्णदास,	:	भारत की मूर्तिकला, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। १६६२
राय, गंगा सागर,	:	बालरामायणम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, प्र० सं० १६८४।
रेग्मी, शेषराजशर्मा,	:	विश्वनाथ–साहित्यदर्पण–टीका, चौ० सं० भ०, वाराणसी। १६८०
वामन,	:	काव्यलंकार सूत्रवृत्ति, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १६७१
विद्यारण्य मुनि,	:	पंचदशी, संशो० नारायण राम आचार्य रतन एण्ड कं०, दिल्ली। १६८८
विश्वनाथ,	:	साहित्य दर्पण, पाण्डुरंगजावजी, बम्बई। १६३१
विष्णुधर्मोत्तर पुराण	:	चित्रसूत्रम्, श्री तारिणीश झा (अनु०) सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। १६७२
	:	महेश अनुसंधान–शोध संस्थान, वाराणसी। १६८७
शर्मा, शिवदत्त, (संपा०)	:	क्षेमन्द्र–बृहत्कथामंजरी, नि० सा० प्रे० बम्बई। १६०१
शामाशास्त्री, आर०	:	अभिलाषितार्थ चिन्तामणि (मानसोल्लास, भाग–१, प्रकारण ३ मैसूर संस्करण। १६२६
	:	कौटिल्य–अर्थशास्त्र, रघुवीर प्रिटिंग प्रेस, मैसूर। १६५६
शर्मा, बटुकनाथ,	:	भरत–नाट्यशास्त्र, बनारस। १६२६
शर्मा, हरद्वारीलाल	:	कला दर्शन, साहित्य संगम–इलाहाबाद। १६८८
शास्त्री, गणपति,	:	आर्य मंजु श्रीमूलकल्प–टीका, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज। १६२५
शास्त्री, गोविन्ददेव, (संपा०)	:	राजशेखर–बालरामायण, वाराणसी। १६२६
शास्त्री, रामचन्द्रदास, (व्या०),	:	अश्वघोष– बुद्धचरितम्, चौ० वि० भ० वाराणसी। १६५४
शास्त्री, शंकरदेव,	:	सुबन्धु–वासवदत्ता–टीका, चौ० वि० भ० वाराणसी। १६६३
शास्त्री, शान्तिभिक्षु	:	ललित विस्तर, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ। १६८४

शास्त्री, हरगोविन्द, (व्या०),	:	माघ शिशुपालवधम् 'सर्वङ्कषा' मल्लिनाथ टीका, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १९७५
शास्त्री, हरप्रसाद (संपा०)	:	अश्वघोष, सौन्दरानन्द, बिब्लियाथिक इंडिका, सीरीज, कलकत्ता१९१०
शुक्ल, टी० आर०,	:	भारतीय संगीत की वास्तविक रूपरेखा, प्रथम संस्करण, प्रकाश बुक डिपो, बरेली। १९६४
शुक्ल, रामलखन,	:	भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कला, प्रथम संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली। १९७९
शुक्ल, रामचन्द्र,	:	चित्रकला का रसास्वादन, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी। १९६२
शोभा सत्यदेव (संपा०)	:	भर्तृहरि नीतिशतकम्, वि० वि० प्रकाशन, वाराणसी। १९८३
श्री कुमार,	:	शिल्परत्न, त्रिवेन्द्रम, स० सी०। १९२२
श्री नारायण,	:	पाणिनी–अष्टाध्यायी, चौ० ओ०, वाराणसी। १९७७
सूरि श्रीमत्, सोमदेव	:	यशस्तिलक चम्पू (अनु०) सुन्दरलाल शास्त्री, महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी। १९६०
श्री राजशेखर सूरि	:	प्रबन्धकोश, सिन्धी जैन ज्ञानपीठ, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, ग्रन्थांक–६, सम्पादक जिन विजय, प्रथम भाग।
श्रीवास्तव, सुरेशचन्द्र, (व्या०)	:	पातञ्जलि : योगसूत्र व्यासभाष्य, वाल्यूम–१, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली। १९७१
श्री सदानन्द,	:	वेदान्तसार, चौ० वि० भ०, वाराणसी। १९६५
श्री हर्ष,	:	नैषधीय चरितम् ' जीवातु' 'मणि प्रभा' सहित टीका मल्लिनाथ, संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी। १९४९
सायण,	:	तैत्तिरीय आरण्यक–भाष्य, आनन्दाश्रम सी०, पूना। १८८७
	:	अर्थर्ववेद भाष्य। १८९८
सत्यकेतु विद्यालंकार,	:	प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग प्रकाशक सरस्वती सदन, मसूरी, (द्वितीय संस्करण) १९७९
सत्यकेतु विद्यालंकार,	:	ऋग्वेद–भाष्य, वैदिक संशोधन मंडल, पूना। १९४६
सत्यकेतु विद्यालंकार,	:	ऐतरेय ब्राम्हण–भाष्य, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी। १९८७
सांकृत्यायन,	:	विनयपिटक, भाग–टीका, महाबोध सभा, बनारस। १९३५
सिंह, मदनजीत,	:	दि केव पेंटिंग्स आफ अजन्ता, लंदन। १९६५
सूरि, अमरचन्द्र	:	बालभारतम्, काव्यमाला सी०–४५, नि० सा० प्रे०, बम्बई।
सोड्ढल	:	उदयसुन्दरी कथा, गा० ओ० सी०, बड़ौदा। १९२०
सोमदेव,	:	कथासरित् सागर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई। १९१५
हरिहर,	:	पारस्कर गृह्यसूत्र–भाष्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी। १९८४
हेमचन्द्र,	:	काव्यनुशासन, काव्यमाला–७०, (संपा०) म० म० प० शिवदत्त एवं काशीनाथ पाण्डुरंग, तुकाराम जावजी, बम्बई। १९०१
हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव	:	संगीत निबन्ध संग्रह, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।

Abanindranath Tagore,	:	Indian Artistic Anatomy, Indian Society of Oriental Art, Calcutta-16. 1968
Percy Brown,	:	Indian Painting, Harnam Publications Ansari Road, New Delhi. 1982
R.C. Majumdar, K.M. Munshi,	:	The Vedic Age, Volume 1, George Allens unwin LTD, London. 1951
B.N. Goswamy and A.L. Hadmen	:	The Chitralaksana of Nagnjit, Dallapiccola: An early Document of Indian Art.
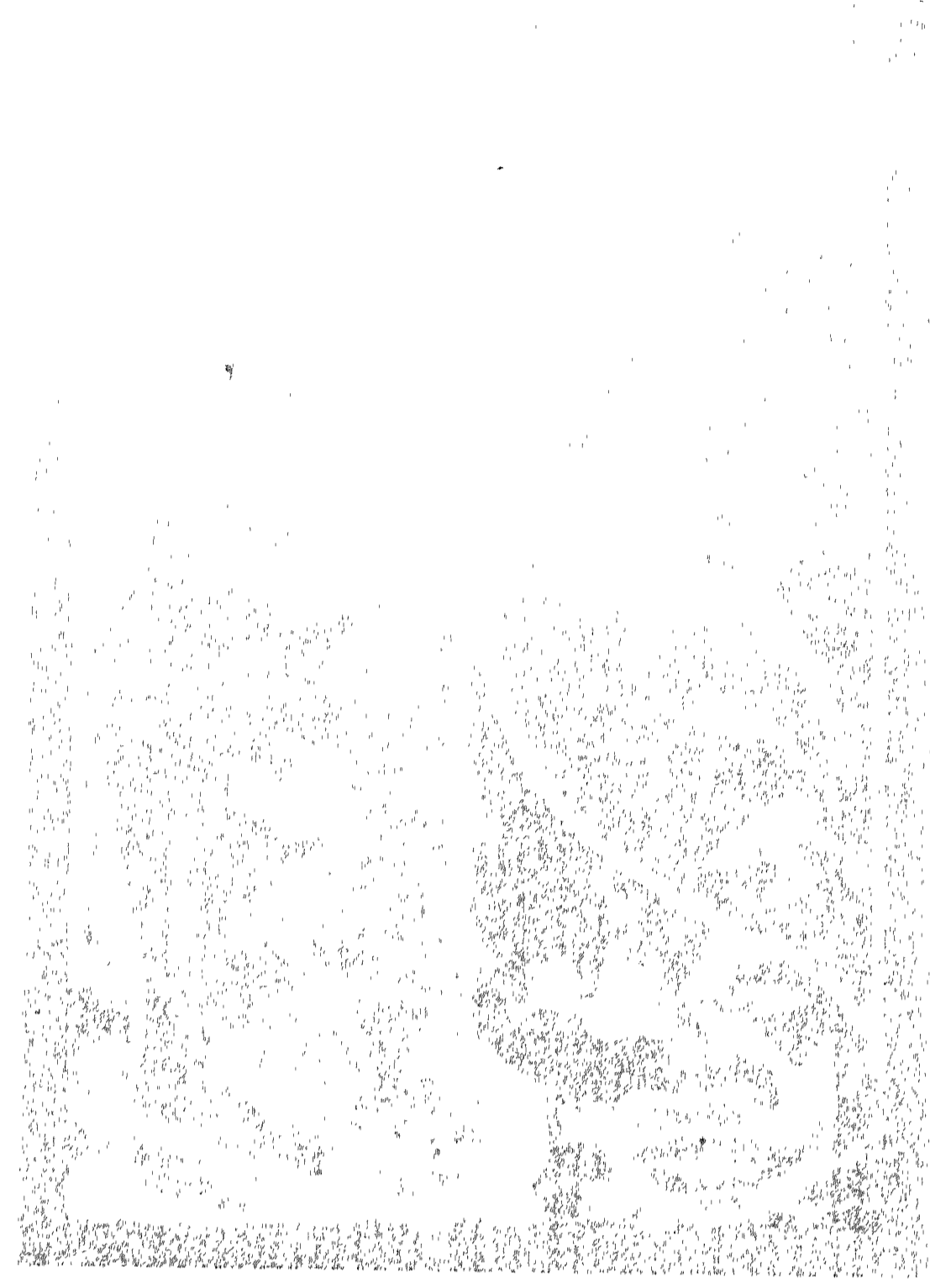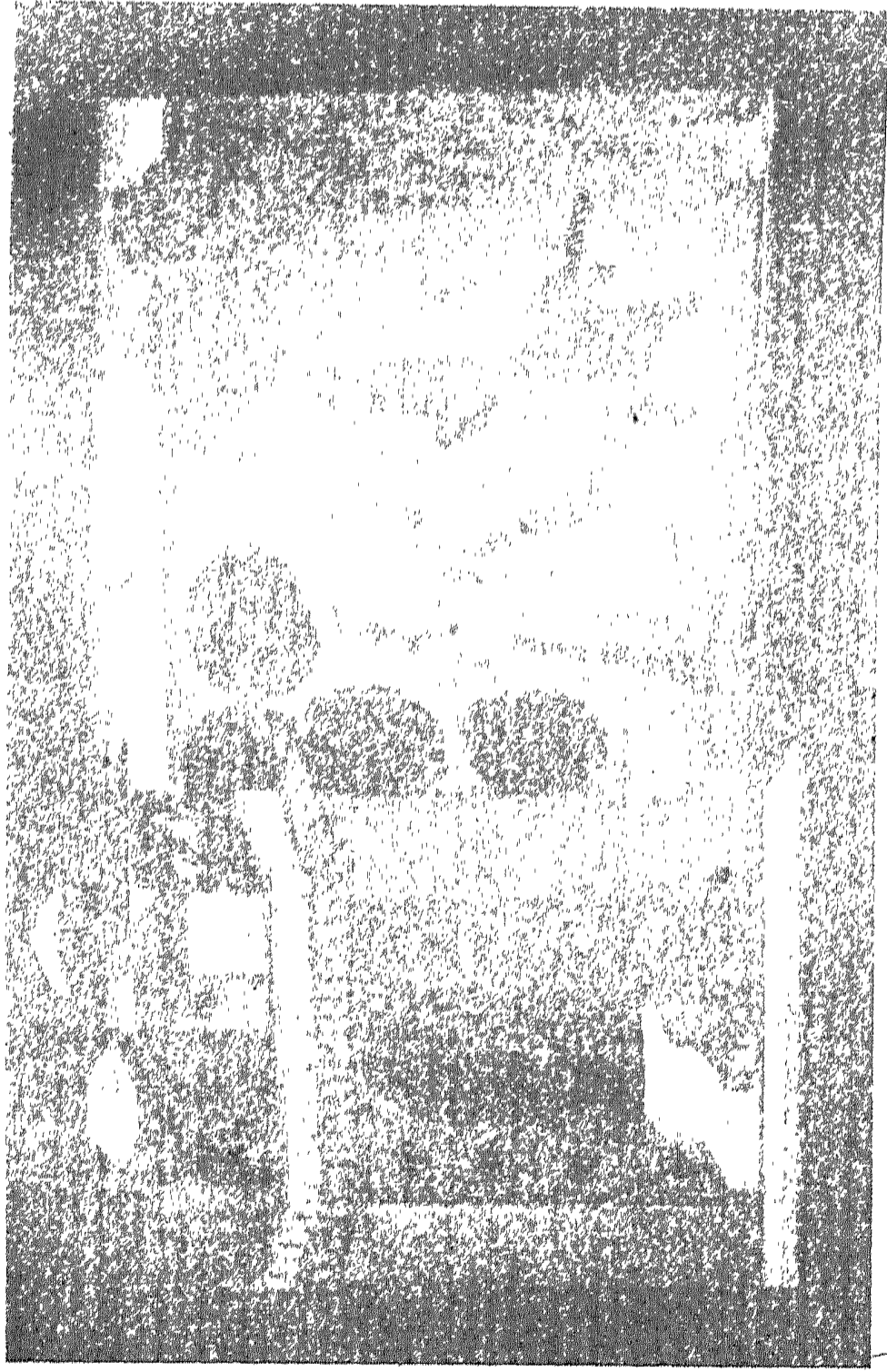
भानु दत्त कृत रस मंजरी का एक चित्र
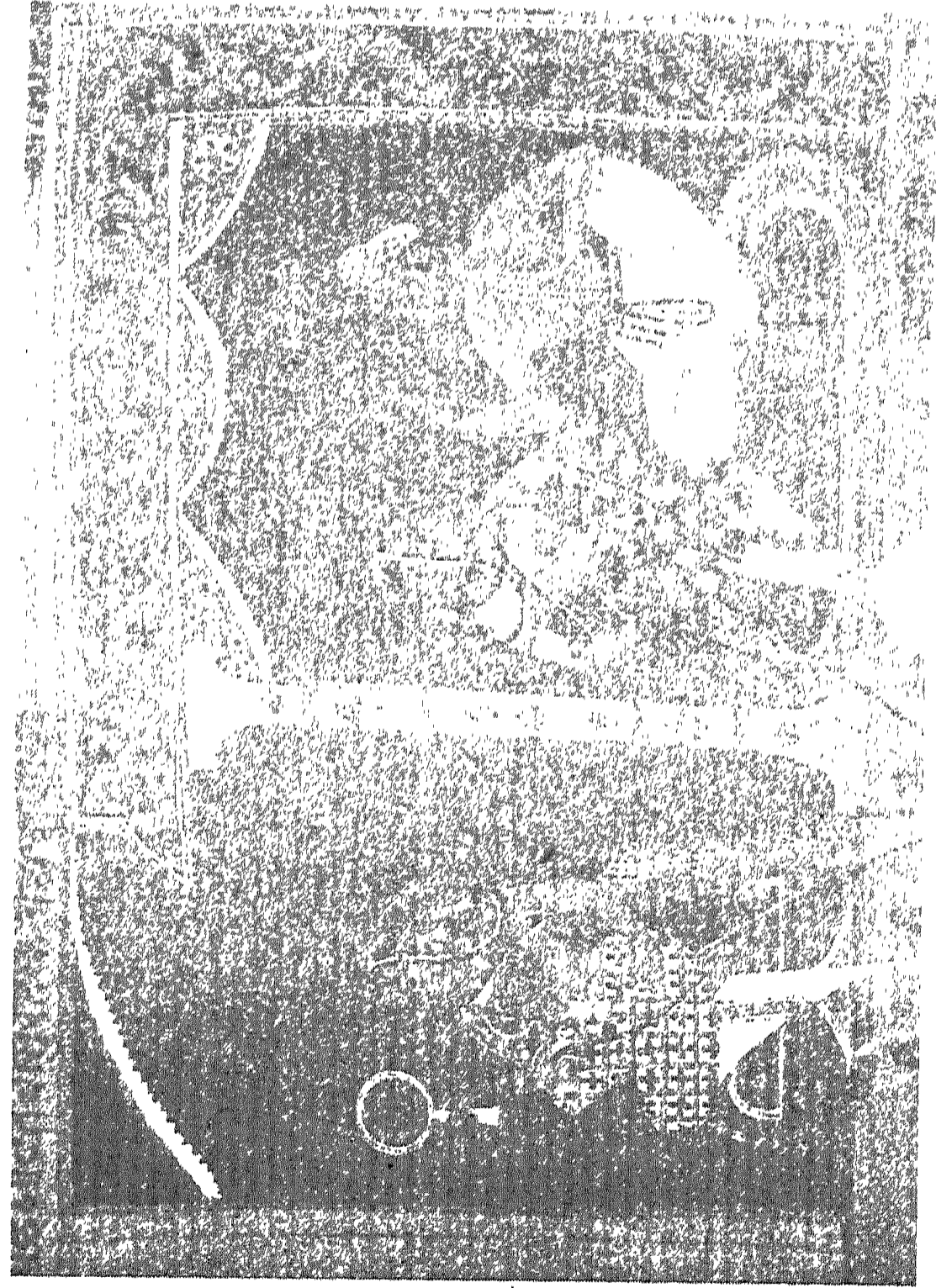
विल्हण और चम्पावती, चौर पंचाशिका — एन. सी. मेहता संग्रह, संस्कृति भवन अहमदाबाद १५५०-६०